Socio-Economic Aspects as Reflected in the Commentaries of Manusmrit
(मनुस्मृति की टीकाओं में प्रतिबिम्बित सामाजिक आर्थिक स्थिति)

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोधप्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता

पल्लवी श्रीवास्तव

निर्देशक

डा0 हर्ष कुमार

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2001

विषयानुक्रमणिका

आभार

प्रस्तुत अध्ययन के इस अकिचन प्रस्तुतीकरण मे अनेक श्रद्धेय विद्वज्जनों व गुरूवरो का सहयोगात्मक एव आर्शीवादात्मक योगदान रहा है, जिसे विस्मृत करना बहुत बडी भूल होगी। सर्वप्रथम मै अपने शोध सम्प्रेरेक माननीय डा0 हर्ष कुमार के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनके अमूल्य सुझावों एवं निर्देशन से यह लेखन कार्य सभव हो सका। समय-समय पर निरलस होकर उन्होंने मुझे जो वैदुष्यपूर्ण सुझाव एव प्रेरणा दी उसके प्रति शब्दो में आभार व्यक्त करना संभव नहीं है। मै अपने सभी गुरुजनो की आभारी हूँ, विशेष रूप से प्रो0 बी0 एन0 एस0 यादव, प्रो0 बी0डी0 मिश्र, प्रो0 गीता देवी जी, डा0 आर0पी0 त्रिपाठी, श्री ओ0पी0 श्रीवास्तव, प्रो0 ओम प्रकाश जी के प्रति हार्दिक रूप से विनयवत हूँ, जिनकी सतत प्रेरणा और सहयोगात्मक सुझावों ने पग-पग पर मार्गदर्शन किया। विभाग के अन्य गुरुजनों जिनके आर्शीवाद से यह कार्य पूर्ण हो सका है ।

मै अपने पूज्यनीय पिता जी श्री हरि शकर श्रीवास्तव, माता जी श्रीमती निर्मला देवी, सासू मॉ श्रीमती आर0डी0 शर्मा, भाई दिवाकर एव पुत्र शिखर मोहन की अत्यन्त अभारी हू। जिन्होने प्रारम्भ से लेकर अंत तक निरन्तर मुझे प्रेरित किया और अपने सहयोग एवं प्रोत्साहन द्वारा यह शोध कार्य पूर्ण करने में अभूतपूर्व योगदान दिया है। मैं अपने पति श्री शैलेन्द्र मोहन की हार्दिक आभारी हूँ जिन्होने मेरी इस आकाक्षा को पूर्ण करने में अपना अमूल्य सहयोग दिया है।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पुस्तकालायध्यक्ष तथा प्राचीन इतिहास, संस्कृति एव पुरातत्व विभाग के पुस्तकालाय सहायक श्री सतीश चन्द्र राय के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनके सहयोग से मुझे पुस्तकालय की अमूल्य सुविधा प्राप्त हुई। इस के साथ मै उन सभी विद्वज्जनों की ऋणी हूँ जिनके द्वारा उदभावित तथ्यों को मैंने प्रस्तुत अध्ययन में उपयोग किया है और जिसका निर्देशपाद टिप्पणियों में स्थान-स्थान पर कर दिया गया है।

गगानाथ शोध सस्थान के केन्द्रीय पुस्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा बरेली पुस्तकालय, विश्वविद्यालय बरेली पुस्तकालयो से मुझे ग्रंथो के पर्यालोचन मे जो सहयोग मिला उसके लिए भी मै कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन छ: अध्यायों मे निबद्ध है जिनमें क्रमश प्रस्तावना, सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, उपसहार विवेचित है, जिसमें मनुस्मृति की टीकाओं मे प्रतिबिम्बित सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक विवरणों को प्रस्तुत करते समय प्रसगवश मनुस्मृति से साम्यता व विभिन्नता भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है । इस कार्य मे पूर्वमध्यकालीन परिस्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए तत्कालीन अन्य ग्रन्थों का भी सहयोग लिया गया है।

अपने अल्पज्ञान एवं अल्प सामर्थ्य से प्रणीत प्रस्तुत शोध प्रबंध में विषयगत व शैलीगत त्रुटियों के लिए मै क्षमाप्रार्थी हूँ ।

विनीत

Pallavi Srivastava

पल्लवी श्रीवास्तव

प्रस्तावना

वर्तमान राजनैतिक परिवेश में मनुस्मृति का उल्लेख जब भी किया जाता है, तब वह पुरातन, रूढ़िवादी तथा हिन्दू परम्परा का निषेधात्मक रूप प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है, किन्तु मनुस्मृति का यह विश्लेषण एकपक्षीय है, वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज के संगठन की प्रक्रिया ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ होती है, वह उत्तरवैदिक काल तथा सूत्रकाल में विकसित एवं पुष्ट होती हुई स्मृतियों के काल में आकर मनुस्मृति में परिपूर्णता प्राप्त करती है। मनुस्मृति प्राचीन भारतीय व्यवस्था के सर्वाधिक विकसित स्तर का प्रतिनिधित्व करती है और यही वह कारण था कि मनुस्मृति के बाद मौलिक धर्मशास्त्रों के प्रणयन की प्रवृत्ति में विराम लग गया और व्यवस्थाकारों ने कालान्तर में सामाजिक व्यवस्था के निश्चयन में मनुस्मृति को मानक माना और अपने विचार उसी के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किये। मुगलकाल के उत्तरवर्तीकाल में जब भारत पर अंग्रेजों का शासन हुआ, जो प्रारम्भ मे व्यापारिक कम्पनी के रूप में भारत में व्यापार हेतु आये थे। किन्तु उन्होने धीरे-धीरे सम्पूर्ण शासन अपने हाथों मे ले लिया। नये शासकों ने तो अपने प्रशासकीय कार्य सरल बनाने और कुछ उसे सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए अनेक दूरगामी परिवर्तन किये। भारत में कानून और व्यवस्था की स्थापना की गई, संचार व्यवस्था में सुधार हुआ, सडकों और रेल मार्गों ने सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में जोड़कर आवागमन का मार्ग तैयार किया गया, संसाधनों के अधिकाधिक दोहन के लिए कृषि एंव सिचाई व्यवस्था में सुधार किया गया, भारत के उत्पादक संसाधनों के विकास के लिए उद्योगों को प्रारम्भ किया गया, एक पूर्णतः नवीन अग्रेंजी शिक्षा प्रणाली शुरू की गई व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में नई व्यवस्थाओं से भारतीयो का परिचय हुआ और सावर्जनिक स्वास्थ्य में सुधार के लिए प्रयत्न किये गये। इन सबके परिणाम मे नये समाज के प्रमुख लक्षण आकार लेने लगे और भारतीयों के मस्तिष्क में नए विचार और भाव होने प्रारम्भ हुए। किन्तु पाश्चात्य संस्कृति एंव भारतीय संस्कृति में पर्याप्त विभिन्नताये थीं, जिससे अंग्रेज शासको के समक्ष यह समस्या था कि भारतीय परम्पराओं के अनुरूप सामाजिक न्याय कैसे किया जाए, क्योंकि अंग्रेज संस्कृत में लिखे धर्म शास्त्रों

की परम्पराओं, भाषा आदि से अपरिचित थे। जिनमें भारतीय सामाजिक मान्यताओं का स्वरूप विशेषत: था । इसी पृष्ठभूमि में तात्कालिक शासकों ने भारतीय भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम अभिज्ञान शांकुन्तलम् का अनुवाद अग्रेंजी मे विलियम जोंस ने किया। हिन्दुओं के उत्तराधिकार की न्याय व्यवस्था करने के लिए मनुस्मृति का अंग्रेजी में अनुवाद कराया गया जो एक कोड आफ जेन्टूलाज के नाम से प्रचलित है। तत्कालीन परिस्थिति में मनुस्मृति के अतिरिक्त ऐसा कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं था जिसमें तत्कालीन समाज, अर्थ एंव राजनीति का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। मनुस्मृति का महत्व इसी तथ्य से स्पष्ट होता है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के नियमन की सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ के रूप में मनुस्मृति को ग्रहण किया गया तथा इसके बाद किसी नयी स्मृति का प्रणयन न कर समय-समय पर इस व्याख्या, या टीका ही प्रस्तुत की गई। इन टीकाओं के टीकाकारों ने मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूकभटट्, आदि प्रमुख है जो भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल से समान्यत: सम्बन्धित हैं।

यदि वर्तमान परिस्थिति में यह प्रश्न उठाया जाये कि आज के युग में मनुस्मृति का क्या महत्व है ? तो इस प्रश्न का उत्तर काफी विस्तृत होगा, क्योंकि मनुस्मृति में न केवल सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों का विशद विवेचन मिलता है, बल्कि इसके साथ ही इसमें एक आदर्श व्यवस्था का भी चित्र मिलता है। जिसमें विभिन्न सामाजिक घटकों के कर्त्तव्यो का निधारण किया गया है। मनुस्मृति का सामाजिक महत्व इस रूप में देखा जा सकता है कि तत्कालीन समाज के आदर्शों को वर्तमान समय में भी शायद अपनाया जा सकता है, उदाहरणार्थ:- अनावश्यक प्रतिस्पर्था को समाप्त करने के लिए समाज का विभिन्न वर्णों में विर्भाजन एंव प्रत्येक वर्णों के कार्य, अधिकार, कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया है । इस विभाजन एंव वर्गीकरण से समाज को सुचारू रूप से चलाने में सहायता मिल सकती है। समाज में व्यक्ति के जीवन की संस्कारयुक्त, नियमबद्ध एंव व्यवस्थित बनाने के लिए संस्कार, आश्रम, पुरूषार्थ का नियमन किया गया था। वर्तमान काल के मानव के अव्यवस्थित जीवन एंव गिरते हुए नैतिक स्तर में सुधार के लिए जीवन के विभिन्न दर्शनिक आदर्शों को अपनाया जा सकता है। व्यक्ति के जीवन में जन्म से ही उच्च आदर्शों की स्थापना के लिए संस्कारों का नियोजन

किया गया था, ज़ीवन के प्रत्येक काल को समान महत्व प्रदान करने के लिए जीवन का विभाजन आश्रमो के रूप में कर दिया गया था, जिसमे रहता हुआ व्यक्ति समाज, परिवार एंव देवताओ द्वारा किये गये कृत्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन के चार पुरूषार्थ हैं, जिनके माध्यम से व्यक्ति धर्मयुक्त जीवन व्यतीत करता हुआ, जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसरित होता है । इस प्रकार संस्कार, आश्रम एंव पुरूषार्थ का अनुसरण करके मनुष्य सांसारिक एंव अध्यात्मिक सुख शांति प्राप्त कर सकता है। यद्यपि मनुस्मृति में स्त्रियों के पृथक अस्तित्व को नहीं स्वीकारा गया है, उन्हें सदैव किसी के नियन्त्रण में रहने के लिए निर्देशित किया गया है। उनके चरित्र को अस्थिर एंव उन्हे कामी, क्रोधी, लोभी, परपुरूष की तरफ आकृष्ट होने वाली बताया गया है; उनके कार्यों में घर की देखभाल करना, पति की सेवा करना प्रमुख बताया गया है, यहाॅ तक कि उन्हें चरित्रहीन पति की भी पूजा करने का निर्देश दिया गया है। फिर भी उन्हें समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त था, पुत्र उत्पन्न करने के कारण उन्हें आदरणीय माना जाता था, धार्मिक कार्यों की पूर्णता के लिए पति के साथ उसकी पत्नी का होना आवश्यक था। इस प्रकार स्त्रियों के लिए स्थापित उच्च आदर्शों का अनुसरण आज भी स्त्रियाँ कर सकती हैं। विधवा, नियोग एंव वेश्याओं की स्थिति के अध्ययन से तत्कालीन समाज में इनकी स्थितियों का पता चलता है। सम्पत्ति में स्त्री के अधिकार एंव स्त्रीधन के उल्लेखों से समाज में स्त्रियों की आर्थिक अधिकार के बारे में पता चलता है।

मनुस्मृति में समाज के कुछ आर्थिक पक्षों का विस्तृत विवेचन किया है। जैसे भूमि पर स्वामित्व के प्रश्न पर अनेक संभावनायें व्यक्त की गई हैं। किन्तु संभवतः निष्कर्ष रूप में भूमि पर राजा के स्वामित्व को स्वीकार किया गया है क्योंकि पृथ्वी में गडे धन का प्रथम अधिकारी वही होता था। किस मौसम में कौन सी फसल लगानी चाहिए, किस फसल के बाद कौन सी फसल ज्यादा उपयोगी है, सिंचाई की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिए इत्यादि तथ्यो का विवेचन मिलता है। विभिन्न वर्णों के पेशों का विस्तृत उल्लेख मिलता है एंव आपद् काल के संदर्भ मे उनके लिए अनुचित उचित पेशों का विवरण मिलता है। जिससे पता चलता है कि विपरीत परिस्थितियों मे भी कैसे अपने पेशों की रक्षा की जा सकती

है एंव असमर्थ होने पर किस प्रकार जीविकोपार्जन करना चाहिए। कराधान के सदर्भ मे मनुस्मृति ने जोर देकर कहा है कि राजा को हर हालत में कराधान थोडा ही लेना चाहिए । इस नीति को ध्यान में रखकर वर्तमान परिस्थितियों में करनीति की समीक्षा करनी चाहिए। शिल्पियों एव कारीगरों से कर के रूप मे माह मे एक दिन नि.शुल्क कार्य करवाया जाता था, वर्तमान परिस्थिति मे इस तथ्य को ध्यान में रखकर निम्न तबके से करो का अधिग्रहण करना चाहिए।

मनुस्मृति मे राजा की आवश्यकता, अवधारणा, कर्त्तव्यो से वर्तमान शासन व्यवस्था के लिए शिक्षा ली जा सकती है, राजा को किस प्रकार अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए, किस प्रकार उसे कर ग्रहण करना चाहिए, किस प्रकार न्याय व्यवस्था की रक्षा के लिए चोरों को दण्डित करना चाहिए; राजा के आदर्शों से एक सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था के लिए प्रेरणा ली जा सकती है। इसके साथ ही मनुस्मृति मे स्वर्ग एंव नरक की भावना का भय दिखाकर भी राजा के कुछ कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया है। आज वर्तमान जीवन मे भी स्वर्ग एंव नरक के आधार पर कुछ कार्यों की अपेक्षा की जा सकती है।

मनुस्मृति में वर्णित कानून व्यवस्था आज के युग के सामने एक आदर्श है। वर्तमान युग में जहॉ भ्रष्टाचार एंव रिश्वत एक आम बात है, मनुस्मृति में न केवल इसकी भर्त्सना की है बल्कि इसके लिए दण्ड की व्यवस्था की है। राजा को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि राजा रिश्वत लेते पकडे जाने पर देश निकाला का दण्ड दे, एक अन्यत्र स्थल पर रिश्वत लेने पर उसका सर्वस्व हर लेने की बात कही गई है। आज की कानून व्यवस्था में दण्ड मिलने की स्थिति शायद ही किसी रिश्वतखोर के सामने आई हो, दण्ड का भय ही व्यक्ति को ऐसे कार्यों की तरफ झुकने से रोक सकता है। मनुस्मृति के उदाहरण से इस तथ्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। मुकदमे एंव गवाह वर्तमान युग में आजीविका का साधन बन चुके है। उनका सत्य या असत्य से काफी कम संबंध है। मनुस्मृति काल में झूठे साक्षी (गवाह) की निदा ही नहीं की गई है बल्कि उसे नरक में जाने का भय दिखाया गया है। धर्मनिर्णय के समय मिथ्यावचन कहने वाले को भी नरकगामी कहा गया है।

मनुस्मृति मे सदाचार के उच्च आदर्श प्रस्तुत किये गये हैं। मनुस्मृति मे अपनी विवाहिता के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्त्री के साथ गमन की तीव्र भर्त्सना की गई है एव अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार के दण्ड की व्यवस्था की गई। किस वर्ण का पुरूष किस वर्ण की कन्या के साथ गमन करे, उसकी सहमति या असहमति से, हर परिस्थिति के लिए अलग-अलग दण्ड विधान निश्चित किये गये है। भाई की पत्नी के चरणों की वदना का उल्लेख मिलने से तत्कालीन समाज में बडो के प्रति आदरभाव की एक झलक मिलती है। माता की महत्ता एंव माता पिता के प्रति ऋण का उल्लेख मिलने से इस आदर्श को अपनाने की प्रेरणा मिलती है।

ब्राह्मणों के लिए उच्च आदर्शों की स्थापना की गई थी। जैसा मदिरा पीने वाले ब्राह्मण के लिए दण्डस्वरूप शूद्र के स्तर का हो जाने का प्रावधान था। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में मदिरा को हेय दृष्टि से देखा जाता था। ब्राह्मणों को निम्न वर्ण का हो जाने का भय दिखाया जाता था, जिससे ब्राह्मण इसका अनुसरण न करें। राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह समाज मे जुए पर प्रतिबन्ध लगाये, इस तथ्य से राज्य द्वारा जुए पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रेरणा मिलती है। मनुस्मृति में शांतिपूर्वक उत्तराधिकार के नियम का विधान किया गया था। किस प्रकार सम्पत्ति, पिता की मृत्यु के बाद उसकी विधवा एंव पुत्रों में बंटती है। माता की मृत्यु के बाद किस प्रकार सहोदर भाई बहने बंटवारा करें। इसी प्रकार स्त्रीधन पर किसका अधिकार होता है, स्त्री की मृत्यु के बाद उसपर किस का अधिकार होता है, किन परिस्थितियों में कोई अन्य स्त्रीधन का प्रयोग कर सकता है। इससे तत्कालीन समाज में उत्तराधिकार के कठोर नियमों का पता चलता है । जबकि वर्तमानकाल में सबसे ज्यादा झगडे उत्तराधिकार के मामले को लेकर होते हैं। उत्तराधिकार के नियमों का निर्धारण कर उनके पालन पर ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुस्मृति के आदर्श देखने को मिलते है। इन्ही आर्दशों से वर्तमान समय में प्रेरणा ली जा सकती है।

भारतीय प्राच्चविद्या के पाश्चात्य पाठकों तथा विदेशी प्रशंसकों ने मनु एंव मनुस्मृति के समाज पर गहनतम प्रभाव से आकृष्ट होकर इस

दिशा मे विशेष गवेषणायें की। सर्वप्रथम ब्यूहलर ने अपने ग्रंथ 'द लॉज ऑफ मनु' मे विद्वतापूर्ण भूमिका एव पाद टिप्पणी सहित मनुस्मृति के श्लोको का अंग्रेजी मे अनुवाद किया। 'सर विलियन जोन्स' ने अपने अंग्रेजी अनुवाद मे मनुस्मृति को 1250 ई0पू0 की रचना माना है और यूनानी भाषा के माइनोस आदि शब्दो को ससकृत शब्द मनु का विकृत रूप माना है। जी0सी0 हागटन ने मनुस्मृति के मूल भाग व अंग्रेजी अनुवाद को यथावश्यक पाद टिप्पणियो सहित तीन खण्डों मे प्रकाशित किया। हॉपकिन्स ने अपनी सम्पादित पुस्तक 'द आर्डिनेन्स आफ मनु (ए0सी0 बर्नले का अग्रेजी अनुवाद) मे महाभारत के शांतिपर्व मे वर्णित मनु एंव मनुस्मृति के उल्लेख को प्रमाण मानकर मनुस्मृति को महाभारत से प्राचीन माना है। आंग्लभाषा के अतिरिक्त लांसलूयर का फ्रेंच भाषा मे "लॉएस डे मनु" नामक ग्रन्थ तथा डंकन एम0 डैरेट का जर्मन भाषा में, भारूचि की टीका सहित अनुवाद मुद्रित हुआ। जर्मन भाषा में ही जे जाली द्वारा सम्पादित एव अनूदित पाठ्य भाग का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण था। गोनियर विलियम्स ने मनुस्मृति का रचना काल 500 ई0 पूर्व निर्धारित किया हैं। इसी श्रृखला में मैक्समूलर, मैक्डानल, श्लेगल, एल्फिंस्टन, गौरिशियों, मैडम ब्लैवेत्स्की, ऐनी बेसेन्ट आदि विद्वानों ने मानवीये मूल्यों के संस्थापक ग्रथ मनुस्मृति को अपने शोधो मे सम्मानपूर्ण स्थान दिया। संस्कृत एंव संस्कृति प्रेमी दाराशिकोह ने फारसी भाषा में रचित अपने ग्रंथ 'मज उल बहरैन' (दो सागरों का सम्मिलन) में आदि पुरूष मनु को आदम के समकक्ष माना है। महान दार्शनिक नीत्शे ने श्रेष्ठ गुणों के प्रतिनिधिभूत ग्रंथ मनुस्मृति को बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट मानकर कहा था- "Close the Bible and open the code of Manu" आधुनिककाल में उत्तरभारत की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक स्थिति को लिपिबद्ध करने का प्रयास जब भी किसी इतिहासकार द्वारा होता है, मनुस्मृति उसके लिए एक महत्वपूर्ण स्त्रोत सिद्ध होती है। जिनमें से कुछ एक का उल्लेख करना समीचीन होगा।

पी0वी0 काणे ने अपने ग्रंथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' जो पांच खण्डों में उपलब्ध है, में समस्त भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, विधिविधान नियम, आचार-विचार प्रस्तुत किये हैं। उनकी इस कृति के लिए मनुस्मृति एक महत्वपूर्ण स्त्रोत सिद्ध हुई। आर0एस0 शर्मा

के ग्रथ 'इण्डियन फ्यूडलिज्य एव शूद्राज इन एन्शिएन्ट इण्डिया' में पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था एव पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामजिक परिवर्तन के विश्लेषण के लिए मनुस्मृति के उद्धरण लिये गये है। बी0पी0 मजूमदार ने 'सोश्यो इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया', डी0 डी0 कौशाम्बी ने 'ए इन्ट्रोडक्शन टू दा स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री', बी0एन0एस0 यादव ने 'सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया 800-1200 ई0', रोमिला थापर ने 'एन्शिएन्ट सोशल हिस्ट्री' में मनुस्मृति उत्तरभारत के ऐतिहासिक विवेचन मे महत्वपूर्ण स्त्रोत रही है।

सुधाकर चट्टोपध्याय, के0वी0आर0 आयगर, ए0एन0 बोस आदि के द्वारा शोध एंव इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत के सामाजिक आर्थिक इतिहास पर जितने भी शोध एंव अध्ययन हुए हैं उनके लिए मनुस्मृति एक महत्वपूर्ण स्त्रोत रही है।

मनुस्मृति की तिथि:

मनुस्मृति का रचनाकाल क्या है इस संबंध में मतभेद है। इसके निर्धारण के लिए आतंरिक एंव बाह्य साक्ष्यो का सहारा लेना पडता है। मनुस्मृति की सब से प्राचीन टीका मेधातिथि की है। जिसका काल 900 ई0 है। याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के जो लगभग 200 श्लोक उद्धत किये गये हैं वे सब बारह अध्यायों के हैं, दोनों व्याख्याकारों ने वर्तमान मनुस्मृति से ही उद्धरण लिये हैं। वेदान्तसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने मनु को अधिकतर उद्धत किया है । कुमाररिल के तत्रंवातिक में मनुस्मृति को सभी स्मृतियों से और गौतम धर्मसूत्र से भी प्राचीन कहा है मृच्छकटिक (9.39) ने पापी ब्राह्मण के दण्ड के विषय में मनु का हवाला दिया है। बलभीराज धारसेन के एक अभिलेख से पता चलता है कि सन 571 ई0 में वर्तमान मनुस्मृति उपस्थित थी। जैमिनीसूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने भी जो 500 ई0 के बाद के नहीं हो सकते, प्रत्युत पहले के ही हो सकते हैं। मनुस्मृति को उद्धत किया है। अपरार्क एंव कुल्लूक ने भविष्यपुराण द्वारा उद्धत मनुस्मृति के श्लोकों की चर्चा की है। बृहस्पति ने जिनका काल 500 ई0 है मनुस्मृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बृहस्पति ने जो कुछ उद्धत किया है वह वर्तमान मनुस्मृति में पाया जाता है। स्मृतिचंद्रिका में उल्लिखित अंगिरा ने मनु के धर्मशास्त्र की चर्चा की है। अश्वघोष की वज्रसूचिकोपनिषद में मानवधर्म के कुछ ऐसे

उद्धरण मिलते है वो वर्तमान मनुस्मृति में पाया जाता है। रामायण में वर्तमान मनुस्मृति की बाते पाई जाती है।

उपयुक्त बाहय साक्ष्यों से स्पष्ट है कि द्वितीय शती के बाद अधिकतर लेखको ने मनुस्मृति को प्रमाणिक ग्रथ माना है।

वर्तमान मनुस्मृति याज्ञवल्क्य से बहुत प्राचीन है क्योंकि मनुस्मृति में न्याय विधि संबंधी बाते अपूर्ण हैं और याज्ञवल्क्य इस बात में बहुत पूर्ण हैं याज्ञवल्क्य की तिथि कम से कम तीसरी शती है। अत: मनुस्मृति को इससे बहुत पहले रचा जाना चाहिए था। मनु ने यवनों, कम्बोजो, शकों, पहलवों एंव चीनो के नाम लिये हैं। अतएव वे ई0 पू0 तीसरी शती से बहुत पहले के नहीं हो सकते। यवन, कम्बोज एंव गांधार लोगों का वर्णन अशोक के पाचवे प्रस्तर लेख मे आ चुका है। वर्तमान मनुस्मृति गठन एंव सिद्धान्तो में प्राचीन धर्मसूत्रों अर्थात गौतम, बौधायन एंव आपस्तम्ब के धर्मसूत्र से बहुत आगे है। अत. निसंदेह इसकी रचना धर्मसूत्रों के उपरात हुई है, स्पष्ट है कि मनुस्मृति की रचना ई0पू0 द्वितीय शती के बीच कभी हुई होगी।

वर्ण्य विषय:

मनुस्मृति में 12 अध्यायों तथा 2694 श्लोक हैं। इस रूप में यह पुस्तक व्यापक वर्ण्य विष्य के प्रस्तुत कर जीवन के लगभग सभी पक्षों को समेट लेती है। सामान्य सासारिकता के मध्य जीवन यापन करते हुए सदाचार के माध्यम से मानव को ब्रह्मत्व पद का अधिकारी बना देने का श्रेय मनुस्मृति को ही है। आत्मज्ञान का इच्छुक साधक धर्म, अर्थ, काम के सेवन द्वारा अधर्म की निवृत्ति करता हुआ परम पुरूषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। भारत में आदिकाल से धर्म, अर्थ, काम को पृथक कर देखने की जो परम्परा चली आ रही थी मनुस्मृति में उन तीनों को एक परिधि में समाविष्ट कर समाज को उच्च आचरण की एक नई दिशा दी। अपनी विस्तृत सामग्री के संकलित कोश से मनुस्मृति (विदों के समान) आदेश नहीं उपदेश के माध्यम से मानवीय आचरण के धार्मिक, राजसिक एंव सामाजिक तीनों पक्षों के शाश्वत विधि विधानों को उदभूत करती है। धर्मशास्त्र के अर्न्तगत सृष्टि की रूपरेखा धर्म की परिभाषा, धर्म के उपाददान, वेद स्मृति, साधुपुरूषों के आचार, आत्मतुष्टि, संस्कार, वर्णों के अधिकार, एंव कर्त्तव्य, पंचमहायज्ञ, प्रणव व्याहति, गायत्री, सन्ध्या, सत, रज,

तम्गुणों का स्वरूप, दानस्तुति, प्रायश्चित, विधि, भक्ष्याभक्ष्य नियम, कर्मों का स्वरूप, जीव पच्चमहाभूत, तपस्या व विद्या का महत्व, धर्मज्ञ के लक्षण आत्मज्ञान, निष्काम कर्म मोक्ष इत्यादि विषय विवेचित है। राज्य की शांति की स्थापना के लिए प्रजावत्सल राजा को आंतरिक व्यवस्था सुचारू रखने का प्रयास करना चाहिए। इसके साथ ही बाह्य शत्रुओं से भी पूर्ण सावधान रहकर राज्य की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। इस आधार पर राजशास्त्र को दो भागो मे बांटा जा सकता है- प्रथम के अन्तर्गत राज्य की परिभाषा तथा उत्पत्ति, राजा का परिचय, गुण, अवगुण शासनविधि, मंत्रिपरिषद, राज्य सभा की योग्यता, संगठन एव कार्य प्रणाली, दूत की पात्रता, दुर्ग, राजधानी, दण्डविधान, न्याय व्यवस्था, कर ग्रहण, कोश, ज्ञाता एव अज्ञात चोर, बंदीगृह, इत्यादि विषय विशद वर्णित हैं। द्वितीय भाग के अन्तर्गत राजनीति का सामान्य लक्षण, शत्रु तथा मित्र से सजगता, संधि एंव विग्रह, सेना, सैन्य-सचालन, आक्रमण, युद्ध नियम, साम, दान, दण्ड, भेद आदि कूटनीतियां समाविष्ट हैं। समाजशास्त्र के अन्तर्गत-विवाह, गृहस्थ जीवन, पति पत्नि के कर्त्तव्य, सम्बन्ध विच्छेद, संतान के प्रति अधिकार, ज्येष्ठ पुत्र, दत्तक पुत्र, पुत्री, उत्तराधिकार, स्त्रीधन, सम्पत्ति विभाजन, वसीयत द्यूतकर्म का निषेध आदि विषयों की व्याख्या है।

विषय क्षेत्र:

ब्राह्मणों के कर्त्तव्य[1], ब्राह्मण की उत्पत्ति[2], ब्राह्मणों की श्रेष्ठता[3], ब्राह्मणों के विशेषाधिकार- यथा ब्राह्मण वध को महापाप बताना[4], ब्राह्मण की ताडना को पाप बताया है।[5] ब्राह्मण से कठोर वचन कहने पर वर्णक्रम से दण्ड[6], ब्राह्मण पर राजा कभी क्रोध न करे[7], आपद काल में भी ब्राह्मण को पवित्र बताना[8], इन विशेषाधिकारों की परराराष्ठा मनु के एक श्लोक[9] में दिखाई पडती है। जिसमें उन्होने विधान किया है कि ब्राह्मण जो कहे उसे धर्म जाने।[10] इसके साथ ही मनु ने ब्राह्मणों के लिए शिक्षा, संस्कार, चरित्र की उच्चता पर अन्य वर्णों से ज्यादा जोर दिया है। मनु के अनुसार हजारों असंस्कारी ब्राह्मणों के एकत्र हो जाने पर भी सभा नहीं हो सकती है।[11] बिना शिक्षित ब्राह्मण आयोग्य माना गया।[12]

सामाजिक वर्णक्रम मे क्षत्रियो को दूसरा स्थान प्रदान किया गया है एव सभी वर्णों की रक्षा का भार उसके ऊपर सौपा गया।[13] इसके साथ ही उसे कुछ विशेषाधिकार भी प्रदान किये गये जैसे उन्हे कितने भी घृणित अपराध के लिए मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था।[14]

वैश्यों की उत्पत्ति[15] कार्य एंव कर्त्तव्य[16], विशेषाधिकार[17] एंव आपदकालीन धर्म[18] इत्यादि का उल्लेख मनुस्मृति में विस्तृत रूप से मिलता है।

मनुस्मृति ने शूद्रों के ऊपर अनेक प्रकार की अपात्रताये लाद दी हैं। जैसे शूद्र स्पर्श से यज्ञ फलो का नाश होता है।[19] शूद्र यदि धर्मोपदेश करे तो मुख, कान मे तपाया हुआ तेल डाल दें,[20] शूद्र यदि द्विज से द्रोह करे तो जलते हुए दस अगुल लोहे की शलाका उसके मुंह में डाली जाये।[21] शूद्र यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय को पतित बताये तो उसकी जीभ काट लें[22], शूद्र जिस अंग से द्विजाति को मारे, राजा उसका वहीं अंग कटवा ले,[23] ब्राह्मण से अमर्यादित व्यवहार करने पर दण्ड[24] का विधान किया गया है। शूद्रों को दास बताया गया[25] साथ ही यह भी कहा गया कि शूद्र का निजधन कुछ नही है,[26] शूद्र की हत्या का प्रायश्चित मेढक, कुत्ते को मारने के बराबर था।[27] किन्तु इसके साथ ही शूद्र के लिए यह भी विधान किया गया था कि यदि शूद्र अच्छे संस्कारों से युक्त हो तब वह अपनी जाति से उत्तम हो जाता है।[28] एक स्थल[29] पर संस्कारी शूद्र को असंस्कारी ब्राह्मण से उच्च बताया गया है।

मनुस्मृति में वर्ण सकर की भर्त्सना की गई है।[30] राजा के कर्त्तव्यों में वर्णाश्रम एंव वर्णधर्म की रक्षा करना बताया गया है।[31] इसके साथ ही वर्ण संकर से उत्पन्न जातियों का भी विवरण दिया गया है।[32] अनुलोम एंव प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतानों के अधिकारों एंव कर्त्तव्यों का उल्लेख मिलता है।[33] इसके साथ ही मनु ने यह भी विधान किया है कि वर्ण संकर से उत्पन्न संतान तप से प्रभाव से उच्च हो सकता है।[34] आरस[35], क्षेत्रज[36], कानीन[37] सहोढ[38], पुनर्भव[39] इत्यादि के अधिकारविषय में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

मनुस्मृति में स्त्रियों की स्थिति के विषय में विशद वर्णन प्राप्त होता है। अनेक उद्धरणों से पता चलता है कि स्त्रियों को पुरूषों के समान किसी भी कार्य को करने की स्वतन्त्रता नहीं थी।[39A] स्त्रियों को

उनके पति वश मे रखे।[39B] स्त्रियो के चरित्र को मनु ने काफी विकृत बताया है। उन्हे कामी, क्रोधी, लालची एव झूठी, विश्वास न करने योग्य बताया गया है।[40] स्त्रियों को किसी के साक्षी होने के योग्य नहीं समझा गया है।[41] स्त्रियों का कर्त्तव्य संतानोत्पत्ति पालन, एव घर के कार्य करना बताया गया है।[43] इसके साथ ही स्त्रियो के आदर की बात भी कही गई है।[44] मनु का कथन है कि जहॉ नारी की पूजा होती है वहॉ लक्ष्मी का वास होता है।[45] धार्मिक कार्यो मे स्त्रियो की उपस्थिति आवश्यक थी। क्योंकि बिना विवाह के पुरूष को अपूर्ण बताया गया है[46]। पुत्र उत्पन्न करने के कारण स्त्रियों को आदर योग्य माना गया है।[47]

मनुस्मृति में स्त्रियों के लिए स्त्रीधन का प्रावधान करके उन्हे कुछ आर्थिक सुदृढता प्रदान की गई। इस स्त्रीधन में बंधु बाधव की वर्जना की गई है।[48]

मनुस्मृति में अन्य विविध सामाजिक आयामों, सस्कार[49], आश्रम[50], पुरूषार्थ[51], विवाह[52] इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें पंच महायज्ञ[53], तीन ऋण[54], धर्म की महत्ता[55], इत्यादि का उल्लेख भी मिलता है।

शिक्षा, गुरू एंव विद्या की महत्ता पर कई स्थलों पर बल दिया गया है, जिससे लगता है कि तत्कालीन समाज में गुरू तथा गुरू द्वारा प्रदत्त शिक्षा को उच्च स्थान प्राप्त था। गुरू की महत्ता के अनेक उद्धरण मिलते हैं।[56] गुरू को माता पिता से उच्च स्थान प्रदान किया गया है, मनु ने विधान किया है कि गुरू से आज्ञा लिये बिना अपने गुरू अर्थात् माता पिता आदि को प्रणाम न करें।[57] इसके साथ ही विद्या की महत्ता की भी चर्चा की गई है।[58] शिक्षा का महत्व द्वादश अध्याय के 114वें श्लोक से ज्ञात होता है जिसमें अवेदपाठी ब्राह्मण को भी सभा योग्य नहीं बताया गया।[59] साथ ही अशिक्षित ब्राह्मण को अयोग्य माना गया है।[60] मनुस्मृति तत्कालीन समाज में कानून तथा व्यवस्था का सुव्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करती है। उदाहरण स्वरूप - रिश्वत लेते पकड़े जाने पर देश निकाला दिया जाने का प्रावधान किया गया है।[61] किसी कार्यवाही में साक्षी के झूठ बोलने की निंदा की गई है।[62] धर्मनिर्णय के समय झूठ बोलने पर नरक प्राप्त होने की बात कही गई है।[63] चोरों को दण्ड देना

राजा का कर्त्तव्य बताया गया है।[64] स्त्री की इच्छा के बिना उसके साथ समागमन पर दण्डस्वरूप मृत्युदण्ड का विधान निश्चित किया गया है।[65]

मनुस्मृति मे राजा की अवधारणा[66] स्पष्ट करते हुए राजा के कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है; जैसे राजा को संसार की रक्षा करनी चाहिए[67] राजा को वर्णाश्रम, वर्णधर्म की रक्षा करनी चाहिए।[68] राजा को पिता के समान कर ग्रहण करना चाहिए[69] राजा का धर्म युद्ध करना है[70] राजा रिश्वत लेते व्यक्ति को पकडे तो देश निकाल दे[71], चोरों को दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य है।[72] राजा को कराधान थोडा लेना चाहिए[73], एक अन्य स्थल पर राजा को थोडा कर ग्रहण करने का विधान किया गया है, जैसे सूर्य नदियों का जल सोखता है,[74] राजद्रोही को राजा प्राणदण्ड दे[75], राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा करें[76], राजा देश को पीडा दे तो वह नष्ट हो जाता है।[77] राजा बालक हो तब वह देवता है[78]। यथा शक्ति युद्ध करने वाला राजा स्वर्ग लोक प्राप्त करता है।[79] इसके साथ ही मनुस्मृति मे राज्य के सात अंगों का भी उल्लेख मिलता है।[80] सब भूमि पर राजा का अधिकार माना गया था जिसके कारण पृथ्वी में गडेधन का आधा हिस्सा राजा का होता था[81]। राज्य में उत्पन्न होने वाले धान्य का कराधान 1/6, 1/8, 1/20वां हिस्सा राजा का होता था।[82] कारीगर एंव शिल्पी अपना कर राजा के यहॉ एक दिन कार्य करके अदा करते हैं।[83] मनुस्मृति में साधारण जीवन की नैतिकता का उच्च स्तर प्रस्तुत किया गया है। एक स्थल पर सदाचार की महत्ता का उल्लेख प्राप्त होता है[84], परस्त्रीगमन को बुराकर्म बताया गया है तप की महत्ता[86], माता पिता का ऋण[87], मॉ की महत्ता[88], भाई की पत्नी की चरणों की वंदना[89], धर्म की महत्ता[90], आश्रमों - ब्रह्मचर्य[91], गृहस्थाश्रम[92], गृहस्थ के कर्त्तव्य[93], वानप्रस्थाश्रम[94], सन्यासाश्रम[95] का उल्लेख मिलता है। इच्छा के विरूद्व स्त्री से समागम करने पर प्राणदण्ड का उल्लेख मिलता है[96] जोकि तात्कालिक समाज का कठोर चरित्र प्रस्तुत करता है उत्तराधिकार[97] के विषय में विस्तृत उल्लेख मिलता है। मद्य पीने वाले ब्राह्मण को शूद्र बताया गया है।[98] राजा को निर्देशित किया गया है कि राज्य में जुए का खेलना एंव समाहय राजा बंद कर दे।[99] मनु ने स्वर्ग का लोभ एंव खराब भविष्य का भय दिखाकर भी कुछ आदर्शों को स्थापित करने का प्रयास किया है, जैसे चारो वर्णों के लोग यदि अपना कार्य न

करे तो जन्मान्तर शत्रु के दास होते है[100] युद्ध से भागे पुरूष का पुण्य समाप्त हो जाता है,[101] यथाशक्ति युद्ध करने एव पीछे न हटने वाला राजा स्वर्ग लोक पाता है।[102]

मनुस्मृति अन्तिम मूल धर्मशास्त्र है, इसके बाद मूल रूप से कोई धर्मशास्त्र नही लिखा गया है, पूर्वमध्यकाल में मनुस्मृति पर कई विद्वानों ने टीकाओं का प्रणयन किया, जिनमे मेधातिथि, गोविन्दराज एव कुल्लूकभट्ट प्रमुख है ।

मेधातिथि:

मेधातिथि मनुस्मृति की विस्तृत एंव विद्वतापूर्ण व्याख्या की है। मेधातिथि को मनुस्मृति का सबसे प्राचीन भाष्यकार माना गया है। मेधातिथि के भाष्य की कई हस्तलिखित प्रतियों में पाये जाने वाले अध्यायों के अंत मे एक श्लोक आता है जिसका अर्थ है कि सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से मेधातिथि की प्रतियां मंगा कर भाष्य का जीर्णोद्धार कराया। ब्यूहलर[103] के अनुसार मेधातिथि कश्मीरी या उत्तर भारत के रहने वाले थे, क्योंकि उनके भाष्य में कश्मीर का बहुत वर्णन है।

मेधातिथि ने निम्नलिाित स्मृतिकारों की किसी न किसी बहाने चर्चा की है- गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु, शंख, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, बृहस्पति, कात्यायन आदि। मेधातिथि[104] ने बृहस्पति को वार्ता एंव राजनीति के लेखकों में गिना है। उशना एंव चाणक्य दण्डनीति राजनीति एंव राजशासन के लेखकों में गिने गये हैं। कौटिल्य के ग्रंथ से बहुत स्थानो पर उद्धरण लिये गये हैं। मेधातिथि ने असहाय एंव अन्य स्मृति विवरणकारों के नाम लिये हैं। मेधातिथि ने पुराणों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार व्यास ही पुराणो के लेखक है, और पुराणों में सृष्टि का विवरण पाया जाता है। मेधातिथि[105] ने मनु पर टीका करते हुए लिखा है कि पांचरात्र, निग्रन्थ (जैन एंव पाशुपत) लोग आर्यों के समाज से बाहर के हैं।

मेधातिथि ने पूर्वमीमांसा का विशेष अध्ययन किया था, उनके भाष्य में 'विधि' एंव 'अर्थवाद' नामक शब्द बहुधा आते हैं। जैमिनि सूत्रों का हवाला देकर मेधातिथि ने बहुत स्थानों पर मनु की व्याख्या की है। उन्होंने शबरभाष्य से उद्धरण लिये हैं। उनके भाष्य[106] में कुमारिल का

नाम और उनकी उपाधि भट्टपाद का उल्लेख हुआ है। मेधातिथि ने कई स्थलों पर शंकराचार्य के शरीरक भाष्य के मत का उद्घाटन किया है। किन्तु शंकर की भांति मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है, ऐसा नही माना है, प्रत्युत उन्होने ज्ञान एंव कर्म दोनों को आवश्यक समझा है, इसका कारण मीमासा का प्रभाव है। मेधातिथि के भाष्यग्रथ से प्रकट होता है कि आज की ही मनुस्मृति इन के समय मे भी थी।

मनुस्मृति की व्याख्या करते हुए स्थान-स्थान पर मेधातिथि ने अपनी कृति स्मृतिविवेक से भी उद्धरण लिये हैं। स्मृतिविवेक मे सभवत: पद्य ही थे। पराशरमाधवीय ने स्मृतिविवेक से बहुत उद्धरण लिये हैं। लोल्लट ने अपने 'श्राद्ध प्रकरण' ग्रंथ में मेधातिथि की चर्चा की है। तिथि-निर्णय सर्वसमुच्चय में मेधातिथि के बहुत से श्लोक उद्धत हैं। विश्वेश्वर सरस्वती के यति धर्म सग्रह में भी मेधातिथि का उल्लेख हुआ है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि मेधातिथि ने धर्म पर बहुत सी स्वतन्त्र बाते अपने किसी ग्रंथ में लिख रखी थी, जो पर्याप्त प्रामाणिक हो चुकी थीं, किन्तु यह ग्रंथ आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

मेधातिथि ने असहाय एंव कुमारिल के नाम लिये हैं और संभवत: शंकर का मत भी उद्धत किया है अत: उनका समय 820 ई0 के बाद का ही कहा जा सकता है। मिताक्षरा ने उन्हें प्रामाणिक रूप में ग्रहण किया है। अत: वे 1050. ई0 के पूर्व भी हुए होगें। मनु के अन्य व्याख्याकार कुल्लूकभट्ट ने मेधातिथि को गोविन्दराज 1050-1100 ई0 के बहुत पूर्व माना है। अत: मेधातिथि को लगभग 9वीं शती ई0 का माना जा सकता है।

गोविन्दराज

गोविन्दराज ने मनुटीका नामक अपने मनुस्मृति भाष्य[107] में लिखा है कि उन्होने स्मृतिमंजरी नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक के कुछ अश आज उपलब्ध है। गोविन्दराज की जीवनी के विषय में उनकी कृतियों से प्रकाश पडता है। मनुस्मृति की टीका एंव स्मृतिमंजरी में उन्हें गंगा के किनारे रहने वाले नारायण के पुत्र माधव का पुत्र कहा गया है। कुछ लोगों ने इसी से बनारस के राजा गोविन्दचन्द्र से उनकी तुलना की है, किन्तु ये दोनों व्यक्ति एक नहीं थे क्योंकि राजा क्षत्रिय थे एंव गोविन्द राज ब्राहमण थे। गोविन्दराज ने

पुराणो, गृह्यसूत्रो, योगसूत्र आदि की चर्चा की है, उन्होने आन्ध्र जैसे म्लेच्छ देशों में यज्ञो की मनाही की है, उन्होने मेधातिथि की भांति मोक्ष के लिए ज्ञान एव कर्म का सामजस्य चाहा है। कुल्लूकभट्ट ने मेधातिथि एंव गोविन्दराज के भाष्यो से बहुत से उद्धरण लिये है। दायभाग में गोविन्दराज की चर्चा हैं, गोविन्दराज की स्मृतचन्द्रिका में धर्मशास्त्र संबंधी काफी तथ्य आ गये हैं। कुल्लूकभट्ट ने मेधातिथि को गोविन्दराज से बहुत प्राचीन कहा है। मिताक्षरा ने मेधातिथि एंव भोजदेव का उल्लेख तो किया है, किन्तु गोविन्दराज का नही। इससे सिद्ध होता है कि गोविन्दराज 1050 ई0 के उपरान्त ही उत्पन्न हुए होगें। अनिरूद्व की हारलता (1160 ई0) में गोविन्दराज की चर्चा हुई और वे विश्वरूप भोजदेव एंव कामधेनु की भांति प्रमाणिक ठहराये गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि गोविन्द राज 1125 ई0 के बाद नही हो सकते हैं। दायभाग ने गोविन्दाराज के मत का खण्डन किया है। जीमूतवाहन ने भोजदेव के एंव विश्वरूप के साथ गोविन्द राज का भी हवाला दिया है इस प्रकार उपर्युक्त धर्मशास्त्र विदों के कालों को देखते हुए कहा जा सकता है कि गोविन्दराज 1050-1080 ई0 के मध्य में कभी हुए होगें।

कुल्लूकभट्ट:

मनु पर जितने भाष्य हुए हैं, उनमें कुल्लूक की मन्वर्थमुक्तावली नामक टीका सर्वश्रेष्ठ है। इस के कई प्रकाशन भी हो चुके हैं। कुल्लूकभट्ट का भाष्य संक्षिप्त, स्पष्ट एंव उद्देश्यपूर्ण हैं। इन्होने मेधातिथि, गोविन्दराज के भाष्यो से उद्धरण लिये हैं, कहीं-कहीं इन भाष्यकारों की इन्होने कटु आलोचानाएं भी की हैं। कुल्लूक ने निम्नलिखित लेखकों के नाम लिय हैं- गोविन्दराज, धरणीधर, भास्कर (विदान्तसूत्र के भाष्यकार) भोजदेव, मेधातिथि, वामन (काशिका के लेखक) भट्टवार्तिक कृत विश्वरूप। इन्होने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। ये बगाल के बारेन्द्र कुल के नन्दननिवासी भट्टदिवाकर के पुत्र थे- इन्होने पण्डितों की संगति में काशी में अपना भाष्य लिखा।

कुल्लूकभट्ट ने स्मृतिसागर नामक एक निबन्ध लिखा, जिसके केवल अशौच सागर एंव विवादसागर नामक प्रकरणों के अंश अभी तक प्राप्त हो सके हैं। श्राद्धसागर में पूर्वमीमांसा संबंधी विवेचना भी है। कुल्लूक ने लिखा है कि उन्होने अपने पिता के आदेश से विवाद सागर,

- अशौच सागर एव श्राद्धसागर लिखे है। इनमे महाभारत के प्रमुख उद्धरण है। महापुराणों, उपपुराणो, धर्मसूत्रो एव अन्य स्मृतियों की चर्चा यथास्थान हुई है। भोजदेव, हलायुध, जिकन, कामदेव, मेधातिथि शंखधर आदि के नाम भी आये है।

कुल्लूक की तिथि निश्चित करना एक कठिन कार्य है। ब्यूहलर[108] एंव चक्रवर्ती ने उन्हें 15वी शती मे रखा है । कुल्लूक ने भोजदेव, गोविन्दराज, कल्पतरू एंव हलायुध की चर्चा की है, अत: वे 1150 ई0 के बाद ही हुए होगें। रघुनन्दन ने अपने दायतत्व एव व्यवहारतत्व में तथा वर्धमान ने अपने दण्डविवेक मे उनके मतो की चर्चा की है, अत: कुल्लूक 13 ई0 के पूर्व हुए होगे। वे संभवत: 1150-1300 ई0 के बीच कभी हुए होगें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनु के पहले टीकाकार मेधातिथि 9वी शती ई0 से सम्बन्धित थे । गोविन्दराज का काल 11वी-12वीं ई0 तथा कुल्लूकभट्ट का 12वीं-13वीं ई0 था । मनु के यह सभी टीकाकर उस विशेष कालवधि से सम्बन्धित थे जिसे इतिहासकारों के समान्यत. पूर्वमध्यकाल की संस्था ही है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनु के पहले टीकाकार मेधातिथि 9वीं शती ई से सम्बन्धित थे । गोविन्दराज का काल 11वी-12वीं शती ई0 तथा कुल्लूकभट्ट का 12-13 वीं ई0 था । मनु के यह सभी टीकाकार उस विशेष कालावधि से सम्बन्धित थे जिसे इतिहासकारों ने सामान्यत: पूर्वध्याकाल की संज्ञा दी है।

(1) मनुस्मृति IV 15
(2) मनुस्मृति I 93
(3) तत्रैव I 99
(4) तत्रैव VIII 381
(5) तत्रैव IV 166
(6) तत्रैव VII 267
(7) तत्रैव IX 313
(8) तत्रैव X 103
(9) तत्रैव XII 108
(10) तत्रैव XII 108
(11) तत्रैव XII 114
(12) तत्रैव III 168
(13) तत्रैव
(14) तत्रैव
(15) तत्रैव I 93
(16) तत्रैव
(17) तत्रैव
(18) तत्रैव
(19) तत्रैव III 178
(20) तत्रैव VIII 272
(21) तत्रैव VIII 277
(22) तत्रैव VIII 279
(23) तत्रैव VIII 280
(24) तत्रैव VIII 282
(25) तत्रैव VIII 282
(26) तत्रैव VIII 413
(27) तत्रैव XI 131
(28) तत्रैव IX 335

(29) तत्रैव

(30) तत्रैव X 102, VII 24

(31) तत्रैव VII 80

(32) तत्रैव

(33) तत्रैव

(34) तत्रैव X 51, 52

(35) तत्रैव IX 166

(36) तत्रैव IX 167

(37) तत्रैव IX 172

(38) तत्रैव IX 173

(39) तत्रैव IX 175

(39A) तत्रैव IX 173

(39B) तत्रैव IX 8

(40) तत्रैव IX 17

(41) तत्रैव VIII 77

(42) तत्रैव IX 14

(43) तत्रैव IX 27 43

(44) तत्रैव III 56. III 58

(45) तत्रैव V 155

(46) तत्रैव IX 26

(47) तत्रैव III 52

(48) तत्रैव IX 194

(49) तत्रैव II 278

(50) तत्रैव III 9-10

(51) तत्रैव

(52) तत्रैव III 12-13

(53) तत्रैव

(54) तत्रैव, II 117

(55) तत्रैव IV 239 241, 242

(56) तत्रैव II 117

(57) तत्रैव II 117

(58) तत्रैव II 196

(59) तत्रैव XII 114

(60) तत्रैव III 188

(61) तत्रैव VII 124

(62) तत्रैव VIII 75

(63) तत्रैव VIII 94

(64) तत्रैव VIII 302

(65) तत्रैव

(66) तत्रैव V 96

(67) तत्रैव VII 2

(68) तत्रैव VII 35

(69) तत्रैव VII 80

(70) तत्रैव VII 87

(71) तत्रैव IX 231

(72) तत्रैव VIII 302

(73) तत्रैव VII 129

(74) तत्रैव IX 305

(75) तत्रैव IX 275

(76) तत्रैव VII 106

(77) तत्रैव VII 112

(78) तत्रैव VII 81

(79) तत्रैव VIII 89

(80) तत्रैव IX 294

(81) तत्रैव VIII 38

(82) तत्रैव VII 130

(83) तत्रैव VII 138
(84) तत्रैव IV 156
(85) तत्रैव IV 134
(86) तत्रैव IV 190
(87) तत्रैव II 227
(88) तत्रैव II 145
(89) तत्रैव II 132
(90) तत्रैव IV 239, 241, 242
(91) तत्रैव IV 1
(92) तत्रैव V 1
(93) तत्रैव V 7-8
(94) तत्रैव VI 1, 2, 23
(95) तत्रैव VI 52, 57, 33
(96) तत्रैव VIII 364
(97) तत्रैव IX
(98) तत्रैव XI 97
(99) तत्रैव VII, VIII
(100) तत्रैव
(101) तत्रैव VII 95
(102) तत्रैव VII 89
(103) ब्यूहलर, लाइफ ऑफ हेमचन्द्र
(104) मेधातिथि का भाष्य
(105) मेधातिथि मनु पर II 6
(106) मेधातिथि मनु पर II 18
(107) गोविन्दराज का मनु भाष्य
(108) ब्यूहलर लाइफ ....

सामाजिक स्थिति

किसी भी समाज की स्थिति के अध्ययन के लिए समाज के विभिन्न घटकों वर्ण व्यवस्था, जाति प्रथा, स्त्रियो की स्थिति, शिक्षा का स्तर एवं अवसर, आश्रम, सस्कार, पुरूषार्थ, नैतिक स्तर, विवाह इत्यादी का सूक्ष्मता से निरिक्षण करना पडता है । किसी भी राज्य या देश की सामाजिक स्थिति के अध्ययन से देया या राज्य मे व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध एवं स्त्रियों की स्थिति वर्ण एवं जाति व्यवस्था के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज में रूढियों का विकास हो रहा है या समाज खुले रूप में विकास मार्ग पर अग्रसरित हो रहा है । आश्रम, संस्कार पुरूषार्थ के अध्ययन से पता चलता है कि व्यक्ति का नैतिक स्तर कैसा है, व्यक्ति विशेष की आत्माशक्ति एवं आत्मविश्वास से ही समाज के आत्म नियंत्रण का निर्माण होता है । जिससे एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित समाज बनाने में सहायता मिलती है । व्यक्तियों के रहनसहन के स्तर एवं खानपान से व्यक्ति की मनोदशा प्रभावित होती है पूर्वमध्यकालीन समाज में अस्थिर राजनैतिक स्थिति का प्रभाव समाज पर पड रहा था । साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था, छोटे-छोटे सामन्तों का स्वार्थ भी इसी मे पूर्ण हो रहा था कि यही स्थिति बनी रही, चिससे वर्ण व्यवस्था एवं जातिप्रथा में कठोरता बढ़ रही थी । आश्रम, संस्कार एवं पुरूषार्थ के पालनं में भी शिथिलता देखने को मिलती है । मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि समाज पतन की ओर बढ़ रहा था ।

जाति व्यवस्था:

जाति व्यवस्था के प्रारंभिक स्वरूप एव इसके उद्भव के कारणों का प्रश्न एक विस्तृत विश्लेषण का विषय रहा है तथा इसके समाधान के लिए अनेक संभावनायें व्यक्त की जा सकती हैं। हट्टन[1] जैसे समाजशास्त्री ने इस प्रश्न के उत्तर में 15 संभावनाये व्यक्त की है जिन्होंने जाति प्रथा की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की होगी, इसके समर्थन में अन्य समाजशास्त्रियों एवं इतिहासकारों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं: जिनमें से नेसफील्ड[2], राइसले[3], होकार्ट[4], इबस्टन[5], घुर्ये[6], केतकर[7], मजूमदार[8] आदि प्रमुख हैं।

रामशरण शर्मा[9] का मत है कि अपनी प्राकृतिक प्रवृत्ति और प्रतिभा के अनुरूप सम्पूर्ण मानव समाज चार वर्गो में विभक्त है। कुछ लोगो में उत्तम आध्यात्मिक तथा बौद्धिक प्रतिभायें है कुछ लोग युद्ध करने की क्षमता रखते है, कुछ उत्पादन कार्य मे योग्य है और तदनुसार वे विभिन्न श्रेणी में रखे गये है, अतएव वर्णव्यवस्था मानव समाज में विद्यमान स्वाभाविक एव सहजगुणों पर आधारित है। इस समय कोई भी कार्य उच्च या निम्न की भावना से प्रभावित नहीं था, और अपनी निर्धारित श्रेणी के कार्य में विशिष्ठता होने के कारण, धीरे-धीरे कठोरता ने जन्म लेना शुरू कर दिया।

वर्ण पर आधारित समाज के विभाजन का एक कारण तत्कालीन जीवन की अन्तहर्निहित चिन्तना में भी खोजा जा सकता है। इसी दर्शन से अनुप्राणित होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण के अर्न्तगत रहकर निर्दिष्ट सामाजिक व्यवस्था का अनुपालन करता था। इस दर्शन के मूल में मोक्ष प्राप्ति का लोभ है। भारतीय जीवन में मोक्ष प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने, समाज के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह करने तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का पालन करने से मोक्ष प्राप्ति संभव मानी गई। अपने वर्ण के सामाजिक एवं धार्मिक कर्मो को सम्पन्न करना ही वर्ण धर्म था, और इस धर्म की पूर्ति से ही मोक्ष प्राप्ति संभव थी। वर्ण व्यवस्था के मूल में यह भी चिन्तना थी कि विभिन्न वर्ग अपनी-अपनी प्रतिस्पर्धा एवं विरोध को समाप्त करके निश्चित कार्यो को करते हुए अपने कर्त्तव्यो का पालन करें। प्रत्येक वर्ग के कार्य निश्चित हो जाने के कारण उनके मध्य वैमनस्य का कम हो जाना स्वाभाविक ही था।

जातिव्यवस्था की उत्पत्ति के लिए कुछ भौगोलिक, जैसे अकेला उपमहाद्वीप होने के कारण एवं पुनः राज्यों में बंटा होने के कारण, ऐतिहासिक - जैसे समय-समय पर बाह्य जातियों का आक्रमण एवं पुनः उनका यहीं बस जाना, यहॉ की प्राचीन जातियों के पुराने पेशे और सबकी भिन्न संस्कृति तथा समाजशास्त्रीय कारण - जैसे - मात्रृक एवं पैत्रृक पृष्ठभूमि का भिन्न होना, कबीले का माना, टोटमवाद, टैबू आदि महत्वपूर्ण कारण माने गये है। क्रोबर[10] इस संबंध में मानव की एक

स्वाभाविक प्रवृति की ओर ध्यान आकृष्ट कराते है कि व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अलग रहने की भावना रखता है।

वर्णव्यवस्था के विकासक्रम पर दृष्टि डालें तो इसका प्रारम्भिक चरण ऋग्वैदिक युग में दिखाई पडता है जब वर्ण शब्द का प्रयोग त्वचा के रंग के रूप में किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य श्वेत वर्ण के थे एवं यहॉ के मूल निवासी अनार्य श्याम वर्ण के थे। समाज के विभाजन का प्रारम्भ आर्यो द्वारा अनार्यो पर विजय से प्रारम्भ होता है। यहॉ के मूल निवासी अनार्य, जिन्हे समय-समय पर दास या दस्यु की संज्ञा भी दी जाती है; को आर्यो ने जीतकर गुलामों या दासों जैसा व्यवहार करना प्रारम्भ किया। कबीले का प्रमुख एवं पुरोहित उच्च माने गये जोकि स्वाभाविक रूप से सामान्य जनता की कीमत पर शक्तिसम्पन्न हो रहे थे। इस प्रकार समाज धीरे-धीरे तीन मुख्य वर्गों - सैनिक, पुजारी एवं साधारण जन में बंट गया।[11] ऋग्वैदिक काल के अंत में चौथे वर्ग शूद्र का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के 10वे मण्डल[12] में यह उल्लेख प्राप्त है एवं इस मण्डल को बाद का क्षेपक माना जाता है। ऋग्वैदिक काल में यह विभाजन पेशे पर आधारित था, इस अध्याय में ही सर्वप्रथम चारो वर्णो का उल्लेख प्राप्त होता है।[13]

उत्तरवैदिक काल मे समाज चार वर्णो में विभाजित हो चुका था - ब्राह्मण, राजन्य या क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र । ब्राह्मण वर्ण - ऋग्वैदिक काल का पुजारी वर्ग था, जो अब अपने धार्मिक कर्मकाण्ड के कारण प्रमुखता प्राप्त कर रहा था। राजन्य या क्षत्रिय ऋग्वैदिक काल के सैनिक से विकसित हुआ था जिस का कार्य समाज की रक्षा करना था, सामान्य जन विश या वैश्य कहलाये, जबकि वर्ण व्यवस्था में सबसे नीचे शूद्रों या अनार्यों को स्थान मिला।

जाति व्यवस्था, का जोकि वर्ण व्यवस्था से भिन्न है;[14] का वैदिक साहित्य में कोई उल्लेख नहीं मिलता हैं। यह सर्वप्रथम सूत्रकाल में दिखाई पड़ती है। सर्वप्रथम गौतम[15] एवं वशिष्ट[16] के धर्मसूत्रों में विभिन्न वर्णो के सदस्यों के मध्य विवाह एवं अन्य प्रकार के मिश्रण से कुछ जातियों की उत्पत्ति की बात की गई है। यद्यपि धर्मसूत्रों में भी जातिशब्द का प्रयोग मिश्रित जाति के लिए किया गया है, जबकि निरूक्त[17] में कृष्ण जातीय एवं ब्रह्म जातियों का उल्लेख मिलता है। पाणिनी के अष्टाध्यायी[18]

में ज्ञात होता है कि धीरे-धीरे चारो वर्ण जातियों के रूप में विकसित हो गये।[19]

मनुस्मृति[20] में जाति प्रथा की उत्पत्ति दैवीय आधार पर बताई गई हैं । भगवतगीता के अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार व्यक्ति विशेष की क्रिया एवं बौद्धिक आधार था। जातक एवं यूनानी साहित्य से पता चलता है कि एक सामान्य नियम के अनुसार प्रत्येक जाति अपने निर्धारित पेशों को अपनाने को बाध्य थी जबकि इनमें निर्धारित पेशों को न अपनाने के उदाहरण दिखाई पडते है।[21] इस प्रकार जहाँ एक ओर धर्मसूत्र जाति व्यवस्था को व्यवस्थित करने का एवं चातुर्वण्य व्यवस्था के सांचे में बैठाने का प्रयास कर रहे थे, दूसरी तरफ बौद्ध एवं जैन बढती हुई जाति व्यवस्थ को रोकने में संलग्न थे।

गुप्तोत्तरकाल में कुछ परिस्थितियाँ ऐसी पैदा हो गई थीं जिन्होंने जाति व्यवस्था की कठोरता को बढाने मे योगदान दिया। हूण आक्रमण के परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ, जिससे राजनैतिक अस्थिरता एवं अंधकार पूर्ण युग अस्तित्व में आया। कल्हण की राजतरंगिणी[22] में हूणों के आक्रमण का प्रभाव कश्मीर पर स्पष्ट दिखाई पडता है । मिहिर कुल[23] का भी एक उद्धरण प्राप्त होता है कि कैसे धार्मिक कार्यो की चेतना आर्यो की भूमि पर स्थापित की गई है। उत्तरभारत में भी लगभग ऐसी ही परिस्थितियों बनी हुई थीं क्योंकि यह भी विदेशी आक्रमण एव राजनैतिक अस्थिरता से घिरा हुआ था। ऐसी अवस्था में जाति के कर्त्तव्यो को मजबूत करने एवं विदेशियो को अपने में समाहित करने की आवश्यकता महसूस की गई । प्राचीन काल से ही वर्णाश्रम धर्म को काफी महत्वपूर्ण माना गया है। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के समय से ही इसके पालन पर जोर दिया जा रहा था। इसके कुछ अभिलेखीय प्रमाण भी प्राप्त होते है जैसे द्वितीयशती में सातवाहन राजा वशिष्ठी पुत्र पुलुमावी ने अपने अभिलेख[24] में वर्णाश्रम धर्म के पालन पर जोर दिया है एवं स्वंय को इसका संरक्षक घोषित किया था। गुप्तोत्तर काल में पुन: ऐसे उदाहरण दिखाई पड़ने लगते है जब यशोधर्मन[25] अपने अभिलेख में वर्णक्रम को सुव्यवस्थित करने एवं ऊपर उठने का दावा करता है। हर्षवर्द्धन[26] की मुद्रा पर लिखे लेख से पता चलता है कि प्रभाकरवर्द्धन ने जाति एवं आश्रम नियमों को स्थापित किया था।

हर्षचरित[27] से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण जनपद वर्ण संकर से मुक्त था नालन्दा से प्राप्त एक मिट्टी की मुद्रा से भी पता चलता है कि मौखरि साम्राज्य के प्रारम्भिक राजा महाराजा हरिवर्मा ने भी ऐसा कार्य किया था।

वलभी के शिलादित्य II[28] (671ई0) के ताम्र अभिलेख से पता चलता है कि वह वर्ण एवं आश्रम के धर्म को स्थापित करने मे दूसरा मनु था। लगभग ऐसी ही प्रशसा इसी वश के राजा ध्रुवसेन की भी की गई है। गुर्जर राजा जयभट्टIII[29] के एक भूमिअनुदान से ज्ञात होता है कि दद् जो इस वश के संस्थापकों मे एक था, ने वर्णाश्रम धर्म को मनु की आज्ञा मानकर उसको पुन: स्थापित किया कामरूप के वर्मन राजा[30] (7-8वीं शती) ने भी वर्णाश्रम धर्म को ऊपर उठाया। दण्डिन के दशकुमार चरित[31] में राजा पुण्यवर्मन का वर्णन चारो वर्णो के निर्माणकर्त्ता के रूप मे किया गया है जैसा मनु ने बताया था।

इस प्रकार वर्णव्यवस्था को पुन: स्थापित करने कार्य, जोकि यवन-शक आक्रमण से अव्यवस्थित हो गया था, एक पवित्र कार्य माना जाने लगा था। धनपाल की तिलकमंजरी[32] (11वीं शती) में सार्वभौम मेघवाहन को वर्णाश्रम धर्म व्यवस्थित करने का श्रेय दिया गया है। राजतरंगिणी[33] में भी ऐसे उदाहरण मिलते है कि राज्य जाति व्यवस्था को व्यवस्थित करने का प्रयास कर रहा था। नैषधचरित में राजा नल कहते है कि वे जाति धर्म के मार्ग से कभी विचलित नहीं हुए इसलिए उन्हें ईश्वर का पवित्र आर्शीवाद प्राप्त था।

चातुर्वण्य व्यवस्था को बनाये रखने एवं व्यस्थित रखने के प्रयासों की तीव्रता का दौर, जोकि गुप्त साम्राज्य के पतन एवं बाह्य आक्रमण के परिणाम स्वरूप प्रारम्भ हुआ था, यह पूर्वमध्यकाल तक चलता रहा। इस समय राजनीतिक स्थिति सामन्तों के हाथों में आ चुकी थी एवं राज्य छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था, ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था कि लोग स्वार्थवश वर्ण व्यवस्था कायम रखने पर जोर देते, क्योकि छोटे-छोटे सामन्ती राज्यों के मध्य लगातार युद्ध होते रहते थे, मुस्लिम आक्रमण, बौद्ध धर्म के पतन के बाद उदित तांत्रिक पंथ जो जाति प्रथा पर जोर देते थे।

जाति व्यवस्था में बढ़ती कठोरता छूतपात खानपान एवं विवाह के संबंध में दिखाई पड़ती है। 11वीं शती में अलबरूनी ने पाया कि हिन्दू

समाज में जाति व्यवस्था ने समाज मे गहरी जडे जमा ली थी। विभिन्न जातियों ने सकरे घेरे बना लिये थे और अलगावाद की प्रवृत्ति ने ऐसा वातावरण बना दिया था कि एक जाति वर्ग के लोग दूसरी जाति की के लोगों को मूर्ख समझते थे।[34] विभिन्न उपजातियो की उपस्थिति ने सामाजिक संबंधों के घेरे को ओर संकरा बना दिया था, इस युग में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलन मे नही थे। 8वी शती तक कुमारिल के तन्त्रवार्तिक[35] से पता चलता है कि लोग सामान्यतौर पर अपवित्र होने के भय के बिना मित्रों एवं सम्बन्धियों से भोजन इत्यादि ले लेते थे किन्तु पवित्रता एवं छूतपात की विचारधारा के कारण साथ मे भोजन करने की प्रथा लगभग समाप्त हो गई थी।

इसके ठीक विपरीत समाज मे कुछ अपवाद भी उपस्थित थे, जो जाति व्यवस्था में कुछ उदारता की तरफ संकेत कर रहे थे। 11वीं शती का एक जैन अध्यापक अमितगति अपनी 'धर्मपरीक्षा'[36] में कहता है कि यह अपना व्यक्तिगत व्यवहार है जिससे जाति निश्चित होती है। 8वी शती के गुर्जर प्रतिहार[37] अभिलेख कलियुग के प्रभाव के कारण वर्णाश्रम धर्म को व्यवस्थान्मूलित बताता है।

9वी शती मे शंकराचार्य[38] वर्ण एवं आश्रम धर्म को अव्यवस्थित स्थिति में बताते है। 11वीं शती में धनपाल[39] को युग का 'वर्णकार विप्लव' कहा गया है। इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए क्षेमेन्द्र[40] भी लिखते है कि चातुर्वण्य का क्रम अव्यवस्थित हो गया था जो गिरावट का गम्भीर चिन्ह था, जिसमें कलियुग का समाज गिरने जा रहा था। वत्सराज[41] (12वीं शती) भी बताता है कि शिव के क्रोध के कारण जातिक्रम अव्यवस्थित हो गया था। इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में वर्णव्यवस्था की पुनर्स्थापना पर बल दिया गया।

जाति व्यवस्था के नियमों में शिथिलता मेघातिथि के उद्धरणों में भी दिखाई पडती है। मेघातिथि[42] अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह पर अपने परिवर्तित विचार प्रस्तुत करते है। "यद्यपि अनुलोमों में भी वर्णसंकरता पाई जाती हैं, किन्तु वे अपनी माता की जाति के विशेष अधिकारों को प्राप्त कर लेते हैं जबकि मनुस्मृति[43] में माता एवं पिता दोनों से निम्न जाति के अधिकार उसे प्राप्त होते थे। इस प्रकार यह तथ्य जाति प्रथा में ढीलेपन को प्रदर्शित करता है।

एक अन्य उद्धरण से भी जाति प्रथा की कठोरता मे कमी की ओर सकेत मिलता है। मनु[44] ने जात्युत्कर्ष नामक एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। गौतम[45] एवं याज्ञवल्क्य[46] ने भी इस सिद्धान्त से सबंधित विचार प्रकट किये है। मनु[47] के मतानुसार जब कोई ब्राह्मण किसी शूद्र नारी से विवाह करता है तो उससे उत्पन्न कन्या पारशव कहलाती है और यदि वह पारशव लडकी किसी ब्राह्मण से विवाह करती है और पुन: इसी सम्मिलन से उत्पन्न लडकी किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो इस प्रकार सातवी पीढी मे पुत्र शूद्र हो जाता है, उसे जात्पकर्ष कहते हैं।

मनु के टीकाकारो ने जाति के उत्कर्ष एवं अपकर्ष के विषय में अवधि कम कर दी है। मेधातिथि[48] के अनुसार पांचवी पीढी में जात्युत्कर्ष सभव है इसी प्रकार जात्यपकर्ष के लिए भी पांच पीढियॉ ही पर्याप्त है। इस प्रकार जाति उत्कर्ष एव जाति अपकर्ष को मेधातिथि ने जातिव्यवस्था में ढीलेपन के रूप मे प्रस्तुत किया।

याज्ञवल्क्य[49] ने जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष के दो प्रकार बताये हैं जिनमें एक तो विवाह (मनु एवं गौतम के समान) से उत्पन्न है और दूसरा व्यवसाय से। यह जानना चाहिए कि सातवी एवं पांचवी पीढी में जात्युत्कर्ष होता है, यदि व्यवसाय में विपरीतता पाई जाती है, तो उसमें भी वर्ण के समान ही सातवी एवं पांचवी पीढी में जात्युत्कर्ष पाया जाता है। मेधातिथि[50] ने इसे इस प्रकार समझाया है- यदि कोई ब्राह्मण शूद्र से विवाह करे और उससे कन्या उत्पन्न हो तो वह कन्या निषादी कही जायेगी और यदि यह निषादी एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और पुत्री उत्पन्न करती है और वह पुत्री एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और यह क्रम छ: पीढ़ियों तक चलता रहा तो छठी का बच्चा सातवीं पीढ़ी में आकर ब्राह्मण हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन में समय के साथ-साथ दो परिवर्तन देखने को मिलते हैं प्रथम अब वर्णसंकरता को संभवत: उतनी हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था जितना कि मनुस्मृति के काल में क्योंकि मनुस्मृति में जहाँ जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष के लिए सात पीढ़ियों का समय लगता था वहीं यह घटकर पांचवी पीढ़ी पर आ गया, इससे स्पष्ट होता है कि वर्णसंकरता के प्रति दृष्टिकोण में कुछ लचीलापन आ गया था।

द्वितीय अब जाति को जन्मना दृष्टि से न देखकर व्यवसाय की दृष्टि से भी देखा जाने लगा था। यह इसयुग की नई विशेषता थी कि जाति व्यवसाय से निर्धारित हो तथा इस तरह से निर्धारित जाति के लिए अलग नियम विशेष बने थे। इस तरह के विधानों से जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था की दृढताये पर्याप्त मात्रा में शिथिल हो जाती हैं किन्तु यह प्रश्न अवश्य उठाया जाता रहा होगा कि क्या वास्तविक जीवन में जात्युत्कर्ष संभव रहा होगा क्योकि पाच पीढियों का लेखा जोखा रखना असभव तो नहीं किन्तु दुरूह कार्य अवश्य रहा होगा।

पूर्वमध्यकाल की जातिव्यवस्था में कई विभिन्नताये पाई जाती है। प्राचीन काल से ब्राह्मण गोत्र प्रवर एवं शाखा के आधार पर विभिन्न भागों में विभाजित होते थे, जिसकी पुष्टि तत्कालीन अभिलेखीय[51] प्रमाणों से होती है।

लक्ष्मीधर[52] ने देवल[53] का उद्धरण देते हुए वेदों के पढने की सीमा, निर्धारित कर्त्तव्यों को करने एव नैतिक चरित्र के स्तर के आधार पर ब्राह्मणों को आठ स्तरों में विभाजित किया है। मिताक्षरा[54] ने पेशे एवं कर्त्तव्यों के स्तर के आधार पर ब्राह्मणो की दस श्रेणियॉ बताई है। ये इस प्रकार है – देव, मुनी, द्विज, राजा, वैश्य, शूद्र, मरजरा, जंगली पशु, म्लेच्छ, चंण्डाल। जबकि अत्रिस्मृति[55] के अनुसार ब्रह्मक्षत्र-सैनिक ब्राह्मण, निषाद ब्राह्मण जोकि चोर, लुटेरा या पीठ में छूरा भोंकने वाला, मास एवं मछली पसंद करने वाला, राजा ब्राह्मण एवं मरजरा ब्राह्मण का स्थान ले चुका था।

इन्द्र-III के काल के राष्ट्रकूट अभिलेख[56] से उत्तर भारत के ब्राह्मणों के पांच वर्गो का पता चलता है । ये ब्राह्मणों के पांच वर्ग इस प्रकार है – सारस्वत (सरस्वती नदी का क्षेत्र), कान्यकुब्ज (कन्नौज का क्षेत्र), उत्कल (उड़ीसा), मैथिल (उत्तरी बिहार का क्षेत्र) एवं गौड़।[57] इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मणों में जहॉ काफी विभाजन हो गया था वहीं इनमें स्थानीयता भी आ गई थी, इन्हें स्थान विशेष के नाम से जाना जाने लगा था।

पूर्व मध्यकाल में राजपूतों या राजपूत्रों का उदय एक महत्वपूर्ण घटना है। जिन्होंने वर्णक्रम में अपना उच्च स्थान भी बना लिया था।[58] 7वीं-8वीं शती से ही राजपूतों के अस्तित्व का प्रारंभ[59] होता

है जोकि पूर्व मध्यकाल तक आते-आते 36 गोत्रो तक पहुँच गया।[60] टॉड[61] एव क्रुक[62] ने राजपूतों को विदेशी उत्पत्ति का माना है, इनका मत है कि मध्य एशिया से आई सीथियन जाति ही राजपूत हैं जोकि प्राचीनकाल मे बडी संख्या मे भारत आये थे। स्मिथ[63] ने राजपूतों - प्रतिहार, चौहान, परमार, चालुक्य को पश्चिमोत्तर क्षेत्र का एक गोत्र बताया है जोकि शक एव हूण - विदेशी आक्रमणकारियों के वंशज है। भण्डारकर[64] ने अग्निकुल के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए राजपूतों को विदेशी उत्पत्ति का बताया है।

सी0वी0 वैद्य[65] ने राजपूतों की विदेशी उत्पत्ति को न मानते हुए, उन्हें वैदिक आर्यो की सबसे लडाकू जाति एवं शुद्ध क्षत्रिय बताया है। जी0एच0 ओझा[66] ने विदेशी उत्पत्ति एवं देसी मूल के मध्य मार्ग खोजने का प्रयास किया।

पूर्व मध्यकाल में वैश्य, क्षेत्र विशेष जिससे वे संबंध रखते थे एव अपने व्यापार के आधार पर बहुत सी शाखाओ में विभाजित हो गये थे। जैन-पुस्तक-प्रशस्ति संग्रह[67] मे गुजरात एवं राजस्थान के वैश्यों की विभिन्न शाखाओं का उल्लेख मिलता है। ये है - श्रीमाल, प्रागवत, उपकेश, धारकट्ट, पालीवाल, मोध, गुर्जर, नागर, दिसावल एवं दुम्बद। 13वी शती के एक अभिलेख[68] से इन शाखाओं के पुन: उपशाखाओं में विभाजित होने का प्रमाण मिलता है। इस अभिलेख में अम्बाई गोत्र के संतान एवं प्रागवत (आधुनिक पोडवाल) के श्रेष्ठिन (बैकर) का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार उमेशवाल (आधुनिक ओसवाल) का भी नामोल्लेख प्राप्त होता है।

हेमचन्द्र, पूर्व मध्यकाल के प्रसिद्ध, जैन आचार्य, वैश्यो के मोध वंश से संबंध रखते थे।[70] यह नाम अन्हिलवाड के दक्षिण में स्थित प्राचीन कस्बे मोढ़ेरा से लिया गया है।

कभी-कभी वैश्यों को उनके व्यापार विशेष के अनुसार पहचाना जाता था जैसे - सोने का व्यापार - सौवर्णिक[72], औषधियों का विक्रेता औषधिक[73] ।

पूर्व मध्यकाल में शूद्र वर्ग में भी विभिन्न वर्गो के लोग सम्मिलित थे, जिनमें कृषक, मजदूर एवं खेती करने वाले किसान,

कारीगर, शिल्पकार, फेरी वाले मजदूर, नौकर, देखभाल करने वालों का भी बडा वर्ग था। जोकि कई जाति समूहो मे विभाजित हो गये थे।

अभिधानचितामणि[74] हेमचन्द्र की देसीनाममाला[75] एव यादवप्रकाश की वैजयन्ती[76] से शूद्रों की मुख्य जातियों एव पेशे पर आधारित वर्गो का संकेत मिलता है[77] - जिनमें कारीगर[78], लुहार, प्रस्तरकारक, कुम्हार, जुलाहे, बढई, मोची, तौलिक, ईट बनाने वाले, सुनार, ताम्रकार, पेंटर, कहार[79], प्लास्टर करने वाला, टेलर, धोबी, मदिरा विक्रेता एवं माला बनाने वाले[80], मछुआरे, करतब दिखाने वाला, फेरी वाला[81], शिकारी, चंडाल, नर्तक, अभिनेता, बांसुरी वादक, तबला बजाने वाला नौकर, भृत्य एवं विभिन्न प्रकार का कार्य करने वाले इत्यादि सम्मलित थे।

इस प्रकार सभी वर्णों में विभिन्न उपजातियों का तेजी से विकास हो रहा था, जिसके फलस्वरूप शासक एवं शासित एक छोटे वर्ग के रूप में सीमित होते जा रहें थे, स्थानीयता बढ रही थी। संभवत: इसी कारण क्षेत्रों एवं पेशों के आधार पर जातियो का उपजातियों में विभाजन हो रहा था।

पूर्व मध्यकाल में विभिन्न प्रकार की मिश्रित जातियो की उत्पत्ति भी एक महत्वपूर्ण विशेषता है; इनकी संख्या में अधिकता मुख्य कारण अब वर्णसंकरण न होकर विभिन्न जातियों की उपजातियों के सकरण से उत्पन्न होना था। ह्वेनसाग[82] एवं शुक्रनीतिसार[83] के अनुसार मिश्रित जातियों की संख्या गणना से परे थी । मेधातिथि[84] ने लिखा है कि - 60 मिश्रित जातियॉ है, इनसे तथा चार वर्णो के पारस्परिक सम्मिलन से बहुभेदी उपजातियों बनती चली गई है।

<u>आहिण्डिक</u>- मनु[85] के अनुसार यह निषाद पुरूष एवं वैदेही नारी की संतान है अर्थात् दोहरी प्रतिलोम जाति का है। मनु[86] ने इसे ही चर्मकार का कार्य करने के कारण कारावर कहा है। कुल्लूकभट्ट[87] ने उशना के मत का उल्लेख करते हुई इसे बंदीगृह में आक्रमकों से बंदियों की रक्षा करने वाला कहा है।

कैवर्त- आसाम की एक घाटी मे कैवर्त-नामक एक परिगणित जाति है। मनु[88] ने कैवर्त को निषाद एवं आयोगव की संतान माना है। इसे ही मनु ने भार्गव एवं दास भी कहा है, कैवर्त लोग नौकावृत्ति करते है। शंकराचार्य[89] ने दास एवं कैवर्त को समान माना है जातको मे कैवर्त को केवत (केवट) कहा गया है। मेधातिथि[90] ने इसे मिश्रित जाति कहा है।

चून्चु- मनु[91] के अनुसार मेद, आन्ध्र, चून्चु एवं मदगु की वृत्ति है जंगली पशुओं को मारना। कुल्लूकभट्ट[92] ने चून्चु को ब्राह्मण एव वैदेहक नारी की संतान कहा है।

बर्बर- मेधातिथि[93] ने बर्बरो को 'संकीर्णयोनि' कहा है। महाभारत[94] मे बर्बरो को शक, शबर, यवन, पहलब आदि अनार्य जातियों में गिना गया है।

मद्गु- मनु[95] के अनुसार यह जगली पशुओं को मारकर अपनी आजीविका चलाता है। कुल्लूकभट्ट[96] ने मनु के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह ब्राह्मण एवं बंदीनारी की सतान है।

वेण- मनु एवं बौधायन[97] के अनुसार यह वैदेहक पुरूष एवं अम्बष्ठ नारी की संतान है। कौटिल्य[98] ने वेण को अम्बष्ठ पुरूष एवं वैदेहक नारी की संतान माना है। मनु[100] ने इसे बाजा बजाने वाला कहा है। कुल्लूकभट्ट[101] ने इसे बुरूड की भॉति बास का काम करने वाला माना है।

यहाँ कुछ सीमित मिश्रित जातियों का उल्लेख किया गया है जिन पर मनुस्मृति के टीकाकार मनु से भिन्न मत रखते थे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि समय के साथ-साथ मिश्रित जातियों के समीकरण बदल रहे थे एवं ये सामान्य दृष्टि से देखे जाने लगे थे।

ब्राह्मण:

विराट पुरूष के मुख से उत्पन्न[101] होने के कारण ब्राह्मण का स्थान समाज मे सर्वोच्च माना गया[102], एवं उसका कार्यक्षेत्र बौद्धिक प्रतिभा से संबंधित किया गया। प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों को अनेक

तरह के विशेषाधिकार मिले हुए थे। मनुस्मृति में उसे सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है क्योंकि जाति की विशिष्टता से, उत्पत्ति स्थान (ब्रह्मा का मुख) की श्रेष्ठता से, अध्ययन-अध्यापन एव व्याख्यान आदि के द्वारा नियम (श्रुति-स्मृति-विहित आचरण) के धारण करने से और यज्ञोपवीत संसरकार आदि की श्रेष्ठता से सब वर्णो मे वर्णो का स्वामी माना जाता था।[103]

पूर्व मध्यकाल तक आते-आते अनेक ब्राह्मण विरोधी सम्प्रदायों - जैन एवं बौद्ध के उदय के बाद भी ब्राह्मणों ने समाज में अपना स्थान बनाये रखा। उस काल की पुस्तकों एवं अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वास्तव में समाज के एवं विचारों के शिक्षित नेता होते थे। लक्ष्मीधर ने अपने धनखण्ड[104] मे कहा है कि आदर्श दानी ब्राह्मण को वैदिक शिक्षा, ब्रह्मचर्य, सत्य, शांति एव प्रसन्नचित्त, पाप से डरने वाला, अहिंसक, पवित्र हवन इत्यादि करने वाला, धार्मिक प्रतिज्ञाओं का सूक्ष्मता से परीक्षण करने वाला, गायों की रक्षा करने वाला, लालच से परे होना चाहिए।

समकालीन साहित्य एवं अभिलेखो से पता चलता है कि कुछ ब्राह्मण साधारण जीवन व्यतीत करते थे और सादा जीवन एवं उच्च विचार के आर्दश का पालन करते थे। अपने सदाचरण का स्तर उच्च बनाये रखने के लिए ब्राह्मणों को ऐसा जीवन व्यतीत करना होता था। ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हुए लक्ष्मीधर[105] यम का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि "ब्राह्मण पैदा होना दुर्लभ भाग्य का टुकड़ा समझना चाहिए जोकि पिछले जन्म के अच्छे कर्मो का फल होता है।" किन्तु समाज में केवल अच्छे ब्राह्मण नही नहीं थे बल्कि कुछ बुरी प्रवृत्तियों वाले ब्राह्मण भी थे। राजतंरगिणी में कल्हण ने तीन बुरे ब्राह्मणों का उद्धरण दिया है।[106]

ब्राह्मण अपनी आजीविका विभिन्न तरीके से चलाते थे, इनमें से कुछ व्यवसाय ऐसे थे, जिनकी अनुमति धर्मशास्त्रों में प्राप्त थी। वेद एवं अन्य सहायक विषयों को पढाना, राजा के पुरोहित के रूप में कार्य करना इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। लक्ष्मीधर ने एक अनुच्छेद पुरोहित द्वारा की जाने वाली पूजा अर्चना को अर्पित कर दिया है जिससे राज्य विपदाओं से बचा रहे । अभिलेखों से पता चलता है कि पुरोहितों को बहुत से दान दिये गये। गहड़वाल नरेशों ने जगुसरमन[107] एवं देववरा[108] जैसे पुरोहितों को दान दिये। बैंरकपुर ताम्रपत्र से पता चलता है कि विजयसेन की रानी

बिलसादेवी ने उदयकरदेवशर्मन को भूमि के चार पाटक, तुलापुरुषदान[109] करवाने की शुल्क स्वरूप दिये गये थे। कुछ ब्राह्मणों ने ज्योतिषशास्त्र को अपनी आजीविका का साधन बना लिया था, जिनमें मग ब्राह्मण प्रमुख थे।

इस समय, ब्राह्मणों के निम्न व्यवसाय करने के भी उदाहरण मिलते है, जो साधारणतौर पर उनके करने के नहीं होते हैं। 11वी शती में अलबरूनी[110] के उल्लेखो से पता चलता है कि इस समय ब्राह्मण कपडे एवं (सुपारी) का व्यापार वैश्यो की अपेक्षा अच्छी तरह कर रहे थे।

9वीं शताब्दी के पेहोआ अभिलेख[111] से पता चलता है कि वामुख नामक ब्राह्मण घोडे का व्यापारी था। 10वीं शताबदी के सियादोनी अभिलेख[112] से पता चलता है कि धमुक नामक एक ब्राह्मण पान का व्यापारी था। बल्लालसेन[113] ने व्यापारिक ब्राह्मणों के एक संघ को ब्राह्मण जाति से निम्न कर दिया था। कथाकोषप्रकरण[114] से पता चलता है कि ब्राह्मण अच्छे कृषक भी थे। क्षेमेन्द्र[115] अपने दशावतार चरित में बताते है कि ब्राह्मण निम्नस्तर के पेशे जैसे कारीगरी, नर्तक, शराब बेचने, मक्खन बनाने, दूध, नमक इत्यादि बेचने जैसे कार्य करने लगे थे और साथ ही अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को छोडने लगे थे।

धर्मशास्त्रों एवं अर्थशास्त्र के अनुसार, ये पुरोहित मंत्री, न्यायविद् नियुक्त होते थे। भट्टलक्ष्मीधर गहडवाल वंश के गोविन्द चन्द्र के महासान्धिविग्रहिक, मत्रीश्वर थे।[116] स्कन्द उसका पुत्र सोढल और पौत्र स्कन्द एवं वर्मन चहमान राजाओं के वंशगत मंत्री थे।[117] 11वीं एवं 12वीं शताब्दी में चालुक्य, चंदेल, कलचुरी, पाल, सेन इत्यादि राजवंशों में ब्राह्मण मंत्री थे। ब्राह्मण न्यायधीश भी होते थे। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के अधीन हलायुध धर्माध्यक्ष थे।[118] लटकमेलक से ज्ञात होता है कि छोटी जगहों पर गांव इत्यादि में ब्राह्मण न्यायधीश का कार्य करते थे।

इस काल के ग्रंथो; टीकाओं एवं पुराणों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को पारम्परिक रूप से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक कानूनी विशेषाधिकार[119] प्राप्त थे। इनके आर्थिक विशेषाधिकारों में करारोपण से मुक्ति, गढ़े हुए धन का पूरा हिस्सा, ब्राह्मणों को प्राप्त कुछ विशेष उपहार इत्यादि थे। कुछ अभिलेखों[120] अलबरूनी[121] एवं सोमेश्वर[122] के उल्लेखों से करों में मुक्ति का पता चलता है। लेकिन यह विशेषाधिकार केवल श्रोत्रिय ब्राह्मणों को ही प्राप्त था।

ब्राह्मण धर्म के विभिन्न पहलुओ की व्याख्या करता था सबके पेशे एव कर्त्तव्य निर्धारित करता था, वह सभी वर्णो से आदर प्राप्त करता था। अलबरूनी के लेखो से ब्राहमणो को प्राप्त कानूनी अधिकार, जिनका उल्लेख धर्मशास्त्रों मे है, की पुष्टि होती है। वह बताता है कि ब्राह्मण जिसने किसी व्यक्ति की हत्या की है उसे केवल उपवास रखना, प्रार्थना करना तथा दण्ड स्वरूप कुछ धन देना पडता था।[123] कुछ विशेष अपराधो के लिए उन्हें कमतर दण्ड दिया जाता था, जबकि चोरी के लिए कठोर दण्ड दिया जाता था।[124]

ब्राह्मणों की सुरक्षा के लिए उनके नियम बने हुए थे[125] एक ब्राह्मण की हत्या करना पाप माना जाता था और इसे बहुत घृणित अपराध की श्रेणी में गिना जाता था[126] इतिहास में ऐसे बहुत कम उदाहरण प्राप्त होते है जब राजाओं ने ब्राह्मणो को मृत्युदण्ड दिया होगा। 12वी शती का गाजीपुर जिले से प्राप्त अभिलेख इसका अपवाद है।[127]

ब्राह्मण विरोधी सम्प्रदायों जैन, बौद्ध एवं तंत्र द्वारा समय-समय पर ब्राह्मणो के विशेषाधिकारों का विरोध किया गया लेकिन यह भी स्पष्ट है कि जिन राज्यों मे जैन एवं बौद्ध धर्म संरक्षण प्राप्त कर रहे थे उनमे ब्राह्मणों को विशेषाधिकार नहीं प्राप्त थे।

ब्राह्मण विरोधी लेखों और सम्पत्ति के आधार पर स्मृतियों के टीकाकारों ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकारो को कम करने का प्रयास किया। 9वीं शताब्दी में नेधातिथि भी धीमे स्वर मे यह कहते हैं कि साधारण या ब्राह्मण के लिए चार तरह की सुविधा की व्यवस्था की गई थी (1) धार्मिक तौर तरीके (2) चरित्र एव शिक्षा के अभाव में भी सम्मान प्राप्त करना (3) गढ़े हुए धन का पूर्ण हिस्सा प्राप्त करना (4) अपनी योग्यता के बिना उपहार प्राप्त करना। इन्हें अपनी सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा का भी आनन्द प्राप्त था, साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि उन्हें दूसरे को नुकसान पहुँचाने के कार्य की सजा एवं रोक से सुरक्षा प्राप्त थी।[128]

11वीं शताब्दी में कुल्लूकभट्ट[129] के उद्धरणों से ब्राह्मण के एक और विशेषाधिकार में कमी होती दिखाई पडती है अभी तक ब्राह्मणों को प्राणदण्ड से मुक्ति प्राप्त थी, किसी भी अवस्था में भी ब्राह्मण का वध जघन्य अपराध था। कुल्लुकभट्ट ने मनुस्मृति की टीका करते हुए कहा है कि यदि भागकर भी अपने प्राण न बचाये जा सके तो आक्रमणकारी

गुरू या ब्राह्मण या किसी भी अन्य आततायी को मारा जा सकता है। जबकि मेधातिथि[130] ने इसी सदर्भ मे मनु पर टीका करते हुए कहा हैं कि आततायी ब्राह्मण को भी मारना मना था।

क्षत्रिय:

डा0 घुर्ये का मत है कि 11वीं शती के लगभग क्षत्रियों का अस्तित्व अंधरे में था।[131] इसके लिए उन्होंने कई कारण बताये। इसका पारम्परिक कारण परशुराम की उस शपथ मे ढूंढा जा सकता है जिसमें उन्होंने पृथ्वी को क्षत्रिय विहिन बनाने की कसम ली थी। हूणों के आक्रमण एवं क्षत्रियों की पूर्ण पराजय बौद्ध धर्म का फैलाव हिन्दु राज्यों का तुर्की अफगानियो द्वारा अधिग्रहण से भी क्षत्रियों की संख्या में कमी आई। कमलाकर ने भी बुझे मन से यह स्वीकार किया है कि 7वीं शती में क्षत्रियों का अस्तित्व दुर्लभ था।[132] लेकिन अनेक अभिलेखों के प्रमाण से यह पता चलता है कि 11वीं एवं 12वीं शती में क्षत्रियों का अस्तित्व अंधकार में नहीं था। पाल साक्ष्यों से पता चलता है कि नारायण - वर्मन नाम का महासांधिविग्रहिक एक क्षत्रिय था (खलीमपुर कास्यपत्र), जबकि उत्तर भारत में अनेक क्षत्रिय जगह-जगह राज्य कर रहे थे। शाही राजवशीयों एवं अन्य क्षत्रियों ने, जब तुर्क अफगानो ने पंजाब - अफगानिस्तान का अधिग्रहण कर लिया था, कश्मीर में शरण ली थी।[133] समकालीन अभिलेखों से पता चलता है कि जयचन्द गहड़वाल[134], मदनवर्मन चंदेल[135], परमारों के अधीन ग्वालियर[136] में क्षत्रिय शासन कर रहे थे।

कृत्यकल्पतरू और ग्रहस्थरत्नाकर से क्षत्रियों के कर्त्तव्य एवं विशेषाधिकार का पता चलता है।

अन्य तीनों वर्णों की रक्षा का भार क्षत्रियों के कंधे पर था। लक्ष्मीधर[136] मनु, पराशर, पैठीनसी, हारिति, बौधायन, आपस्तम्ब, देवल का उद्धरण लेकर कहते है कि एक राजा की तरह क्षत्रियों का यह विशेष कर्त्तव्य है कि वह शस्त्र धारण करें, राज्य के लिय जो सही है उसकी करने का प्रयत्न करे।

झगडों मे मध्यस्थता करे और वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे। एक साधारण क्षत्रिय का यह कर्त्तव्य था कि वह अपनी मृत्यु तक युद्ध करता रहे और रणक्षेत्र से कभी पीठ दिखा कर न आये। जबकि देवल का मत है कि क्षत्रिय को भगवान की पूजा करनी चाहिए और स्वंय को

ब्राह्मणो की सेवा में अर्पित कर देना चाहिए। इस काल में उन्हे ब्राह्मणो के सभी विशेषाधिकार प्राप्त थे केवल अध्यापन एव यज्ञ बलिको छोडकर। वह वेदाध्ययन कर सकता था लेकिन उनमे कोई विचार प्रस्तुत नहीं कर सकता था शिक्षा के विषय क्षेत्र में युद्ध, कला, धुनर्वेद की शिक्षा भी सम्मिलित थी ।

धर्मशास्त्रों मे क्षत्रियों को केवल आपदकाल में कृषि कार्य करने की अनुमति दी गई है।[138] भोज के राज्य के समय, ग्वालियर क्षेत्र में एक क्षत्रिय मेनुकाक को हम कृषि करता हुआ पाते है[139] देवल कहते है कि क्षत्रिय को कभी भिक्षा नहीं मागनी चाहिए। लक्ष्मीधर देवल के इस विचार से सहमत होते हुए क्षत्रियों को उपहार ग्रहण करने की छूट देते है।[140] क्षत्रियों को बहुत से गांव दानस्वरूप भी प्राप्त होने के उदाहरण मिलते हैं।

सामाजिक वर्णक्रम में क्षत्रियो का स्थान निर्विवाद रूप से ब्राह्मणों के बाद ही निर्धारित हुआ है। शुकनीतिसार महाभारत के पुराने सिद्धान्त को बताती है कि (12.79 15-20) ब्राह्मण कोई पाप नहीं करता है यदि वह युद्ध में दुष्ट क्षत्रिय का वध करता है तो।[141] लेकिन जहॉ तक दण्ड का प्रश्न है क्षत्रियो को भी अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे सम्भवत. उनके हाथ में राज्य की रक्षा का भार था इसलिए उन्हें कुछ रियायतें प्राप्त थी। अलबरूनी बताता है कि चोरी करने का अपराधी ब्राह्मण अंधा किया जा सकता था जबकि एक क्षत्रिय को दांये हाथ या बांये पैर में चोट की जाती थी। इसके साथ ही उन्हें कितने भी घृणित अपराध के लिए मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था।[142] उत्तरभारत में राज्य करने वाले मुख्य राजपूत गुहिल, गुर्जर, प्रतिहार, चाम्पा, चहमान, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चंदेल, परमार, गहडवाल इत्यादि थे जो स्वंय को राजपूत कहते थे। अभिलेखों में इन्होंने अपनी उत्पत्ति माउण्ट आबू पर्वत पर वशिष्ठ द्वारा किये गये यज्ञ से बतायी है जो अग्निकुल का सिद्धान्त कहलाता है। स्मिथ को मानना है कि हूण एवं गुर्जर जैसी विदेशी जातियों के देसी सम्मिलन से इन चारों की उत्पत्ति हुई जोकि मुख्य रूप से राजपूत माने जाते है परमार, चालुक्य, चाहमान, प्रतिहार।[143] डा0 घोषाल भी स्मिथ के इस मत से सहमत नहीं है। कल्हण अपनी राजतरंगिणी में 36 मूल राजपूत जातियों का उल्लेख करता है।[144] राजपूत मूल रूप से जो भी रहे

हो उन्हे क्षत्रिय वर्ग मे ही सम्मिलित माना जाता हैं, इन्होंने सामाजिक व्यवस्था मे अपना विशेष स्थान बना लिया था।

वैश्य:

गुप्तोत्तर काल मे भूमि अनुदानो के कारण एक प्रतिष्ठित भूमिधारी की उपस्थित हो गया था । व्यापार एवं वाणिज्य में गिरावट आई, जिससे की वैश्यों को अपने वर्णकर्म के साथ-साथ अन्य वर्णो के कर्म भी अपनाने पडे। विष्णुपुराण[145] से पता चलता है कि कलयुग में वैश्यो ने व्यापार एवं कृषि मे छोड दिया होगा और अपनी जीविका सेवाओं एवं यांत्रिक कला से करते थे। इस काल की सामाजिक आर्थिक गिरावट की स्थिति अन्य ग्रंथों से भी प्रमाणित होती है। स्कन्द पुराण[146] जिससे 8वीं, 9वीं से 13वीं शती तक के भारत के इतिहास एवं संस्कृति पर प्रकाश पडता है, से पता चलता है कि कलियुग मे वाणिज्य में गिरावट आई क्योंकि वणिक वर्ग राजपुत्रो पर निर्भरता की स्थिति मे थे।

9वीं शती के जैन लेखक जिनसेन[147] ने वैश्यों को एक वणिक वर्ग के रूप में अलग करने की कोशिश की हैं। वह वैश्यों का साधारण कर्त्तव्य कृषि, व्यापार, वाणिज्य एवं पशुपालन बताता है बृहत्धर्मपुराण[148] (13वीं शती), जो मुख्यत: बंगाल की तस्वीर दिखाता है एक स्थान पर तीसरे वर्ण के पेशे के संदर्भ में केवल (व्यापार एवं वाणिज्य) को वैश्यों का पेशा बताया गया है। देवी भागवत से यह पता चलता है कि कृषि जोकि वैश्यों के मुख्य पेशे के रूप में जानी जाती थी अब सामान्य तौर पर नियमबद्ध रूप से वैश्यों से सम्बद्ध नहीं रह गयी थी।

मोटे तौर पर, 11वीं शती में वैश्यों की स्थिति में गिरावट आई। यह प्रवृत्ति कुछ क्षेत्रों में बढती भी गई, जिनका उललेख अलबरूनी[150] भी करते है कि वैश्यों की स्थिति शूद्रों के स्तर तक गिर गई थी। ये दोनों साथ-साथ कस्बे में रहने लगे थे कभी-कभी ये साथ-साथ एक घरों में रहने लगे थे, और आपस में खान-पान एवं विवाह करने लगे थे। किन्तु अलबरूनी के मत से सहमत होना कठिन हैं क्योकि शूद्रों को वर्णक्रम से हमेशा नीचे रखा गया, खान-पान में छूत-पात करना सामान्य सी बात थी इसके साथ ही अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन आम नहीं था, जिससे यह आपस में विवाह करते। इसको इस तरह समझा जा

सकता है कि कृषि, व्यापार एव वाणिज्य मे कमी आने से अपने जीविकोपार्जन के लिए वैश्यों ने शूद्रो के कर्म जैसे कारीगरी, हस्तकारी इत्यादि प्रारम्भ कर दिये होंगे जिससे दोनो वर्गो के मध्य भेद कम रह गया होगा।

वैश्यो एवं शूद्रों के मध्य भेद तो मनुस्मृति[151] एवं बौधायनधर्मसूत्र[152] के काल से चला आ रहा है। डा0 अल्तेकर एवं घुर्ये भी वैश्यों की शूद्रों के स्तर तक की निम्न स्थिति से सहमत है।[153] पूर्वमध्यकाल के लेखक देवल ने वैश्यो के पेशे मे नर्तक, गायक, वादक, कुश्ती करने वालों को सम्मिलित किया हैं, जिसका लक्ष्मीधर ने भी समर्थन किया है[154]। लक्ष्मीधर ने वैश्यों को नमक, शराब, मांस, दही, तलवार, पानी, मूर्तियाँ इत्यादि का व्यापार करने से मना किया है।[155] लक्ष्मीधर यहाँ मेधातिथि से मतभेद रखते हैं क्योंकि मेधातिथि उन्हें ज्यादातर चीजें बेचने की अनुमति देते है।[156]

वैश्यों के आपदर्धम पर मेधातिथि[157] का कथन है कि वह शूद्रो की तरह पैर प्रक्षलन करें, जूठा खाये तथा अन्य निम्न कार्य भी कर सकता था किन्तु संकट की स्थिति समाप्त होते ही वह इन कर्मों को त्याग दे। लगभग ऐसा ही मत कुल्लूकभट्ट[158] भी व्यक्त करते है कि वैश्य द्विजाति की शुश्रुषा करने और उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने जैसे निम्न कार्य केवल तभी तक कर सकता था जब तक वह संकट ग्रस्त रहता था, अपनी स्थिति सुदृढ़ होते ही वह इन कार्मो का परित्याग करके प्रायश्चित करता था।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि शूद्रो के सभी कार्य वैश्य सामान्य तौर पर नहीं करने लगे थे, ये कार्य केवल आपत्ति काल में ही अपनाये जा सकते थे। कारीगरी, गायन, वादन जैसे पेशों को वैश्यों द्वारा अपना लेने के कारण यह माना गया कि शूद्र एवं वैश्यों के मध्य भेद कम रह गया था।

शूद्र:

ब्रह्मा के पैर से शूद्र की उत्पत्ति बताकर उनके उद्भवकाल से ही उनकी निम्न स्थिति निर्धारित की गई थी। ब्रह्मा ने उसे द्विज वर्गो की सेवा के लिए निर्मित किया हैं, जिसे पूरा करना उनका परमधर्म हैं, किन्तु जैसे समय व्यतीत होता गया, उसके ऊपर अनेक अपात्रताएँ लाद दी

गई जिससे वह अन्य वर्णो के समीप भी न आ सके। मनुस्मृति में शूद्रों को काफी हेय स्थिति मे चित्रित किया गया है। जैसे - शूद्र स्पर्श से यज्ञ फलो का नाश होता है।[159] शूद्रो को राज्य कार्य में वर्जित किया गया है।[160] शूद्र कठोर वचन कहे तो जिह्वा छेदन का दण्ड दिया जायें।[161] द्विजों से द्रोह करे तो दण्ड[162] धर्मोपदेश करे तो मुखंकान में तपाया तेल डाल दें।[163] एक स्थल पर यहॉ तक कह दिया गया है कि शूद्रों का निजधन कुछ भी नहीं है।[164] इसके साथ ही शूद्र की हत्या का प्रायश्चित मात्र कुत्ते और मेढक को मारने के प्रायश्चित के समान था।[165]

धीरे-धीरे स्थिति परिवर्तित हो रही थी, समाज अब कर्मकाण्ड प्रधान होने के स्थान पर अर्थप्रधान होने लगा था, अत: शूद्र वर्ग में अब एक वर्ण के लोग सम्मिलित नहीं थे वरन् एक समान पेशे के लोग थे। इस प्रकार पेशें एव आजीविका के आधार पर शूद्रों का एक विशाल वर्ग खडा हो गया, जिसमें कृषक, कृषि मजदूर, कारीगर, शिल्पी, नौकर इत्यादि सम्मिलित हो गये। इनमें से सबसे बडा वर्ग खेतीहर मजदूरों का था, कुछ पुराणों एवं कानूनवेत्ताओं ने भी कृषि को केवल शूद्रों का पेशा बताया है।[166] जैसे ह्वेनसांग 7वीं शती में पाता है कि शूद्रों ने एक कृषक वर्ग तैयार कर लिया था जो खुदाई एवं जमीन साफ करने का कार्य करते थे।[167] 10वीं शती के यात्री इब्न खुर्दादबा ने भी यह कहा है कि शूद्र लोग पेशे से कृषि करते थे या कृषक थे।[168] यह बढ़ते हुए लौह प्रचलन के युग का प्रारम्भ था संभवत: शूद्रों ने निम्न कर्म छोड कर जमीन साफ कर उस पर खेती करना प्रारम्भ कर दिया होगा, इससे जहाँ कृषि कार्य पर वैश्यों का एकाधिकार कम हो गया था, वहीं शूद्रों की स्थिति निरन्तर उच्च होती जा रही थी।

पूर्वमध्यकाल में अब ऐसे अनेक पेशे थे जिन्हें शूद्र एवं वैश्य साथ-साथ अपना रहे थे। एक उदाहरण के लिए किनासा शब्द ले सकते हैं, जिसका उल्लेख ऋग्वेद[169] में कृषक के संदर्भ में प्राप्त होता है विष्णुधर्मोत्तर[170] पुराण एवं भविष्य पुराण[171] में भी किनासा वैश्य वर्ण के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृषि या कृषक वैश्य वर्णी लोग ही थे। इसमें साथ ही वैजयन्ती[172] में किनासा शब्द की एक स्थल पर व्याख्या कृषक के रूप में की गई हैं दूसरे स्थल पर वैश्य वर्ग के संदर्भ में। किन्तु 8वीं शताब्दी के टीकाकर

असहाय एवं नारद स्मृति (1 181) में किनासा शब्द शूद्र के लिए प्रयुक्त हुआ है इन परिस्थितियो में कहा जा सकता है कि जो भूमिधारी सम्पन्न कृषक वर्ग था वह वैश्य वर्ण में सम्मिलित था, और जो भूमिहीन थे, जिनके पास पर्याप्त साधन नहीं थे, उनका स्तर निम्न निर्धारित किया गया था । उन्हें शूद्र माना गया जबकि ये भी कृषि कार्य ही करते थे।

इसके साथ ही अन्य उद्धरणों एवं प्रमाणों से पता चलता है कि शूद्रों की स्थिति पूर्वमध्यकाल में पहले की तुलना में काफी सुधर गई थी। अब मात्र जन्म ही शूद्र होने का लक्षण नहीं रह गया था। लक्ष्मीधर[173], हारिती का उद्धरण लेते हुए बताते है कि शुद्व मस्तिष्क वाला शूद्र भी शैतान मस्तिष्क वाले ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य की तुलना में श्रेष्ठतर है। इस काल में उसकी कुछ अपात्रतायें समाप्त कर दी गई थीं। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते है कि द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को आवश्यकता पडने पर नीच शूद्र से भी निरन्तर श्रद्वापूर्वक मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[174] उसने आगे कहा है कि श्रुति - स्मृति - विहित धर्म की अपेक्षा अन्य लौकिक धर्म चाण्डाल भी कहे तो उसे मानना चाहिए। यदि चाण्डाल भी 'इस स्थान पर बहुत देर तक मत रूको', 'इस जल में स्नान न करो' आदि वचन कहे तो उसे स्वीकार करना चाहिए। वह चण्डालोक्त वचन भी एक प्रकार का धर्म अर्थात व्यवस्था है और मनूक्त 'धर्म' शब्द 'व्यवस्था के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि शूद्र का सद्गुण और ज्ञान मध्यकालीन व्यवस्थाकारों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा था।

एक स्थल पर मनुस्मृति के टीकाकार[175] मेधातिथि एवं विश्वरूप का कहना था कि शूद्रों को न तो गुलाम बनाया जा सकता था और न ये ब्राह्मण पर निर्भर हो सकते थे। वह व्याकरण तथा अन्य विज्ञानों का अध्यापक हो सकता था तथा स्मृतियों में निर्दिष्ट उन सभी तुल्यों को सम्पन्न कर सकता था जो अन्य वर्गो के लिए निर्दिष्ट किये गये थे, वह देवताओं के नाम ले सकता था और नामकरण आदि संस्कार भी सम्पन्न कर सकता था लेकिन मंत्रोच्चांर के बिना। बृहत्धर्म पुराण[176] से पता चलता है कि शूद्र व्याकरण व अन्य शास्त्र पढ़ा सकता था इसके साथ ही वह पुराण पढ़ सकता था और उसके अर्थ की व्याख्या कर सकता था। लक्ष्मीधर अपने गृहस्थखण्ड में इन सब अधिकारों से सहमत नहीं

होते है व्यास का उद्धरण देते हुए रहते है कि शूद्र मांस बेच सकता है उसे उपनयन एव अग्निहोत्र सस्कार करने की आवश्यकता[177] नहीं है लेकिन अन्यत्र नियतकलाकन्द (कृत्यकल्पतरू के) में लक्ष्मीधर भोजन मे छूतपात को दूर करने की अनुमति देते है। मनु के एकदम विपरीत वह रहते है कि शूद्र कोई पाप नही करता है यदि एक ब्राह्मण का चावल वह अपने घर में पका लेता है।[178]

मेधातिथि ने शूद्रो की द्विज की सेवा में सिद्धान्त से असहमति व्यक्त की और उन्हें निजधन रखने का अधिकार दिया था।[179] एक स्थल पर मेधातिथि कहते हैं कि शूद्र ब्राह्मण की सेवा कर एव गृहस्थाश्रम मे रहते हुए संतान्नोत्पत्ति करके मोक्ष छोडकर सभी कुछ प्राप्त कर सकता है।[180]

पारिवारिक जीवन के कर्त्तव्यों का जहाँ तक प्रश्न हैं, कुछ व्यवस्थाकारों ने शूद्रों[181] को पाक - यज्ञ, पंच्चमहायज्ञ एवं सस्कार बिना मत्रोच्चार के करने की अनुमति दी है। लेकिन पुरातनपंथी विचारधारा उन्हें केवल पाकयज्ञ एव विवाह संस्कार करने की अनुमति देती हैं। यह नि:सदेह रूप से शूद्रों पर अपात्रता लादने का एक प्रयास था। लेकिन यह वह समय था, जब उच्च वर्ण भी संस्कार विधिवत ढंग से करने पर ध्यान नहीं दे रहा था।

यदि अपात्रताओं एवं अनुमति की दृष्टि से देखा जाए तो वह एकदम स्वतन्त्र नहीं थे, फिर भी गुलामों की तुलना में उनकी स्थिति बहुत ही अच्छी हो चुकी थी।

विपत्तिग्रस्त शूड के लिए मनु ने कारूकर्म (सूप इत्यादि बनाने का कार्य) करने की अनुमति दी है। मेधातिथि ने इस कारूकर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि भोजन बनाने, कपड़ा बुनने और बढ़ईगिरी के कार्य सम्पन्न करके शूद्र अपनी भार्या और संतान का पोषण कर सकता था। संकटकाल आने पर शूद्र का अन्य कर्म अपनाने के लिए कुल्लूकभट्ट ने भी निर्देश दिया हैं। उसके अनुसार वह भोजन पकाने का काम, तक्ष, चित्रकारिता जैसी शिल्पकलाओं का कार्य कर सकता था। इससे स्पष्ट होता है कि संकट काल में भी शूद्र को आजीविका के लिए कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता रहा होगा।

अस्पृश्यता:

अस्पृश्यता केवल जन्म से ही नहीं उत्पन्न होती इसके उद्‌गम के कई स्रोत थे उदाहरणार्थ - भयकर पापों अर्थात् दुष्कर्मो से, ब्रह्म हत्या करने वाले, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोगों को जाति से बाहर कर देने, खान पान का सम्बन्ध न रखने, उन्हें स्पर्श न करे, उनकी पुरोहिती न करेने और उनके साथ कोई विवाह संबंध न स्थापित करने से वे लोग वैदिक धर्म से विहीन हो जाते थे । दूसरा कारण धर्म संबंधी घृणा एवं विद्वेष। अस्पृश्यता उत्पन्न होने का तीसरा कारण हैं कुछ लोगों का, जो साधारणत: अस्पृश्य नहीं हो सकते थे कुछ विशेष व्यवसायों का पालन करना। चौथा कारण है कुछ परिस्थितियों में पड जाना, यथा रजस्वला स्त्री के स्पर्श, शवस्पर्श[182] आदि। अस्पृश्यता था पांचवा कारण है - म्लेच्छ या कुछ विशिष्ट देशों का निवासी होना।

अस्पृश्यता के पीछे जो मान्यता एव धारणा पायी जाती है वह मात्र धार्मिक एवं क्रिया संस्कार संबंधी है। प्राचीन समय में बहुत से व्यवसाय वंशानुक्रमिक थे, अत: क्रमश: यह विचार ही दृढ होता गया कि वे लोग जो ऐसी जाति के होते है, जो गदा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य है। धीरे-धीरे स्थिति ऐसी होती गई कि उस जाति के लोग चाहे वह गंदा व्यवसाय अपनाये या न अपनाये उन्हें अस्पृश्य ही माना जाता है। प्राचीन काल मे व्यवसाय से लोग स्पृश्य एवं अस्पृश्य माने जाते थे।

गौतम ने लिखा है कि चाण्डाल ब्राह्मण से शूद्र द्वारा उत्पन्न संतान है अत: वह प्रतिलोमों में अत्यन्त गर्हित प्रतिलोम है[183] आपस्तम्ब ने लिखा है कि चाण्डालस्पर्श पर सर्वत्र स्नान करना चाहिए।[184] जबकि मनुस्मृति ने केवल आन्ध्र, मेद, चाण्डाल एवं श्वपच को गांव के बाहर तथा अन्त्यावसायी को श्मशान में रहने को कहा हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्य हीन जातियाँ गांव में रह सकती थी[185] मनु की व्याख्या में मेधातिथि का स्पष्ट कहना है कि प्रतिलोमों में केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य हैं, अत: प्रतिलोमों यथा सूत, मागध, आयोगण, वैदेहक एवं क्षत्ता के स्पर्श से स्नान करना आवश्यक नहीं[186] यही उद्धभावना इस संदर्भ में कुल्लूक की भी है। इनकी स्थिति में सुधार इस बात से स्पष्ट है कि अब इनके छूने से स्नान आवश्यक नहीं रह गया था।

यही दूसरी तरफ कुछ कठोर दृष्टि रखने वाले व्यवस्थापक भी दिखाई देते हैं हेमचन्द्रकृत देसीनाममाला में उल्लिखित है कि चाण्डाल 'झांझरी' व डोम 'खिर्खी' नाम की एक शाखा हाथ में लेकर आवाज करते चलते थे जिससे लोग उनके सम्पर्क में आने से बच जाये।[187] अपरार्क एव विज्ञानेश्वर[188] के अनुसार चाण्डाल की छायामात्र से मनुष्य अपवित्र हो जाता है यदि वह गाय की पूंछ की दूरी तक भी पहुंच गया हो। जबकि मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि एवं कुल्लूकभट्ट ने ऐसे विचार प्रस्तुत नहीं किये है।

अस्पृश्य शब्द का प्रयोग विष्णुधर्म सूत्र एव कात्यायन ने भी किया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों की सम्मति से चाण्डालों, म्लेच्छो, पारसीकों को अस्पृश्यों की श्रेणी में रखा गया है। अति (267-269)[190] ने लिखा है कि यदि द्विज चाण्डाल, म्लेच्छ, सुरापात्र, रजस्वला को स्पर्श कर ले तो (उसे बिना स्नान किये) भोजन नही करना चाहिए, यदि भोजन करते समय स्पर्श हो जाये तो भोजन बंद कर देना चाहिए और भोजन को फेंककर स्नान कर लेना चाहिए। आजकल अन्त्यजों में म्लेच्छों, धोबियों, बॉस का काम करने वालों, मल्लाहो, नटों को कुछ प्रांतों में अस्पृश्य नहीं माना जाता। यही बात मेधातिथि एवं कुल्लूकभट्ट के समय में भी पायी जाती थी।

स्मृतिकारों ने कुछ जातियों की अस्पृश्यता के विषय में अपवाद भी बताये हैं। अत्रि[191] ने लिखा है कि मंदिर देवमाता, विवाह, यज्ञ एवं सभी उत्सवों में किसी अस्पृश्य का स्पर्श अस्पृश्यता का द्योतक नहीं हो सकता। यही बात शतातप, बृहस्पति आदि ने भी कही है। स्मृत्यर्थसार ने उन स्थानों के नाम गिनाये हैं जहाँ छुआछूत का कोई भेद नहीं माना जाता - संग्राम में, हाट (बाजार) के मार्ग में, धार्मिक जुलूसों, मंदिरों, उत्सवों, यज्ञों, पूत स्थलों, आपत्तियों में ग्राम या देश पर आक्रमण होने पर, बड़े जलाशय के किनारे, महान पुरूषों की उपस्थिति में, अचानक अग्नि लग जाने पर या महान् विपत्ति पडने पर स्पर्शास्पर्श का ध्यान नहीं दिया जाता।[192] यहाँ तक कि इस ग्रंथ में अस्पृश्यों द्वारा मंदिर प्रवेश की बात भी लिखी गई है।

यदि तथाकथित अछूत लोग पूजा कर सकते थे। जबकि यह कहा जाता है कि प्रतिलोम लोग धर्महीन है।[193] तो इसका तात्पर्य यह है

कि वे उपनयन आदि वैदिक क्रिया सस्कार नही कर सकते; वास्तव में वे देवताओं की पूजाकर सकते थे। निर्णय सिन्धु द्वारा उद्धृत देवी पुराण के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि अन्त्यज लोग भैरव का मंदिर बना सकते थे। भागवतपुराण[194] मे आया है कि अन्त्यावसायी लोग हरि के नाम या स्तुतियों को सुनकर उनके नाम का कीर्तन कर, उनका ध्यान कर पवित्र हो सकते है; किन्तु जो उनकी मूर्तियों को देखें या स्पर्श करें वे अपेक्षाकृत अधिक पवित्र हो सकते है। दक्षिण भारत मे अलवार वैष्णव संतों मे तिरूवाण अलवार अछूत जाति के थे और नम्मालवार तो वेल्लाल थे। मिताक्षरा[195] में लिखा है कि प्रतिलोम जातियॉ (जिनमें चण्डाल भी सम्मिलित है) व्रत कर सकती है।

नारी (स्त्री) दशा:

"स्त्री दशा'' किसी भी समाज के सभ्य होने का मापदण्ड रहा है । उत्तर वैदिक काल से लेकर अद्यतन कालतक सामान्यत: कन्या जन्म खेद का विषय रहा है। किन्तु परिवर्तित युगों के साथ-साथ उनकी स्थिति में भी परिवर्तन होता रहा। जहाँ ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को पूज्यनीय समझा जाता था, उन्हें शिक्षा का पूरा अवसर दिया जाता था, उनका विवाह परिपक्व आयु में उनकी सहमति से किया जाता था।[196] वहीं उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति अवनति की ओर अग्रसरित होने लगी। उसके सामाजिक और धार्मिक अधिकार तो अवश्य बने रहे किन्तु उसके व्यक्तिगत गुणों के प्रति संदेह व्यक्त किया गया। उसके लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग होने लगा, उसे असत्यभाषी और अनृत कहा गया।[197] किन्तु अभी भी उसपर सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रण और स्वच्छन्दता में कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगा था। सामाजिक उत्सवों और धार्मिक पर्वो पर स्त्रियाँ उन्युक्त होकर सम्मिलित हुआ करती थी। धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के युग में स्त्री की दशा पूर्णत. पतनोन्मुख हो गई। स्त्री के साथ भोजन करने वाले पुरूष को गर्हित आचरण करने वाला व्यक्ति घोषित किया गया।[198] तथा उस स्त्री की प्रशंसा की गई जो 'अप्रतिवादिनी' (प्रतिवाद न करने वाली) थी। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया तथा उसके शरीर पर उसके पति का स्वत्व माना गया।[199] मनु जैसे स्मृतिकारों ने उसे स्वतन्त्र न रहने के लिए निर्देशित किया तथा यह विचार प्रकट किया कि स्त्री कभी भी स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है। जब

तक वह कन्या रहे, उस पर पिता का सरक्षण रहे, जब विवाह हो जाए तब उस पर भर्त्ता (पति) का सरक्षण रहे और जब वह वृद्ध हो तब उस पर पुत्र का संरक्षण रहे।[200] पूर्वमध्य युग तक आकर उसके सारे अधिकार सीमित कर दिये गये और वह बंधन में कर दी गई। उसकी स्वतंत्रता पर नियन्त्रण लगा दिये गये। विज्ञानेश्वर ने शेख का उद्धरण देकर, मेधातिथि[201] एवं कुल्लूकभट्ट[203] ने मनु पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि वह घर से बिना किसी से कहे और बिना चादर ओढे बाहर न जाय, शीघ्रतापूर्वक न चले, बनिये, सन्यासी, वृद्ध, वैद्य के अतिरिक्त किसी परपुरूष से बात न करे, अपनी नाभि खुली न रखे, एडी तक वस्त्र पहने अपने स्तनों पर से कपडा न हटाये, मुंह ढंके बिना न हँसे, पति या संबंधियों से घृणा न करे। वह धूर्त, वेश्या अभिसारिणी, सन्यासिनी, भाग्य बताने वाली, जादू टोना या गुप्त विधियॉ करने वाली दु:शील स्त्रियों के साथ न रहे। इनकी संगति से कुलगत स्त्रियों का चरित्र भ्रष्ट होता है। इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दृष्टियों से उसे प्रतिबन्धित कर दिया गया।

स्त्रियों का शिक्षा:

यह एक विचित्र तथ्य है कि मध्य एवं वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा-संबंधी व्यवस्था कही उच्चतर थी। वैदिक युग में स्त्रियो की शिक्षा अपनी उच्चतम सीमा पर थी। इस युग में पुत्र की तरह पुत्री का भी विद्यारम्भ से पूर्व उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था। तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थीं। ऋग्वेद में उल्लिलिखित है कि कतिपय बिदुषी स्त्रियों ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के प्रणयन में योगदान प्रदान किया था। उस युग में बौद्धिक योगदान करनेवाली ऐसी बीस कवियित्रियाँ थी रामेशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, सिकता, निबावरी, घोषा, लोपामुद्रा आदि पंडिता स्त्रियाँ इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। पति के साथ समान रूप से वे यज्ञ में सहयोग करती थी।[204] सूत्र काल तक भी स्त्रियाँ यज्ञ सम्पादित किया करती थीं। कन्या के लिए उपनयन संस्कार का विधान मनु ने भी किया है।[205] इसके साथ ही मनु ने यह भी कहा है कि पति की सेवा ही उसका आश्रम निवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान है।[206] कालान्तर में

शूद्रो की ही तरह वेदों के पठन पाठन और यज्ञो में सम्मिलित होने के अधिकार से भी वह वंचित कर दी गई। शिक्षा के अवसर भी उसके लिए कम होने लगे। वह केवल माता, पिता, भाई, बन्धु आदि से अपने घर पर ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। पूर्वमध्य युगीन भाष्यकारों मेधातिथि विश्वरूप और अपरार्क भी यही व्यवस्था है । मेधातिथि ने मनु पर टीका करते हुए एक मनोरजक प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मचारी लोग भिक्षा मांगते समय स्त्रियों से 'भवति भिक्षां देहि' वाला संवाद क्यों बोलते है, जब कि वे यह भाषा नही जानतीं? इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्य काल मे स्त्रियो की शिक्षा किस स्तर तक जा चुकी थी। शिक्षा का यह अवरोध मध्यम वर्गीय समाज में ही था, अभिजात्य वर्ग में सुसस्कृत एवं सुबोध स्त्रियो की कमी नहीं थी। काव्यमीमांसा से पता चलता है कि वे प्राकृत और संस्कृत मे दक्ष होती थी।[207] राज्यश्री के लिए बाण ने 'हर्षचरित[208] में लिखा है कि वह 'नृत्यगीत' आदि में विदग्ध सखियों के बीच सकल कलाओं का प्रतिदिन अधिकाधिक परिचय प्राप्त करती हुई शनै:शनै: बढ रही थी। गाथासप्तशती[209] से भी अनेक विदुषी स्त्रियों का पता चलता हैं रेखा, रोहा, माधवी. अनुलक्ष्मी, पाहई, बद्धवही, शशिप्रभा जैसी कवयित्रियॉ अपनी प्रतिभा और कल्पना शक्ति के लिए विख्यात थी। कविवर राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी उत्कृष्ट कवयित्री और टीकाकार थी।[210] मंडनमिश्र और शंकर के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णयिका मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी थी, जो तर्क, मीमांसा, वेदांत और साहित्य में पूर्ण पारंगत थी।[211] ऐसी भी अनेक स्त्रियाँ हुई है जिन्होंने अकेले पूरे शासन का भार अपने कन्धे पर उठाया था तथा कभी-कभी अल्प वयस्क पुत्र की संरक्षिका बनकर शासन प्रबंध का कुशल संचालन किया। प्राचीन काल से ही ऐसी भारतीय स्त्रियों के उदाहरण मिलने लगते है। यूनानी आक्रमण के समय सिकन्दर का प्रतिरोध मत्सग की महारानी ने पति की मृत्यु के बाद स्वयं किया था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में आन्ध्र-सातवाहन वंशीय राजमाता नयनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र का संरक्षण करते हुए स्वंय शासन का भार संभाला था। इसी प्रकार वाकाटक वंश की रानी और गुप्तवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता (चौथीसदी) ने अपने पति की मृत्यु

के पश्चात् पुत्र की अल्पवयस्कतावश स्वय शासन किया था। पूर्वमध्यकालीन स्त्रियो के भी कुछ उदाहरण इस संदर्भ मे प्राप्त होते है। राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि कश्मीर मे सुगंध और दिद्दा नामक रानियॉ अपने राज्यकार्य एव प्रशासन के लिए विख्यात थी।[217] गुजरात की चालुक्य वंशीय रानियॉ अक्का देवी ओर मैला देवी ने भी निष्ठापूर्वक शासनभार सभाला। इन उद्धरणों से स्पष्ट हैं कि समय-समय पर जब भी आवश्यकता पडी स्त्रियों ने शासन कार्य सुचारू रूप से किया।

विवाह:

स्त्रियों की स्थिति के सदर्भ में उनके विवाह के बारे में जानकारी आवश्यक थी क्योंकि विवाह से दो तथ्यो का पता चलता हैं। प्रथम तो विवाह की आयु इससे ज्ञात हो जाता था कि समाज में स्त्रियों की शिक्षा का स्तर क्या है अल्पआयु मे विवाह होने से स्त्रियों के शिक्षा के अवसर कम हो जाते थे। द्वितीय विवाह का प्रकार - इससे स्पष्ट होता है कि समाज में स्त्रियों को कितनी स्वतन्त्रता प्राप्त थी, उनकी इच्छाओं का कितना आदर किया जाता था। यद्यपि सभी कालों में, भिन्न-भिन्न प्रांतों एवं भिन्न-भिन्न जातियों मे विवाह-अवस्था पृथक-पृथक मानी जाती रही है।

ऋग्वैदिक काल में विवाहावस्था के विषय में स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त उद्धरणों से पता चलता है कि कन्याओं का विवाह अपेक्षाकृत बडी अवस्था में होता था। एक स्थल[213] पर आया है कि जब कन्या सुन्दर है और आभूषित है तो वह स्वंय पुरूषों के झुण्ड में से अपना मित्र ढूंढ लेती है। इससे स्पष्ट है कि लडकियॉ इतनी प्रौढ़ होने पर विवाह करती थीं जब कि वे स्वंय अपना पति चुन सकें। गृहसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के अनुशीलन से पता चलता हैं कि लडकियॉ युवावस्था के बिल्कुल पास पहुँच जाने या उसके उपरान्त ही विवाहित होती थीं। अधिकांश गृहसूत्रों में एक क्रिया का वर्णन है जिसे चतुर्थीकर्म कहते है। यह क्रिया विवाह के चार दिनों बाद सम्पादित होती है।[214] यह पश्चात्कालीन गर्भाधान का द्योतक है। विवाह के चार दिनों के उपरान्त के संभोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि उन दिनों भी युवती कन्याओं का विवाह सम्पादित होता था। गौतम[215] के अनुसार युवती होने के पूर्व

ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए। ऐसा न करने पर पाप लगता है। इसके साथ यह भी कहा है कि युवती हो जाने पर यदि पिता कन्या का विवाह करने में अशक्त हो तो स्वय कन्या अपना विवाह रच सकती है। मनु[216] के मत से 30 वर्ष का पुरूष 12 वर्ष की लडकी से या 24 वर्ष का पुरूष 8 वर्ष की लडकी से विवाह कर सकता है। लगभग दूसरी शती आते कन्या का विवाह युवती होने से पूर्व कर देना आवश्यक हो गया था पराशर[217] के मत से 8 वर्ष की लडकी गौरी, 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या तथा इसके ऊपर रजस्वला कही जाती है। यदि कोई 12 वर्ष के उपरान्त अपनी कन्या को न ब्याहे तो उसके पूर्वज प्रति मास उस कन्या का ॠतुप्रवाह पीते है। माता-पिता तथा ज्येष्ठ भाई रजस्वला कन्या को देखने से नरक के भागी होते हैं। यदि कोई ब्राह्मण उस कन्या से विवाह करे तो उससे सम्भाषण नही करना चाहिए। उसके साथ पंक्ति में बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए और वह वृषली का पति हो जाता है।[218] पूर्वमध्यकाल में भी कमोवेश यही स्थिति थी। कथासरित्सागर[219] में सोमदेव कहते हैं कि उस पाप से कैसे बचा जा सकता है जो पुत्री का विवाह न करने से प्राप्त हो रहा है। क्योंकि कन्या के पिता का घर उसके केवल बाल्यावस्था में ही रहने के लिए उचित स्थान है; यदि कन्या अविवाहित ही रजस्वला हो जाती है तो उसके संबंधी नरक के भागीदार होते है और वह जातिच्युत समझी जाती है।

संभवत: इस काल में अविवाहित कन्याओं का क्रय-विक्रय होने लगा था तभी इस युग में कन्याओं के विक्रय को बहुत बुरी दृष्टि से देखा गया।[220] अग्निपुराण[221] में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक व्यक्ति तो उसकी जाति से च्युतकर दिया गया क्योंकि वह एक अन्य व्यक्ति से उसकी पुत्री का सौदा कर रहा था।

समाज में कुवाँरी कन्याओं को भी उच्च स्थान प्राप्त था जो आजीवन कुवाँरी रहती थी। यदि कोई उनको बदनाम करना चाहे तो उसके ऊपर दण्ड लगाया जाता था। मनु[222] ने इसके लिए एक सौपण का विधान किया है। जबकि मेधातिथि[223] का कथन है कि मनु द्वारा लगाया गया दण्ड काफी कम है, यदि बदनाम करने का प्रयास गहरा है यदि उसके कुवंरत्व की पवित्रता पर चोट की जाती है तब अपराधी को कठोर

दण्ड मिलना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनु और 9वी शती के उसके टीकाकार आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने वाली स्त्रियों के सम्मान के लिए कितने सजग थे।

पत्नी के रूप मे:

समाज में स्त्रियों को पत्नी के रूप में क्या स्थान प्राप्त थी? इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है। अनेक स्थलों[224] पर पत्नी पति की अर्द्धांगिनी कही गई है। वैदिक काल में स्त्रियो ने ऋग्वेद की ऋचाये बनायीं, वेद पढे तथा पतियों के साथ धार्मिक कृत्य किये । कामसूत्र[225] ने स्त्रियों को पुरूषो के समान माना है। एक-दो अपवादों को छोड़कर स्त्रियों को किसी भी दशा में मारना वर्जित था। हिन्दू समाज में विवाहित स्त्री का दूसरे पुरूष के साथ गमन घोर पाप समझा गया है तथा ऐसी त्रुटि के लिए व्यवस्थाकारों ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाकर प्रायश्चित करने का निर्देश दिया है। गौतम[226] एवं मनु[227] ने व्यवस्था दी है कि यदि स्त्री अपने से नीच जाति के पुरूष से अवैध रूप से संभोग करे तो उसे कुत्तो द्वारा नुचवा कर मार डालना चाहिए। आगे चलकर इस दण्ड को और सरल कर दिया गया और केवल परित्याग का दण्ड दिया जाने लगा।[228] बौधायन के विचार से दुश्चिरिता स्त्री की शुद्धि प्रति मास होने वाले उसके रजस्राव से हो जाती है जिससे उसका पाप और मल दूर हो जाता है।[229] अत्रि[230] एवं देवल[231] जैसे स्मृतिकारों ने यह कहकर अति उदारता का परिचय दिया कि यदि कोई स्त्री परजाति के पुरूष से संभोग कर ले और उसे गर्भ रह जाय तो वह जातिच्युत नहीं होती केवल बच्चा जनने या मासिक धर्म प्रकार होने तक अपवित्र रहती है। पूर्वमध्य काल आते-आते उदारवादी विचारों के साथ कुछ कठोरता भी दृष्टिगत होने लगी क्योंकि याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा[232] में कहा है कि यदि स्त्री अपनी दुश्चरित्रता दुहराये तब उसका परित्याग कर देना चाहिए। किन्तु शूद्र के साथ भेदभाव वैसा ही था। शूद्र के साथ व्यभिचार करने वाली ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की स्त्रियों को यौन संबंध से संतान न हो तो प्रायश्चित से वे शुद्ध की जा सकती है किन्तु दूसरे प्रकार से नहीं।[233] अब पत्नी के त्याग से यह अर्थ नहीं कि उसका परित्याग कर देना चाहिए बल्कि धार्मिक और दाम्पत्य कृत्यों से उसे अलग कर देना था। व्यास के विचार से तत्कालीन उदारवादी तथ्य

प्रकट होते है जिनके अनुसार दुश्चरित्रा आगामी ऋतुकाल के पश्चात् पवित्र हो जाती है। तदनंतर उसके साथ पूर्ववत् व्यवहार करना चाहिए।[234]

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे जहाँ व्यभिचारिणी स्त्री के लिए कुत्ते से नुचवा कर मरवा डालने का विधान था। वहीं पूर्वमध्य काल में इस विचारधारा मे काफी ढील आ गई। अब कैसी भी व्यभिचारिणी स्त्री के लिए मृत्युदण्ड नहीं था, केवल परित्याग था वह भी अगामी ऋतुकाल तक के लिए यहाँ तक शूद्र से संभोग होने पर भी व्यभिचारिणी स्त्री क्षम्य थी यदि उसे इस संभोग से गर्भ न ठहर गया हो। इसे एवं उपपातक के रूप में लिया गया और पत्नी द्वारा उपयुक्त प्रायश्चित करने पर क्षम्य हो सकता है।

स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार

पुत्री रूप में:

प्राचीन काल से आज तक कभी भी स्त्रियाँ पूर्ण रूप से आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर नहीं हुई। इसलिए प्राचीन व्यवस्थाकारों ने सम्पत्ति में उनका हिस्सा माना है। स्त्री का सम्पत्ति में अधिकार तीन रूपों में संभव था पुत्री का पिता की सम्पत्ति में, पत्नी का पति की सम्पत्ति में एवं विधवा का परिवारिक सम्पत्ति में हिस्सा। ऋग्वैदिक काल से ही सम्पत्ति में उनका हिस्सा रहता था बौधायन धर्मसूत्र[235] के अनुसार परिवार में वह पुत्र से किसी प्रकार कम नहीं समझी जाती रही। ऋग्वेद[236] में उल्लिखित है कि पुत्री दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ समझी जाती थी ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर दिया है कि अपने भाई के न रहने पर वह अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी मानी जाती थी। इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में पिता की सम्पत्ति में विशेष परिस्थितियों में पुत्री का हिस्सा माना जाता था। दूसरी सदी ई0पू0 में आकर स्त्री शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लग गए, जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार भी कम हो गया। इस समय के धर्मशास्त्रकारों ने पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार को, भाई के न रहने पर अस्वीकार कर दिया । आपस्तम्ब[238] ने पुत्री के अधिकार से ज्यादा सपिण्ड या गुरू या शिष्य के अधिकार को महत्व दिया। उन्होंने यह व्यवस्था दी कि

उत्तराधिकारी के अभाव में जब गुरू - शिष्य या सपिण्ड न हो तब ही पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है, यद्यपि उसने पुत्री को उत्तराधिकारी न स्वीकार करके सारी सम्पत्ति धर्मकार्य मे लगा देने के लिए निर्देश दिया है। वसिष्ठ[239], गौतम[240] एव मनु[241] ने भी उत्तराधिकारिणी के रूप में पुत्री के अधिकार और उसके उत्तराधिकारी के अधिकार को नहीं स्वीकार किया है, जबकि दूसरे शास्त्रकारो के एक वर्ग ने स्त्री के अधिकार को उदारतापूर्वक स्वीकार किया है। कौटिल्य[242] ने पुत्री के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हुए कहा है कि अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकार मिलना चाहिए, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले। याज्ञवल्क्य[243] पुत्री के अधिकार के मत का समर्थन करते हुए दृढ हुए कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है। बृहस्पति[244] एवं नारद[245] ने भी पुत्री के अधिकार पर ही बल देते हुए कहा कि क्या पुत्री अपने पिता की पुत्र के समान संतान नहीं है? फिर पुत्र के न होने पर उसके उत्तराधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है इस आधार पर कात्यायन[246] जैसे व्यवस्थाकारों ने अपने विचारों का विकास किया तथा पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होनेका मत प्रतिपादित किया।

अलबरूनी[247] ने भी पूत्र के अभाव में पिता की सम्पत्ति में पुत्री के उत्तराधिकारिणी होने के नियम की पुष्टि की है । जीमूतवाहन ने दायभाग[248] एवं विज्ञानेश्वर[249] ने मिताक्षरा में कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की संस्तुति की है। मनुस्मृति पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[250] भी कहते है कि अविवाहित कन्या एक चौथाई, आधा या अपने भाई के बराबर हिस्सा प्राप्त करती है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक था कि कन्या जीवनपर्यन्त अविवाहित रहे। इसी प्रकार विष्णु[251] और नारद[252] ने कन्या के हिस्से का समर्थन तो किया है; किन्तु उसके द्वारा अपने हिस्से को ले जाने का अनुमोदन नहीं किया है।

विधवा रूप में:

विधवा का सम्पत्ति में क्या अधिकार होता है ? इसपर व्यवस्थाकारों के भिन्न-भिन्न मत है। यद्यपि वैदिक साक्ष्य इसके विरूद्ध है। संहिताओं[253] और ब्राह्मण ग्रथों[254] में पति की सम्पत्ति पर विधवा के अधिकार को स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरी सदी ई0पू0 तक विधवा के सम्पत्ति पर अधिकार को मान्यता नहीं मिली थी। आपस्तम्ब[255] ने यह

मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव में उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड व्यक्ति होता है, इसके न रहने पर मृत व्यक्ति के आचार्य या उसके न रहने पर उसका अन्तेवासी सम्पत्ति का अधिकारी होता है। मनु[256] के अनुसार पुत्र के अभाव में पुरूष के धन का भागी पिता या भाई था। मनु इसमें आगे कहते हैं कि अगर ऐसा कोई उत्तराधिकारी नही था तो सपिण्डों में निकट संबंधी मृतक के धन का भागी था तथा इसके अभाव में क्रमशः समानोदक (सजातीय), आचार्य तथा शिष्य मृत व्यक्ति के धन का भागीदार था।[257] मनु के पर भास्य करते हुए मेधातिथि[258] ने लिखा है कि सम्पत्ति मे विधवा कहीं भागीदार नहीं होती। इसके साथ ही एक उदारवादी विचारधारा भी चल रही थी जिसके अनुसार पति की मृत्यु के बाद विधवा के भरण-पोषण के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। इसी विचारधारा के समर्थक कौटिल्य[259] का मत है कि सम्पत्ति में विधवा का भी भाग होता है। गौतम[260] ने भी सपिण्डो गोत्रियों और संबंधियो के साथ विधवा के समान भाग को माना है। पूर्वमध्यकाल के व्यवस्थाकार दायभाग के रचयिता जीमूतवाहन[261] एवं मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर[262] के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करती है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकाल में निश्चय ही स्त्री के प्रति सहानुभूति और स्नेह का वातावरण निर्मित था। विशेषकर उसके आर्थिक जीवन को अधिक सुगम और स्थिर बनाने के विचार से शास्त्रकारो ने सम्पत्ति में उसके अधिकार को स्वीकार किया।

पत्नी का सम्पत्ति विषय अधिकार

स्त्रीधन:

प्राचीन काल से लेकर वर्णित काल तक के अध्ययनों से ज्ञात होता है कि पत्नी को स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति पर कोई कानूनी अधिकार नहीं था। मेधातिथि[263] ने मनु पर टीका करते हुए यहाँ तक लिखा है कि पत्नी, गुलाम और पुत्र के पास अपना कुछ नहीं होता है जो कुछ वे प्राप्त करते हैं वह अपने स्वामी से प्राप्त करते है। एक पत्नी केवल 'स्त्रीधन' नाम की सम्पत्ति पर ही पूर्ण रूप से दावा कर सकती है।[264] स्त्रीधन को दो वर्गों में बांटा गया है- सौदायिक और असौदायिक। प्रथम सौदायिक में सभी उपहार सम्मिलित हैं जो कन्या अपने मात-पिता,

सबंधियों एव पति से स्नेहवश प्राप्त करती है। इन उपहारों पर उस स्त्री का सम्पूर्ण अधिकार रहता है जो इसे प्राप्त करती है।[265] असौदायिक मे वह बडी चल-अचल सम्पत्ति शामिल होती है जो उसे उसके पति द्वारा प्राप्त होती है। स्त्री इसका अपने जीवनपर्यन्त आनन्द उठा सकती है किन्तु इसे क्रय-विक्रय या फेंकने का उसे अधिकार नहीं होता है।[266] विचारकों में 'स्त्रीधन' के अन्र्तगत कया सम्मिलित होता है? इस पर किसका अधिकार है ? इस मत पर मतभेद है। कुछ विचारकों का मत है कि इसे व्यापक दृष्टिकोण से देखना चाहिए कि इस पर स्त्री का उस सीमा तक अधिकार होना चाहिए कि उसके पति को उस पर हाथ लगाने का कोई अधिकार न रहे।[267] कात्यायन[268] इस संदर्भ में कहते है कि कोई स्त्री शादी के पहले या शादी के बाद, चाहे पति या पिता को केवल ज्ञात हो, अपने स्वामी या अपने माता-पिता से स्नेहवश प्राप्त करती है, उपहार कहलाता है (सौदायिक) और ऐसा उपहार जो वह अपने स्वभाववश प्राप्त करती है वह उसके साथ ही रहता है और कानून द्वारा भी स्त्री की सम्पत्ति घोषित है। ऐसे सम्पूर्ण स्वत्व वाली सम्पत्ति का स्वागत होना चाहिए जिसको स्त्री पूर्ण रूप से अपनी इच्छानुसार खरीद-बेच सकती है; इसमें भूमि या मकान भी सम्मिलित हो सकते है। इस सम्पत्ति के प्रयोग पर न तो पिता का, न पति का और न ही भाई का कोई कानूनी अधिकार होता है। श्रीमूतवाहन[269] ने अपने दायभाग में कहा हैं कि स्त्रीधन को बढाना अनैतिक है और उन्होंने स्त्रियों के अचल सम्पत्ति के खरीद-फरोख्त के अधिकार को कम कर दिया, जिसकी कात्यायन ने अनुमति दी थी। यह भी घोषित किया गया कि पति को कोई अधिकार नहीं है कि वह पत्नी की सम्पत्ति पर हाथ लगाये जब तक कि पति उसे उसके लिए प्रयोग करने के लिए दबाव न डाले किन्तु पति को यह ब्याज सहित लौटाना पडता था। पति अपने पुत्र को कठिनाई से निकालने में ही पत्नी की सम्पत्ति का प्रयोग कर सकता है।[270] याज्ञवल्क्य, कात्यायन एवं देवल द्वारा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं वह एक आदर्श एवं कानून के रूप में बाद के युगों तक स्वीकारे गये है। मिताक्षरा, दायभाग, स्मृतिचन्द्रिका एवं व्यवहारमयूख में उनका समर्थन किया गया है।[271]

इस तरह हम मान सकते है कि पति, पत्नी का स्त्रीधन (सौदायिक) प्रयोग कर सकता है केवल पत्नी की सहमति से । जहाँ तक

अधिकार का प्रश्न है यह केवल कठिन परिस्थिति तक ही सीमित था। इस प्रकार स्त्री को विवाह की पवित्रता के कारण यह अधिकार प्राप्त था कि एक सीमा तक पति की सब सम्पत्ति पर उसका स्वत्व हो किन्तु पति को पत्नी की सम्पत्ति पर ऐसा कोई अधिकार नही था।[272]

शास्त्रकारो ने स्त्रीधन की अधिकारिणी पुत्री को ही बताया है। इस संदर्भ मे विज्ञानेश्वर[273] का कथन है कि 'यह उचित है कि पुत्री को ही माता का स्त्रीधन प्राप्त हो; क्योंकि पुरूष का शुक्र अधिक होने से पुमान् (पुरूष) उत्पन्न होता है, स्त्री का रज अधिक होने से पुत्री; अतः कन्या में स्त्री के अवयव अधिक होने के कारण मातृधन उनको प्राप्त होता है पुत्र में पुरूष का अवयव अधिक होने से पितृधन पुत्र को मिलना है।[274] पराशर[275] ने भी लिखा है कि अप्रदत्ता (अविवाहित) कन्याओं को ही स्त्री धन मिलना चाहिए; पुत्र को नहीं। यदि कन्याएं विवाहित हों तो उनको समान भाग मिलना चाहिए। किन्तु मिताक्षरा के अनुसार दोषपूर्ण और अवगुण युक्त कन्याओं को स्त्रीधन न देने का विधान शास्त्रकारों ने किया है।

हिन्दू समाज में स्त्रीधन समाज में स्त्रियो की स्थिति की ओर संकेत करता है। स्त्री के अधिकार को लेकर दो वर्ग बन गये थे । एक उदार दूसरा अनुदार। विपत्तिकाल में, पति की मृत्यु या विछोह में जब कोई संबंधी स्त्री का साथ नहीं देता था तब यह स्त्रीधन ही उसके भरण-पोषण में सहायक होता था। अतः उदार व्यवस्थाकारों ने नारी को पुरूष के समान अधिकार प्रदान करते हुए उसके अधिकारों को स्वीकार किया है।

पत्नी के कर्त्तव्य:

याज्ञवल्क्य[275] के अनुसार पत्नी का प्रथम और सबसे जरूरी कर्त्तव्य हमेशा पति की सेवा में रहना, आज्ञा मानना और उसे सम्मान देना है। कथा सरित्सागर[277] में सोमदेव भी ऐसे ही विचार प्रस्तुत करते है। सोमदेव आगे कहते है कि कुलीन परिवार की औरतें अपने पति की पूजा करती है, पत्नियों के लिए पति ही सर्वोच्च है। एक स्त्री अपने प्रिय पति को देखभाल एवं स्नेह देकर सर्वाधिक आनंद प्राप्त करती है; और प्रश्न किये बिना पति की सभी आज्ञाओं का पालन करती है, यहाँ तक कि स्वंय के आराम की परवाह भी नहीं करती।[279] महिपाल-I के बांगध कांस्य

पत्र अभिलेख[280] से पता चलता है कि एक आर्दश पत्नी अपने पति का हृदय (पति की अन्य पत्नियों को अप्रसन्न किये बिना) अपनी की जादुई शक्ति से जीतना चाहती हैं । यह बहुत प्रचलित[281] था कि अपनी सच्ची सेवा से ईश्वर से अद्वितीय शक्तियो का उपहार प्राप्त करती है।

भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्व शक्ति सम्पन्ना मानी गई तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति का प्रतीक समझी गई है। अर्थववेद[282] के अनुसार उसे गृह की साम्राज्ञी के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यों को उसके शासन में रहने के लिए निर्देशित किया गया। शतपथ ब्राह्मण[283] एव मनुस्मृति[284] के काल तक उसका महत्व इतना बढ गया कि उसके बिना अकेला पुरूष अपूर्ण और अधूरा समझा गया। 'पुरूष' शब्द की निर्मिति स्त्री, संतान और व्यक्ति की समष्टि से मानी गई। शास्त्रकारो का कथन है कि केवल पुरूष कोई वम्तु नहीं, अर्थात् वह अपूर्ण ही रहता है, किन्तु स्त्री, स्नेह तथा संतान, ये तीनों मिलकर ही पुरूष (पूर्ण) होता है और जो पति है, वही स्त्री है, अतएव उस स्त्री से उत्पन्न संतान उस स्त्री के पति की होती है।[285] इस प्रकार स्त्री पुरूष की 'शरीरार्द्ध' और 'अर्द्धांगिनी' मानी गई तथा 'श्री' और 'लक्ष्मी' के रूप मे वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्ति और पुंजित करने वाली कही गई।[286] पुरूषों की तुलना में वह किसी प्रकार निम्न और अनुन्नत नहीं थी। नववधू श्वसुर गृह की साम्राज्ञी होती थी।[287] वह पति के साथ प्रत्येक कार्य मे सहयोग करती थी। वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी।[288] तैत्तिरीय ब्राह्मण[289] के अनुसार वस्तुत: स्त्री और पुरूष दोनों यज्ञ-रूपी रथ के जुडे हुए दो बैल है। शतपथ ब्राह्मण[290] के अनुसार यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी 'पत्नी' संज्ञा चरितार्थ करती है। तथा उसके दाम्पत्य का 'जाया' स्वरूप मूर्त करती है। शिक्षित कन्या की प्राप्ति के लिए विशेष अनुष्ठान की आयोजना की जाती थी।[291] किन्तु इस युग में धीरे-धीरे वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता बढती गई और याज्ञिक कार्यो में शुद्धता और पवित्रता के नाम पर आडम्बर बढता गया। फलस्वरूप कालान्तर में आकर स्त्रियों को याज्ञिक कार्यो से अलग रखने का उपक्रम किया जाने लगा तथा उन्हें वैदिक मंत्रों के उच्चारण के उपयुक्त नहीं माना गया। सूत्रों और स्मृतियों के

काल में आकर उनकी स्थिति और दयनीय हो गई जिससे वे अधिकारहीन, परतन्त्र और बेसहारा हो गई। मनुस्मृति[292] के अनुसार जन्म से मृत्यु तक उन्हें पुरूष के नियन्त्रण मे रखने के लिए निर्देशित किया गया। कन्या, पत्नी और माता जैसी स्थितियो मे वे क्रमश· पिता, पति और पुत्र द्वारा नियंत्रित और सरक्षित मानी गई। इस सरक्षण का कारण संभवत: हर्षचरित[293] के इस उद्धरण में मिल सकता है। कन्या किसी अनागत वर से नेय और उसकी धरोहर है, जिसको अक्षुण्ण प्रत्यर्पित करना है। यह स्मृति उसके उन्नयन काल में पिता के मन पर संताप और बोझ की तरह रहती आई है। अत: पिता अथवा अभिभावक के लिए वह यौवनारम्भ के समय से एक समस्या भी बनती गई। गुप्त युग में पुन: कन्या को शक्ति के रूप में 'प्रतिष्ठित' किया गया, उसे गौरी और 'भवानी' का रूप प्रदान किया गया। किन्तु पिता पर उसके दायित्व का बोझ सदैव रहा पूर्वमध्यकाल तक आकर उस पर नियन्त्रण और कठोर हो गए तथा उस पर पुरूष का पूर्णत: एकाधिकार मान लिया गया। धर्म और समाज के संरक्षण के बहाने स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिए अनेक ऐसी व्यवस्थाओं का नियमन हुआ जिनसे स्त्रियों की दशा निरन्तर दयनीय होती गई।

भारतीय इतिहास मे स्त्री को पत्नी के रूप में सर्वाधिक सम्मानजनक स्थान प्राप्त हुआ है जो प्रत्येक क्षेत्र में पति के साथ रहती है। मेधातिथि[294] के अनुसार पत्नी बिना घर एक रेगिस्तान होता है और पत्नी के बिना, पति चाहे वह कितना ही धनी और सम्पन्न हो एक निर्धन के समान शक्तिहीन होता है। और इस कारण धन की देवी और अपने घर में पत्नी में कोई अन्तर नहीं है इस काल के अभिलेखों में उनकी तुलना देवियों से की गई हैं। पालवंश के राजा गोपाल- I की रानी की तुलना रोहिणी (चन्द्रमा की देवी), स्वाहा (अग्नि की देवी), सर्वाणि (शिव की पत्नी) एवं भद्रा (कुबेर की पत्नी) से की गई है।[295] मेधातिथि[296] के अनुसार कोई भी धार्मिक कृत्य तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ न हो। इन सब से ऊपर स्त्री एक पत्नी की क्षमता में विश्व के अस्तित्व का निर्माण करने मे लगी होती है।[297] इस काल की स्मृतियों एवं पुराणों में स्त्रियों को मनुष्य के अच्छे आधे भाग के रूप में सम्मान प्राप्त था।[298]

विधवा का जीवन:

ऋग्वेद[299] मे आया है कि मारूतों की अति शीघ्र गतियो से पृथ्वी पतिहीन स्त्री की भॉति कांपती है। इस उद्धरण से विधवाओ की निर्बल स्थिति का पता चलता है किस तरह विधवायें समाज मे डर-डर कर जीवन व्यतीत करती थी। प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्यकाल के शास्त्रकारों ने विधवाओ के लिए कठोर जीवन आदर्श प्रस्तुत किये। बौधायन[300] के अनुसार विधवा को सालभर तक मधु, मॉस, मदिरा एवं नमक छोड देना चाहिए तथा भूमि पर शयन करना चाहिए। मनु[301] की बताई हुई व्यवस्था अधिकांश स्मृतियो में पाई जाती है; "पति के मर जाने पर स्त्री, यदि वह चाहे तो, केवल पुष्पो, फलों एवं मूलों को ही खाकर अपना शरीर गला दे, (दुर्बल बना दे), किन्तु उसे अन्य व्यक्ति का नाम भी नहीं लेना चाहिए मृत्यु-पर्यन्त उसे सयम रखना चाहिए, व्रत रखने चाहिए, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रता के सदाचरण एवं गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिए। पति की मृत्यु के उपरान्त यदि साध्वी नारी अविवाह के नियम के अनुसार चले अर्थात् सतीत्व की रक्षा में लगी रहे, तो वह पुत्रहीन रहने पर भी स्र्वगारोहण करती है, जैसा कि प्राचीन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों (यथा सनक) ने किया था।'' पराशर[302] कात्यायन[303] ने भी मनु के समान विचार व्यक्त किया है । बृहस्पति के अनुसार "पति के मरने पर जो पतिव्रता साध्वी निष्ठा (ब्रह्मचर्य) का पालन करती है वह सब पापो को छोडकर पतिलोक को प्राप्त होती है। नित्य व्रत उपवास मे निरत, ब्रह्मचर्य में व्यवस्थित दम और दान में रत स्त्री अपुत्रा होते हुए भी स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।[304] धर्मशास्त्रकारों ने उसके लिए अनेक नियम बताये और यह व्यवस्था दी कि वह न बाल सज्जित करे, न पान खाए, न सुगन्धित द्रव्य, फूल, अलंकार का व्यवहार करे और न दिन में दो बार खाए।[305] बाण ने हर्षचरित[306] में लिखा है कि विधवाएॅ अपनी आँखों में अंजन नहीं लगाती थी और न मुख पर पीला लेप ही करती थी, वे अपने बालों को यो ही बांध लेती थीं। प्रचेता[307] ने संयासियों एवं विधवाओं को पान खाना, तेल बगैरह लगाकर स्नान करना एवं धातु के पात्रों में भोजन करना मना किया है। पूर्व मध्यकाल में भी विधवाओं को अमंगल का प्रतीक माना जाता था। स्कन्दपुराण[308] में विधवाधर्म का लम्बा विवेचन है। यथा-अमंगलों

मे विधवा सबसे अमगल है, विधवा-दर्शन से सिद्धि नही प्राप्त होती (हाथ मे लिया हुआ कार्य सिद्ध नहीं होता), विधवा माता को छोडकर सभी विधवाएँ अमगल की सूचक है, विधवा की आर्शीवादोक्ति को विज्ञजन ग्रहण नही करते, मानो वह सर्पविष हो।[308] पूर्व मध्यकाल मे विधवाओ के लिए जो कठोर नियम बने उनकी पृष्ठभूमि मे उनको प्राप्त आर्थिक अधिकार क्रियाशील थे ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक विधवाओ की स्थित अत्यन्त दयनीय थी, वह अमगल की सूचक थी और किसी भी उत्सव में, यथा विवाह मे किसी प्रकार का भाग नहीं ले सकता थी। उसे पूर्ण रूप से साध्वी रहना पडता था चाहे वह बचपन मे ही विधवा क्यों न हुई हो। सम्पत्ति मे भी उसका पूरा-पूरा अधिकार नही था। यदि उसका पति पुत्रहीन मर गया तो उसे मौलिक रूप से उत्तराधिकार नहीं मिलता था। कालान्तर में उत्तराधिकार के विषय में उसकी स्थिति में सुधार हुआ, किन्तु तब भी उसे केवल सम्पत्ति की आय मात्र मिलती थी, जिसे वह घर की वैधानिक आवश्यकताओं तथा पति के आध्यात्मिक लाभ के लिए ही हस्तान्तरित कर सकती थी। हिन्दू संयुक्त परिवार में विधवा को केवल भरण-पोषण का अधिकार था। किन्तु वर्तमान काल में विधवाओं की स्थिति में अत्यन्त सुधार हुआ है। उनके कठोर जीवनचर्या के लिए कोई बाध्यता नहीं हैं और विधवा-पुनर्विवाह भी समाज में होने लगे, सम्पत्ति पर भी उनके जीवित रहते पुत्रों का कोई अधिकार नहीं रहता, इस प्रकार अब विधवा किसी भी तरह अमंगल का प्रतीक नहीं मानी जाती थी।

सती प्रथा:

1829 विलियम बेंटिक के प्रयासों के बाद स्त्रियों के सती होने पर कानूनी रोक लगाई, उससे पहले विधवाओं का सती होना एक आम बात थी। सती होने की प्रथा प्राचीन यूनानियों, जर्मनों, स्लावो एवं अन्य जातियों में भी पायी जाती है।[310]

सती का शाब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा 'सत्य' पर स्थिर रहने वाली हैं, जो पति-पत्नी का अटूट और अविच्छेद संबंध भी व्यक्त करता है। सती शब्द की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन साहित्य में अन्वारोहण (मृत पति के साथ चिता पर चढ़ना), सहगम (मृत पति का अनुगमन करना)

और अनुमरण (यदि पति की मृत्यु विदेश प्रवास काल मे हो गई हो तो उसका समाचार जानने के बाद, उसके पीछे मरना) आदि अनेक शब्द प्रचलित थे।

वैदिक साहित्य मे सती होने के विषय मे न तो कोई निर्देश मिलता है और न कोई मत्र ही प्राप्त होते हैं। गृहसूत्रों ने भी इसके विषय में कोई विधि प्रस्तुत नहीं की है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की कुछ शताब्दियों पहले यह प्रथा ब्राह्मणवादी भारत में प्रचलित हुई। विष्णु धर्मसूत्र[311] को छोडकर किसी अन्य धर्मसूत्र ने भी सती होने के विषय में कोई निर्देश नहीं किया है। इस धर्मसूत्र में लिखा है कि- "अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उसकी चिता पर चढ जाती थी (अर्थात् जल जाती थी।") ग्रीक इतिहासकारों[312] ने भी सती प्रथा का संकेत दिया है। स्ट्रैबा[313] ने तक्षशिला की स्त्रियों के लिए लिखा है कि वे मृत पति के साथ चिता मे जल मरती थी। पंजाब की कठ जाति का मे सती प्रथा प्रचलन था।[314] अत: स्पष्ट है कि सती प्रथा के ऐतिहासिक उदाहरण चौथी सदी ई0 पू0 से ही मिलते है; जिसका उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है कालिदास ने इस प्रथा का संकेत 'पतिवर्त्मगा' पद द्वारा किया है।[315] और कहा है कि सती धर्म प्राणिमात्र ओर चेतनाहीनों के लिए भी स्वाभाविक था।[316] वात्स्यायनकृत कामसूत्र में उल्लिखित है कि नर्तकियॉ अपने प्रेमियों को सती होने का झूठा आश्वासन दिया करती थी।[317] बृहस्पति की दृष्टि में वैधव्य के ब्रह्मचर्य की स्थिति से सती होना अच्छा था।[318] व्यास और दक्ष ने सती धर्म को विधवा के जीवन का सर्वोत्तम विकल्प स्वीकार किया है।[319] वराहमिहिर ने बृहत्संहिता[320] में उन विधवाओं के साहस की प्रशसा की है जो पति के मरने पर अग्नि-प्रवेश कर जाती है। सती होने का प्रथम अभिलेखीय प्रमाण गुप्तकाल का है । एरण स्तम्भ्स अभिलेख[321] 510 ई0, जिसमें हूणों के विरूद्ध युद्ध में मृत सेनापति गोपराज की पत्नी अग्निराशि में प्रविष्ट होकर सती हो गयी थी । हर्षचरित से विदित होता है कि प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के पहले ही उसकी पत्नी यशोमती अग्नि में प्रवेश कर चुकी थी। परवर्ती व्यवस्थाकारों ने भी सती प्रथा की प्रशंसा की है। कृत्यकल्पतरू[322] में ब्रह्मपुराण का उद्धरण दिया गया है जिसके अनुसार "पति के मरने पर सती-स्त्रियों की दूसरी गति नहीं। भर्तृ-वियोग से उत्पन्न दाह का दूसरा कोई शमन नहीं। यदि

पति देशान्तर में मरे तो साध्वी स्त्री उसकी पादुकाएँ अपने हृदय से लगाकर तथा पवित्र होकर अग्नि मे प्रवेश करे। विज्ञानेश्वर[323] ने मेधातिथि का विरोध करते हुए यह निर्देश दिया है कि सती प्रथा सभी वर्णो मे प्रचलित होनी चाहिए। राजतरगिणी[324] मे सती प्रथा के कई साक्ष्य मिलते है। उसके अनुसार शंकर वर्मन के मर जाने पर उसकी सुरेन्द्रवती नामक प्रधान रानी के साथ तीन रानियों ने अन्वारोहण किया था कन्दर्प सिंह के मृत होने पर उसकी भार्या सती हुई थी।[325] कथासरित्सागर[326] मे भी पति के मरने पर सती होने की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। नेपाली अभिलेख[327] से ज्ञात होता है कि राजा धर्मदिव के मरने पर उसकी पत्नी राज्यवती ने अन्वारोहण किया था। घटियाला (जोधपुर) अभिलेख[328] 810 ई0 राजपूत सामंत राणक का उल्लेख करता है जिसके साथ उसकी पत्नी सम्पलदेवी ने सहगमन किया था। बेलरूत अभिलेख[329] (979 शक संवत्), जिसमें देकब्बे नामक शूद्र स्त्री अपने पति की मृत्यु पर माता-पिता के मना करने पर भी भस्म हो जाती है और उसमें माता-पिता उसकी समृति में स्तम्भ खडा करते है। जहॉ पर मनुस्मृति इसके विषय में सर्वथा मौन है। महाभारत में, यद्यपि रक्तरंजित युद्ध गाथाओं से भरा पडा है, फिर भी सती होने के बहुत कम उदाहरण दिये गये है- "पाण्डु की प्यारी रानी माद्री ने पति के शव के साथ अपने को जला दिया।[330] विष्णुपुराण[331] में लिखा है कि कृष्ण की मृत्यु पर उनकी आठ रानियों ने अग्नि में प्रवेश कर लिया। शांतिपर्व[332] में आया है कि एक कपोती अपने पति (कपोत) की मृत्यु पर अग्नि में प्रवेश कर गयी। स्त्रीपर्व में मृत कौरवों की अन्त्येष्टि-क्रिया का वर्णन हुआ है; जिसमें कौरवों के रथों, परिधानों, आयधों के जला देने की बात आयी है, किन्तु पत्नियों के सती होने की बात पर महाभारत मौन है।

सिन्ध महामण्डलेश्वर राजमल्ल ने अपने सरदार बेचिराज की दो विधवाओं के, जो कि सती हो गयीं, कहने पर शक संवत् 1103 में एक मंदिर बनवाया।

जहाँ समाज में सती प्रथा का समर्थन करने वाले धर्मशास्त्रकारों का एक विशाल वर्ग था वहीं प्रारम्भ से ही स्त्रियों के जीवित जलाने की इस अमानवीय प्रथा का विरोध करने वाले व्यवस्थाकार भी समय-समय पर उपस्थित हुए। मनुस्मृति सती के विषय में सर्वथा मौन

है, वहीं मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि[333] ने इस प्रथा का प्रबल विरोध करते हुए अपने मत के समर्थन मे वेदवाक्य उद्धत किया है, जिसके अनुसार, 'यद्यपि अंगिरस ने सती प्रथा के अनुसरण की अनुमति दी हैं, तथापि सही अर्थो मे यह आत्महत्या हैं, जो स्त्रियों के लिए पूर्णत· निषिद्ध है। वेद में 'श्येनेमाभिरन् यजते' पाया जाता है, फिर भी यह धर्म नही समझा जाता (यह अभिचार या जादू है), अपितु अधर्म। यद्यपि सती का उल्लेख हुआ है, तथापि वस्तुत: यह अधर्म है। जो स्त्री शीघ्रता से अपने तथा अपने पति के लिए स्वर्ग पाने को उत्सुक है, वह अंगिरा के वचन का पालन तो करती है, परन्तु उसका आचरण अशास्त्रीय है। अपने पूर्ण विहित जीवन में कर्त्तव्य कर्म का पालन करने के पूर्ण इस ससार का (बलात्) त्याग नहीं करना चाहिए। देवण भट्ट ने भी इस प्रथा की कटु आलोचना करते हुए अपना विचार व्यक्त किया है कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा अधिक जघन्य है।[334] इन शास्त्रकारों और भाष्यकारों में पूर्व महाकवि बात ने भी सती प्रथा का कडा विरोध किया है और इस कार्य को जघन्य बताते हुए भर्त्सना की है। उसका मत है कि स्त्री सती होकर आत्महत्या करती है। इस पाप के कारण वह नरक में गमन करती है।[335] मृच्छकटिक में भी सती प्रथा की भर्त्सना और निंदा की गई है।[336] महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार मोह के वशीभूत होकर चितारोहण करने वाली नारी नरकगामिनी होती है।[337]

यात्रियों एवं अन्य लोगों के लेखों से पता चलता है कि सती प्रथा बंद होने के पूर्व की शताब्दियों में देश के अन्य भागों की अपेक्षा बगाल की विधवाएँ अधिक संख्या में जला करती थी। इसके पर्याप्त कारण भी विद्यमान थे। बंगाल में, दायभाग का प्रचलन था, जिसके अनुसार पुत्रहीन विधवा को सम्पत्ति में वही अधिकार प्राप्त थे जो उसके पति को प्राप्त थे। सम्पत्ति के लालच में अन्य परिवार जन विधवा को सती होने के लिए उत्तेजित कर देते थे। यह तथ्य दायभाग में भी उल्लिखित है[338] कि बहुधा सम्पत्ति में से स्त्री को हिस्सा न देने के उद्देश्य से लोभवश सती होने के लिए उसे विवश कर दिया जाता था।

विधवा पुनर्विवाह:

'पुनर्भू' शब्द उस विधवा के लिए प्रयुक्त होता है, जिसने पुनर्विवाह किया है। इसकी प्राचीनता के संदर्भ में मतभेद हैं, ऋग्वेद के

एक श्लोक[339] का अर्थ सायण ने मृत पति के भाई द्वारा उसकी पत्नी को विवाह के लिए निमन्त्रण देना समझा है किन्तु अन्य विद्वानों से इसे स्वीकम्र नही किया है। अर्थववेद में एक स्थल पर आया है- यदि कोई स्त्री पहले दस ब्राह्मण पति करे, किन्तु अन्त में यदि वह ब्राह्मण से विवाह करे, तो वह उसका वास्तविक पति है। केवल ब्राह्मण ही (वास्तविक) पति है, न कि क्षत्रिय या वैश्य, यह बात सूर्य पंच मानवों (पंच वर्गो या पंच प्रकार के मनुष्य गणो में) में घोषित करता चलता है अर्थववेद[340] में पुनः एक स्थल पर आया है कि यदि कोई स्त्री एक पति से विवाह करने के उपरान्त दूसरे से विवाहित होती हैं, यदि वे (दोनों) एक बकरी और भात की पांच थालियॉ देते है, तो दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं होंगे। दूसरा पति अपनी पुनर्विवाह पत्नी के साथ वही लोक प्राप्त करता हैं, यदि वह पांच भात की थालियों के साथ एक बकरी देता हैं तथा दक्षिणा जयोति (शुल्क का दीपप्रकाश) प्रदान करता है। "यहॉ पर भी पुनर्भू शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन संकेतों से भी विधवा विवाह का पता चलता है। साथ ही यह भी स्पष्ट लक्षित होता है कि इस प्रकार का विवाह तब तक अच्छा नही गिना जाता था जब तक कि कन्या का पाप या लोकापवाद यज्ञ से दूर न कर दिया जाए। किन्तु यह एकदम स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि अर्थववेद के मत में विधवा का पुनः विवाह निषिद्ध एवं वर्जित नहीं माना जाता था। तैत्तिरीय संहिता[341] में दैघिषव्य (विधवा पुत्र) शब्द आया है। गृहसूत्र विधवा विवाह के विषय में मौन है। लगता है तब तक विधवा विवाह का प्रचलन खत्म हो चुका रहा होगा।

नारद[342] में सात प्रकार की पत्नियों में एक पत्नी वह भी बताई हैं जो पहले किसी व्यक्ति से विवाहित (परपूर्वा) हो चुकी है। उनमें पूनर्भू के तीन प्रकार होते है। (1) वह जिसका विवाह में पाणिग्रहण हो चुका हैं, किन्तु समागम न हुआ हो; इसके विषय में विवाह एक बार पुनः होता है; (2) वह स्त्री, जो अपने पति के साथ रहकर उसे छोड दे ओर अन्य भर्ताकर ले किन्तु पुनः अपने मौलिक पति के यहाँ चली आये; (3) वह स्त्री, जो अपने पति की मृत्यु के उपरान्त उसके संबंधियों द्वारा देवर के न रहने पर किसी सपिण्ड को या उसी जाति वाले किसी को दे दी जाए। याज्ञवल्क्य[343] ने पुनर्भू को दो वर्गो में बांटा है- (1) वह, जिसका पति से अभी समागम न हुआ हो। (2) वह, जो समागम कर चुकी हो;

इन दोनो का विवाह पुन: होता है (पुनर्भू वह है, जो पुन सस्कृता हो)। द्वितीय पति या द्वितीय विवाह से उत्पन्न पुत्र को 'पौनर्भव' (क्रम से पति या पुत्र, यथा पौनर्भव पति, या पौनर्भव पुत्र) की सज्ञा दी जाती है।[344] काश्यप[345] के अनुसार पुनर्भू के सात प्रकार है- (1) वह कन्या, जो विवाह के लिए प्रतिश्रुत हो (2) वह, जो मन से दी जा चुकी हो (3) वह, जिसकी कलाई मे वर द्वारा कगन बाध दिया गया हो, (4) वह, जिसका जल के साथ (पिता द्वारा) दान हो चुका हो, (5) वह, जिसका वर द्वारा पाणिग्रहण हो चुका हो, (6) वह, जिसने अग्नि-प्रदक्षिणा कर ली हो तथा (7) जिसे विवाहोपरान्त बच्चा हो चुका हो। इनमे प्रथम पॉच प्रकारों से यह समझाना चाहिए कि वर या तो मर गया या उसने आगे की वैवाहिक क्रिया नहीं की और लौट गया। इन लडकियों को भी, इनका पुनर्विवाह हो जाने पर, पुनर्भू कहा जाता हैं, यद्यपि इनका प्रथम विवाह नहीं था, क्योंकि सपृपदी सम्पन्न नहीं हुई थी। बौधायन[346] द्वारा उपस्थापित प्रकारों में थोडी सी विभिन्नता है। प्रथम दो कश्यप के प्रकार जैसे है- अन्य प्रकार है- (3) वह जो (वर के साथ) अग्नि की प्रदक्षिणा कर चुकी हो, (4) वह, जिसने सप्तपदी समाप्त कर ली है, (5) वह जिसने सम्भोग कर लिया हो, चाहे विवाहोपरान्त या बिना विवाह के ही; (6) वह, जो गर्भवती हो चुकी हो तथा (7) वह जिसे बच्चा उत्पन्न हो गया हो। मनु[347] ने नियोग के नियमों को केवल उस कन्या तक सीमित माना है जो केवल वाग्दत्ता मात्र थी। वशिष्ठ धर्मसूत्र[348] ने वागदत्ता एवं उदकस्पर्शिता (जो मन से जलस्पर्श करके दी जा चुकी हो) को वेदमन्त्रोच्चारण के पूर्व अभी कुमारी ही माना है। वशिष्ठ धर्मसूत्र[349] में पौनर्भव को उस स्त्री का पुत्र कहा गया है जो या अपने नपुंसक, जातिच्युत या पागल पति को त्याग कर या अपने पति की मृत्यु पर दूसरा पति कर लेती है । धर्मसूत्र[350] ने पौनर्भव पुत्र को उस स्त्री का पुत्र माना है जो अपने नपुंसक, या जातिच्युत पति को छोड़कर अन्य पति करती है नारद[351], पराशर[352] एवं अग्निपुराण[353] में एक ही श्लोक आया है, यथा, "नष्टे मृते प्रव्रजिते-क्लीबे च पतिते: पतों। पंजचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।" नारद में इसका अर्थ है- पांच विपत्तियों में स्त्रियों के लिए द्वितीय पति आज्ञापित है; जब पति नष्ट हो जाए, (उसके विषय में कुछ सुनाई न दे) मर जाए, सन्यासी हो जाए, नपुंसक हो या पतित हो।" पराशर[354] ने इसके साथ

यह भी कहा कि यह बात या स्थिति किसी अन्य युग के समाज की है, इसका कलियुग मे कोई उपयोग नही है। मेधातिथि[355] ने लिखा है कि पति शब्द का अर्थ केवल 'पालक' है। एक अन्य स्थल[356] से पता चलता है कि मेधातिथि नियोग के विरोधी नही है, किन्तु विधवा के पुनर्विवाह के कट्टर विरोधी है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[357] ने पुनर्विवाह की भर्त्सना की है- यदि कोई पुरूष, उस स्त्री से, जिसका कोई पति रह चुका हो, या जिसका विवाह संस्कार न हुआ हो, या जो दूसरे वर्ण की हो, सम्भोग करता है तो पाप का भागी होता है, और उसका पुत्र भी पाप का भागी कहा जायेगा। हरदत्त[358] ने मनु की व्याख्या में लिखा है कि दूसरे की पत्नी से, जिसका पति जीवित हो, उत्पन्न किया हुआ पुत्र 'कुण्ड' तथा उससे जिसका पति मर गया हो, उत्पन्न किया हुआ पुत्र 'गोलक' कहलाता है। मनु[359] पुनर्विवाह का विरोध किया है - सदाचारी नारियों के लिए दूसरे पति की घोषणा कही नहीं हुई है । यही बात विभिन्न[360] स्थलों पर मनुस्मृति में कही गई है। संस्कार प्रकाश ने कात्यायन का मत प्रकाशित किया है कि उन्होंने सगोत्र में विवाहित विधवा के पुनर्विवाह की बात चलायी है, किन्तु अब यह मत कलियुग में अमान्य है। मनु[361] ने उस कन्या के पुन:विवाह के संस्कार की बात उठायी है, जिसका अभी समागम न हुआ हो, या जो अपनी युवावस्था का पति छोड़कर अन्य के साथ रहकर पुन: अपने वास्तविक पति के यहॉ आ गई हो। काणे[362] के अनुसार मनु जी विधवा के पुनर्विवाह के कट्टर विरोधी है। स्पष्ट है, मनु ने पुनर्विवाह में मंत्रो के प्रयोग का विरोध नहीं किया है, प्रत्युत मंत्रों से अभिषिक्त पुनर्विवाह को अधर्म माना है। बौधायन धर्मसूत्र[363] बशिष्ठ धर्मसूत्र[364], याज्ञवल्क्य[365] ने पुनर्विवाह के संस्कार की बात कही है। किन्तु फिर भी पुनर्विवाह को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था, तभी मनु[366] एवं याज्ञवल्क्य[367] ने श्राद्ध में न बुलाये जाने वाले ब्राह्मणों में पौनर्भव (पुनर्भू के पुत्र) को भी गिना है। अपरार्क द्वारा उद्धत ब्रह्मपुराण[368] में यह आया है कि बाल विधवा, या जो बलवश त्याग दी गयी हो, या किसी के द्वारा अपहृत हो चुकी हो, उसके विवाह का संस्कार हो सकता है।

इस प्रकार विश्लेषण से स्पष्ट है कि पुनर्विवाह वैदिक काल से हो रहे थे, समर्थन के साथ ही साथ विरोध के स्वर भी समय-समय

पर मिलते रहे। किन्तु पूर्वमध्यकाल मे विधवा विवाह की काफी निंदा की गई है इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विवाह होते अवश्य थे तभी निदंनीय माने जाते थे किन्तु समाज मे सम्मानित नहीं थे।

नियोग:

नियोग का अर्थ है- किसी नियुक्त पुरूष के सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति। ऋग्वेद[369] से उद्धत है कि तुम्हें, हे आश्विनो, यज्ञ करने वाला अपने घर में वैसे ही पुकार रहा है, जिस प्रकार विधवा अपने देवल को पुकारती है या युवती अपने प्रेमी का आह्वान करती है। किन्तु इससे यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि यह उक्ति विधवा तथा उसके देवर के विवाह की और या नियोग की ओर संकेत करती है। निरूक्त[370] की कुछ प्रतियों में ऋग्वेद की इस ऋचा में 'देवर' का अर्थ 'द्वितीय वर' लगाया गया है। जबकि मेधातिथि[371] ने इसकी व्याख्या नियोग के अर्थ में की है। इस प्रकार कुछ विद्वान नियोग प्रथा की प्राचीनता ऋग्वैदिक काल से जोडते है। गौतम[372] ने इसकी चर्चा की है; पतिविहिन नारी यदि पुत्र की अभिलाषा रखे तो अपने देवर द्वारा प्राप्त कर सकती है, किन्तु उसे गुरूजनों से आज्ञा ले लेनी चाहिए और सम्भोग केवल ऋतुकाल में (प्रथम चार दिनो को छोडकर) ही करना चाहिए। वह सपिण्ड, सगोत्र या सप्रवर या अपनी जाति वाले से ही (जब देवर न हो तो) पुत्र प्राप्त कर सकती है। पुन. गौतम[373] का कहना है कि जीवित पति द्वारा प्रार्थित स्त्री जब नियोग से पुत्र उत्पन्न करती है तो वह उसी (पुरूष) का पुत्र होता है। वसिष्ठ धर्मसूत्र[374] न लिखा है विधवा का पति या भाई (या मृत पति का भाई) गुरूओं को (जिन्होंने पढाया हो या मृतात्मा के लिए यज्ञ कराया हो) तथा सम्बन्धियों को एकत्र करे और उसे (विधवा को) मृत के लिए पुत्रोत्पत्ति के लिए नियोजित करे। धन सम्पत्ति (रिक्थ) की प्राप्ति की अभिलाषा से नियोग नहीं करना चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र[375] के अनुसार क्षेत्रज पुत्र नहीं है, जो निश्चित आज्ञा के साथ विधवा से या नपुंसक या रूग्ण पति की पत्नी से उत्पन्न किया जाये। मनुस्मृति[376] में भी नियोग प्रथा के साक्ष्य मिलते है। इसके अनुसार पुत्रहीन विधवा अपने देवर या पति के सपिण्ड से पुत्र उत्पन्न कर सकती है, नियुक्त पुरूष को अंधेरे में ही विधवा के पास जाना चाहिए, उसके शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए ओर उसे एक ही (दो नहीं) पुत्र उत्पन्न

करना चाहिए। किन्तु कुछ लोगो के मत से दो पुत्र उत्पन्न करने चाहिए। यही बात बौधायन धर्मसूत्र[377] याज्ञवल्क्य एव नारद[379] मे भी पायी जाती है। कौटिल्य[380] ने लिखा है कि बूढे एव न अच्छे किये जाने वाले रोग से पीडित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी को नियुक्त कर किसी मातृबन्धु या अपने ही समान गुण वाले रोग से पीडित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी को नियुक्त कर किसी मातृबन्धु या अपने ही समान गुण वाले सामन्त द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये।

जहाँ गौतम जैसे धर्मसूत्रधारों ने नियोग को वैध ठहराया है, वहीं कतिपय अन्य धर्मसूत्रकारों ने इसे घृणास्पद मानकर वर्जित कर दिया था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[381], बौधायन धर्मसूत्र[382] आदि ने नियोग की भर्त्सना की है। मनु[383] ने नियोग का वर्णन करने के उपरान्त इसकी बुरी तरह से भर्त्सना की है। मनु ने इसे नियमविरूद्ध एव अनैतिक ठहराया है। उन्होंने राजा वेन को इस प्रथम प्रचालक माना है और उसे वर्ण वर्णसंकरता करता था जनक मानकर निंदा की हैं, किन्तु कुछ लोग अज्ञानवश इसे अपनाते है। मनु[384] ने नियोग का अर्थ यह कहकर समझाया है कि नियोग के विषय मे नियम केवल उसी कन्या के लिए है, जो वधूरूप में प्रतिश्रुत हो चुकी थी किन्तु भावी पति मर गया, ऐसी स्थिति में मृत पति के भाई को उस कन्या से विवाह करके केवल ऋतुकाल में एक बार संभोग तब तक करना पडता था जब तक कि एक पुत्र न उत्पन्न हो जाय; और वह पुत्र मृत व्यक्ति का पुत्र माना जाता था। एक तरफ मनु जहाँ नियोग की निंदा करते हैं वहीं दूसरी तरफ उत्तराधिकार एवं रिक्थ के विभाजन में क्षेत्रज पुत्र के लिए व्यवस्था रखी है।[385]

बृहस्पति[386] ने मनु के विधान को इस रूप में लिया और लिखा है- मनु से प्रथम नियोग का वर्णन करके इसे निषिद्ध किया है, इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में लोगों में तपोबल एवं ज्ञान था, अत: वे नियमों का पालन तदैव कर सकते थे, किन्तु द्वापर एवं कलियुग में लोगों में शक्ति एवं बल का ह्रास हो गया है अत: वे नियोग के नियमों के पालन में असमर्थ है मनुस्मृति पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[387] ने भी लगभग यही तथ्य दोहराया है कि नियोग प्राचीनकाल के तपस्वियों एवं ज्ञानियों के लिए तो उचित था किन्तु कलियुग में जब

शक्ति एव नैतिकता दोनो का ह्रास हो गया है, वे नियोग के नियमो का पालन नही कर पायेगे अत नियोग को अमान्य करार दिया गया।

स्मृतियो में नियोग सबधी नियमो के विषय में बहुत से मत मतान्तर है, अत. विश्वरूप, मेधातिथि जैसे टीकाकारो ने अपने मत प्रकाशन में पर्याप्त ढील दे रखी है। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विश्वरूप[388] का कथन है कि (1) आज के युग में नियोग निकृष्ट है ओर स्मृति विरूद्ध, (2) यह विकल्प से किया जाता है (नियोग वर्जित एव आज्ञापित दोनों है), (3) नियोग के विषय में स्मृतियो की उक्तियाँ शूद्रों के लिए (मनु[389] ने द्विजाति शब्द प्रयुक्त किया है) है; यह राजाओं के लिए आज्ञापित था जबकि उत्तराधिकार के लिए कोई पुत्र नहीं होता था। बृहस्पति के साथ बहुत से ग्रंथकारों ने इसे कलियुग में निषिद्ध कर्मो में गिना है।

पश्चिमी इतिहासकारो ने भी नियोग प्रथा का उल्लेख किया है। वेस्टरमार्क[391] की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ हयूमन मैरेज' में पति के भाई से विधवा का विवाह तथा उससे पुत्रोत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। मैक्लेन्नान के अनुसार नियोग की प्रथा के मूल में बहु भर्तृकता पायी जाती है, किन्तु वेस्टरमार्क ने इस मत का खण्डन किया है जो कि उचित प्रतीत होता है क्योंकि जब सूत्रकाल में नियोग की प्रथा मान्य थी, तब बहु-भर्तृकता या तो विस्मृत हो चुकी थी या वर्जित थी। नियोग की प्रथा प्राचीन थी और उसके कई कारण थे किन्तु वे सभी अज्ञात एवं रहस्यात्मक है, केवल एक ही सत्यता स्पष्ट हैं - वैदिककाल से ही पुत्रोत्पत्ति पर बहुत ध्यान दिया गया है। वशिष्ठ धर्मसूत्र[392] ने यह मत माना है और वैदिक उक्तियों के आधार पर पितृऋण से मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पत्ति की एवं स्वर्गिक लोकों की प्राप्ति की महत्ता प्रकट होती है। किसी भी व्यवस्थाकार ने इसके पीछे आर्थिक कारण नहीं रखा है। विन्टरनित्श[393] ने नियोग के कारणों से दरिद्रता, स्त्रियों का अभाव एवं संयुक्त परिवार माना है। किन्तु ऐतिहासिक काल में भारत में स्त्रियों के अभाव का कोई प्रमाण नहीं मिलता युद्धों के कारण पुरूषों का अभाव अवश्य रहा होगा। इसके अतिरिक्त यथा दारिद्रय तथा संयुक्त परिवार भी विश्लेषण करने पर सत्य नहीं प्रतीत होते है। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि नियोग एक अति अतीत प्राचीन प्रथा का अवशेष मात्र

था, जिसमे सभवत अपने वंश परम्परा का कायम रखने का विचार ही प्रमुख रहा होगा।

परदा प्रथा.

परदा प्रथा का प्रारम्भ कहाॅ से प्रारम्भ हुआ, इस प्रश्न को लेकर इतिहासकारो मे आज भी मतभेद है। ऋग्वैदिक साक्ष्यों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि तत्कालीन समाज मे परदा प्रथा नहीं थी। एक स्थल पर[394] पर आया है कि लोगो को विवाह के समय कन्या की ओर देखने को कहा है - यह कन्या मंगलमय है, एकत्र होओ और इसे देखो, इसे आशीष देकर ही तुम लोग अपने घर जा सकते हो इस युग में स्त्रियों विदथ (सभा और समिति) तथा समन (उत्सव) मे स्वच्छन्दतापूर्वक सम्मिलित होती थी।[395] उत्तरवैदिक कालीन ऐतरेय ब्राह्मण के उल्लेख से ज्ञात होता है कि पुत्रबधुऍं (श्नुषा) प्राय. अपने श्वसुर से लजाती हुई दूर खिसक जाती थी।[396] अत: स्पष्ट है कि परदा जैसा व्यवहार का स्पष्ट संकेत वैदिक युग मे नहीं मिलता। पाणिनी की अष्टाध्यायी[397] ने असूर्यम्पश्या (जो सूर्य को भी नही देखती) थी, जो रानियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, व्युत्पत्ति बतायी है। इससे केवल इतना प्रकट होता है कि रानियाॅ राजप्रासादों की सीमा के बाहर जनसाधारण के समक्ष नहीं आती थीं। महाकाव्यो के युग में इसका अवश्य प्रारम्भ हो गया था। रामायण के अयोध्याकाण्ड[398] में आया है कि आज सडक पर चलते हुए लोग उस सीता को देख रहे है जिसे पहले आकाशगामी जीव भी न देख सके थे। महाभारत के सभापर्व[399] में द्रौपदी कहती है - हमने सुना है, प्राचीन काल में लोग विवाहित स्त्रियों को जनसाधारण की सभा समूह में नहीं ले जाते थे, चिर काल से चली आयी हुई प्राचीनप्रथा को कौरवों ने तोड दिया है। द्रौपदी का दर्शन राजाओं ने स्वंयवर के समय किया था, उसके उपरान्त युधिष्ठिर द्वारा जुए में हार जाने पर ही लोगों ने उसे देखा।[400] हर्षचरित[401] में आया है कि राजकुमारी राज्यश्री, जिसे उसका भावी पति ग्रहवर्मन विवाह के पूर्व देखने आया था, अपने मुख पर सुन्दर लाल रंग का परिधान डाले हुए थी। शांकुन्तल[402] में दुष्यन्त की राजसभा में लायी जाती हुई शकुन्तला को अवगुण्डन डाले चित्रित किया गया है। इससे प्रकट होता है कि उच्च कुल की नारियाँ बिना परदे के बाहर नहीं आती थीं किन्तु साधारण जनता में परदे का कोई प्रचलन नहीं था।

ह्वेनसाग और इत्सिंग जैसे पूर्वमध्ययुगीन चीनी लेखको ने अपनी ऑखो देखे वर्णन मे कही भी स्त्री के परदे का उल्लेख नही किया है। बृहतकथामजरी और कथासरित्सागर जैसे ग्याहरवी सदी के कथा-साहित्य में स्त्री के परदा प्रथा का कहीं भी स्पष्ट सकेत नही है; बल्कि कथासरित्सागर[403] मे उल्लिखित रत्नप्रभा नामक नारी ने परदे का विरोध किया है। "स्त्रियों का कड़ा परदा और नियन्त्रण ईर्ष्या से उत्पन्न मूर्खता है। इसका कोई उपयोग नहीं। सच्चरित्र स्त्रियाँ अपने सदाचार से ही सुरक्षित रहती है और किसी पदार्थ से नहीं।'' कल्हण की राजतरगिणी मे भी परदा प्रथा का कही कोई सदर्भ नही मिलता। दसवी सदी के अरब लेखक अबुजैद ने लिख है कि उसके समय मे भारतीय रानियाँ परदे के बिना ही राजसभा में उपस्थित होती थी।[404] पूर्वमध्ययुग तक परदा प्रथा चाहे उच्च समुदाय और राजपरिवार में भले ही रही हो, मगर साधारण जनता में इसका प्रचलन नही था। स्त्रियाँ प्राय. बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्मुक्त ओर परदाविहीन घूमती थी।

सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि परदा प्रथा का प्रचलन बारहवीं सदी के बाद ही हुआ होगा, जब देश पर गैर संस्कृति का आक्राकमण हुआ, जिससे स्त्रियो को बचाना बहुत कठिन हो रहा था, परिणामस्वरूप व्यवस्थाकारों ने हिन्दू समाज मे अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए परदा जैसा प्रतिबन्ध लगाया जिससे आक्रामकों की लोलुप दृष्टि से उन्हें बचाकर रखा जा सके सुन्दर स्त्रियों को वे न देख सके, इसलिए आवरण की व्यवस्था की गई। बाद मे आकर परदा हिन्दू-समाज का प्रधान अंग बन गया। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि परदे का अधिक प्रचलन उत्तर भारत में ही हुआ; दक्षिण भारत इस प्रथा से एकदम अछूता है।

आश्रम:

आश्रम शब्द संस्कृत के श्रम धातु से बना हुआ है। इसके अन्तर्गत मनुष्य जीवन में श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों के कार्य सम्पन्न करता था तथा प्रत्येक आश्रम के पश्चात आगामी आश्रम के लिए सन्नद्ध होता था। जीवन यात्रा का यह मार्ग चार आश्रमों के माध्यम से था। यह सम्पूर्ण योजना श्रमयुक्त थी जो मनुष्य के जीवन को परिश्रम के आधार पर विकसित करती थी। अत: आश्रम का अर्थ उद्योग, प्रयास

अथवा प्रयत्न है। परम पद तक पहुॅचने मे ये आश्रम विश्राम स्थल के रूप में कार्य करते है। पी0 एन0 प्रभु के अनुसार ऐसी स्थिति में आश्रमो को जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्रति के लिए मनुष्य द्वारा की जाने वाली जीवनयात्रा के मध्य का विश्राम स्थल मानना चाहिए।[405]

आश्रम व्यवस्था के पीछे मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत, सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने की दार्शनिक भावना काम कर रही थी। हिन्दू विचारको ने मानव जीवन को समग्रतापूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित किया था। हिन्दू विचारको ने अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक मानव की कार्य पद्धतियों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके जीवन के मूलभूत कर्त्तव्यों का विभाजन किया था। उन्होने यह स्वीकार किया। कि जीवन का लक्ष्य केवल भोग ओर जीना नहीं है बल्कि योगमय आर्दशात्मक, मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी है। इस प्रकार जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान कर्त्तव्य त्याग और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमों में विभाजित किया है, जिसका अंतिम लक्ष्य था मोक्ष की प्राप्ति। जीवन को सही क्रमबद्धता, सुविचारित व्यवस्था तथा सुनिश्चित धार्मिकता प्रदान करना ही भारतीय जीवन दर्शन का मूल प्रेरक तत्व रहा है। इसी दार्शनिक प्रेरणा से मनुष्य का जीवन एक आश्रम से होता हुआ क्रमानुसार अंतिम आश्रम तक पहुँचता था तथा अपनी कर्मनिष्ठता और सात्विकता से चरम गति प्राप्त करता था।

अत्यन्त प्राचीन धर्मसूत्रों के समय में भी चारों आश्रमों की चर्चा हुई है यद्यपि नामों एवं अनुक्रम में थोडा हेर-फेर अवश्य पाया जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[406] के अनुसार आश्रम चार है, ग्रार्हस्थ, गुरूगेह (आचार्य कुल) मे रहना, मुनि रूप मे रहना तथा वानप्रस्थ (वन मे रहना)। ग्रार्हस्थ को प्रथम स्थान देने का कारण संभवत इसकी प्रभूत महत्ता है। गौतम[407] ने भी चारो आश्रमों के नाम लिये हैं, यथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एवं वैश्वानस। वसिष्ठ धर्मसूत्र[408] ने चार आश्रम गिनाये हैं- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं परिव्राजक। बौधायन धम्रसूत्र[409] ने भी

वसिष्ठ की भॉति चार नाम दिये है। मनु[410] ने चार आश्रमो के नाम दिये है और अंतिम को उन्होने यति तथा सयास कहा है।[411]

आॅश्रमो के विषय मे मनु का सिद्धान्त इस प्रकार है - मानव जीवन एक सौ वर्ष का होता है (शतायुर्वे पुरूष) अत. प्रत्येक आश्रम के लिये 25 वर्ष निर्धारित कर दिए गये थे । मनु के अनुसार मनुष्य जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य हैं जिसमें व्यक्ति गुरूगेह मे रहकर विद्याध्ययन करता हैं, दूसरे भाग में वह विवाह करके गृहस्थ हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पूर्वजों के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवों के ऋण से मुक्ति पाता है।[412] जब व्यक्ति अपने सिर पर उजले बाल देखता है तथा शरीर पर झुर्रियाँ देखता है तब वह वानप्रस्थ हो जाता है।[413] इस प्रकार वन में जीवन का तृतीचांश बिताकर शेष भाग को सन्यासी के रूप में व्यतीत करता है।[414]

मानव जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य माने गये है-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। ब्रह्मचर्य में व्यक्ति को अनुशासन एवं सकल्प के अनुसार रहना पडता था, उसे अतीत काल के साहित्यिक भंडार का ज्ञान प्राप्त करना पडता था, उसे आज्ञाकारिता, आदर, सादे जीवन एवं उच्च विचार के सद्गुण सीखने पडते थे। ब्रह्मचर्य के उपरान्त व्यक्ति विवाह करता था, अपनी संतानों, मित्रो, संबधियो, पडोसियो के प्रति अपने कर्त्तव्य पूर्ण करता था, उपयोगी, परिश्रमी एवं योग्य नागरिक बनता था तथा एक कुल का संस्थापक होता था। ऐसा कहा है कि 50 वर्ष के लगभग की अवस्था हो जाने पर वह संसार के सुख एवं वासनाओं से ऊब जाता था तथा वन की राह ले लेता था, जहॉ वह आत्मनिग्रही, तपस्वी एंव निरपराध जीवन बिताता था, इसके उपरान्त संयास का आश्रम आता था वह इसी जीवन में अंतिम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है, या इसी प्रकार के कई जीवनों तक यह चक्र चलता जायेगा, जब तक कि उसे मुक्ति प्राप्त न हो जाय।

ब्रह्मचर्य आश्रम:

ब्रह्मचर्य दो शब्दों 'ब्रह्म' और 'चर्य' से बना है। 'ब्रह्म' का अर्थ है वेद अथवा महान और 'चर्य' का विचरण करना अथवा अनुसरण करना। इन दोनों का सम्मिलित अर्थ है-ब्रह्म के मार्ग पर चलना। दोनो एक दूसरे के समानार्थी हैं। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रियनिग्रह ही

नहीं बल्कि इसके साथ ही वेदाध्ययन भी है। ऋग्वेद[415] मे ब्रह्मचारी शब्द आया है। महाभारत[416] के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी को अन्तर-बाह्य की शुद्धि, वैदिक सस्कार और व्रत-नियमो का पालन करते हुए अपने मन को वश मे करना चाहिए।

उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार सम्पन्न होने के बाद ही ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता था। 'उपनयन' शब्द 'उप' (समीप) और नयन (ले जाना) से बना है। जिसका अर्थ है समीप ले जाना, अर्थात वह संस्कार जिसके द्वारा ब्रह्मचारी को गुरू के निकट ले जाया जाता था।[417] उपनयन संस्कार द्विज अर्थात तीन वर्णों के लिए था, शूद्र के लिए नहीं था। द्विज का अर्थ दुबारा जन्म लेने वाला। कोई व्यक्ति उपनयन संस्कार के बाद ही उस जाति का सदस्य माना जाता था, जिस में वह जन्म लेता था। विद्या के निमिन्त किये जाने वाले उपनयन संस्कार की सम्पन्नता अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन की समाप्ति से सम्बद्ध थी, जब नियमित, अनुशासित और गम्भीर जीवन का प्रारम्भ होता था। आपरतम्ब धर्मसूत्र[418] में ब्राह्मण का बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का शरद ऋतु मे उपनयन करने का निर्देश दिया गया था। तीनों वर्णों के उपनयन - संस्कार में मंत्रों के सम्पादन का अलग-अलग विधान था । ब्राह्मण के लिए गायत्री मन्त्र, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुभमंत्र और वैश्य के लिए जगती मत्र का आधार ग्रहण करना था।[419] द्विज वर्ग के सभी लोग उपनयन के अधिकारी थे।[420] उपनयन के पश्चात ही ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था।[421]

प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत धारण करना अत्यन्त आवश्यक और पवित्र समझा जाता था।[422] उसे मेखला और दण्ड धारण करने के लिए भी निर्देशित किया गया था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला मूंज की होती थी, क्षत्रिय की अयस के खण्ड से युक्त मूंज की तथा वैश्य की ऊन की[423] । उत्तरीय (उर्ध्ववस्त्र) और वास (अधोवस्त्र) नामक दो वस्त्र ब्रह्मचारी धारण करता था। विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारी के विभिन्न प्रकार के वस्त्र होते थे। ब्राह्मण का उत्तरीय आजिन का, क्षत्रिय का रीदव और वैश्य का गोचर्म अथवा अजाचर्म का होता था।[424]

धर्मशास्त्रों में उपनयन-संस्कार के लिए आयु का निर्धारण किया गया था। पृथक-पृथक वर्ण के लिए भिन्न-भिन्न उपनयन-आयु का

विधान था। ब्राह्मण बालक के लिए उपनयन सस्कार की आयु आठ वर्ष निर्धारित की गई थी।[425] ग्रहसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिए क्रमश: आठ, ग्यारह, और बारह वर्ष की नियोजना थी।[426] स्मृतियों मे भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गई है। मनु के अनुसार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवे वर्ष, क्षत्रिये बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष उपवीत करना चाहिए।[427]

सभी व्यवस्थाकारों ने गुरू के सान्निध्य मे रहकर विद्यार्जन करने की व्यवस्था छात्रों के लिए की है। गुरूकुल में रहकर छात्र विभिन्न विषयों का अध्ययन करता था।[428] ब्रह्म विद्या के लिए व्रत का पालन करता था जो ब्रह्म (वेद) था। उसका यह कर्त्तव्य था कि वह नियमित रूप से भिक्षायाचन करें और जो कुछ भी उसे मिले उसे गुरू की सेवा में अर्पित कर दे। मनु के कथनानुसार वह सूर्योपासना के बाद भिक्षा मांगता था[429] उसके लिए भिक्षा वृत्ति का निर्देश इसलिए किया गया था कि वह निराभिमान होकर संयम और नियम का पालन कर सके। उसका जीवन अत्यन्त व्यवस्थित, संयमित और नियमबद्ध होता था। शील, साधना और अनुशासन का वह मन से अनुसरण करता था। उसके भिक्षार्जन, भोजन, शयन, गुरू शुश्रूषा, समिधादान, निवास आदि पर अनेक नियमों की व्यवस्था की गई थी।[430] वह आचार्य की अधीनता स्वीकार करते हुए गुरू की सेवा करता था और ऐसा करने वाला जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी स्वर्ग को प्राप्त करता था।[431] अपनी इच्छा और वासना को अपने वश में रखना तथा अपनी क्रियाओं को धर्म समन्वित करना उसका श्रेष्ठ आचारण था। वह अपनी विचरणशील इन्द्रियो को संयमित रखता था जिससे उसे सिद्धि की प्राप्ति होती थी।[432] अलबरूनी के विवरण से भी ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं सदी के भारत में भी ब्रह्मचारी का जीवन कुछ इसी प्रकार का था। अलबरूनी लिखता है- वह दिन में तीन बार स्नान करता था। सुबह और शाम होम करता है। इसके पश्चात वह गुरू की पूजा करता है। गुरू गृह में ही वह निवास करता है। भिक्षा-याचना के लिए जाते समय ही वह गुरू ग्रह छोड़ता है। उसे जो भिक्षा मिलती है, उसे गुरू के सम्मुख अर्पित कर देता है। तब गुरू शेष भाग को उसे देकर खाने के लिए आज्ञा देता है। फिर यज्ञ के लिए दो तरह के वृक्षों पलास और दर्म

की लकडी लाता है. इसीलिए हिन्दू यज्ञ होम की अधिक करते और फूल चढाते है।

विद्यार्थी के ब्रह्मचार्य आश्रम की अवधि प्रायः बारह वर्ष की होती थी तब तक उसकी आयु पच्चीस वर्ष के लगभग हो जाती थी। ब्रह्मचार्याश्रम की अवधि के संबध मे मनु[434] ने लिखा है कि ब्रह्मचारी गुरू के समीप 36 वर्ष तक (तीन वेदो का अध्ययन) या उसका आधा 18 वर्ष तक अथवा उसका चतुर्थांश 9 वर्ष तक या वेदों के ग्रहण करने की अवधि तक अध्ययनरत रहे। प्राचीन काल से ही अध्ययन का साहित्य बहुत विशाल रहा है। तैतिरीय ब्राह्मण[435] ने कहा है कि वेद अनन्त है। शतपथ ब्राह्मण[436] ने स्वाध्याय के अर्न्तगत ऋचाओ. यजुओं, सामों अथर्वागिरसो (अर्थववेद), इतिहासपुराण, गाथाओं को गिना है। छान्दोग्य उपनिषदा में नारद सनत्कुमार से कहते है कि उन्होनें (नारद ने) चारों वेदों, पांचवे वेद के रूप में इतिहास पुराण, वेदों के वेद (व्याकरण), पित्य (श्राद्ध पर प्रबन्ध), राशि (अंकगणित), दैव (लक्षण-विद्या), निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), वाकोवाक्य (कथानोपकथन या हेतु विद्या), राजनीति, देवविद्या (निरूक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एवं ध्वनि विद्या), भूत विधा (भूत प्रेतों को दूर करने की विद्या), क्षत्र विद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या (नाच, गान, अभ्यंजन आदि) सीख ली।

वेदाध्ययन के लिए पहले से ही कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। गौतम[438]ने लिखा है कि विद्या के अत में शिष्य को गुरू से धन लेने या जो कुछ वह दे सके, लेने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जब गुरू आज्ञार्पित कर दे या बिना कुछ लिये जाने को कह दे तब शिष्य को स्नान करना चाहिए (अर्थात घर लौटना चाहिए) । आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने लिखा है कि अपनी योग्यता के अनुसार शिष्य को विद्या के अंत में गुरूदक्षिणा देनी चाहिए, यदि गुरू तंगी में हो तो उग्र या शूद्र से भी भिक्षा मांगकर उसकी सहायता करनी चाहिए।

मनु[439] शंखस्मृति,[440] एवं विष्णुधर्मसूत्र[441] के अनुसार जीविकार्थ वेद या वेदांग पढाने वाला गुरू उपाध्याय कहलाता है। किन्तु मेधातिथि[442], मिताक्षरा[443] ने लिखा है कि केवल शिषय से कुछ ले लेने पर ही कोई गुरू भृतकाध्यापक नहीं कहा जाता, प्रत्युत निर्दिष्ट धन लेने पर ही पढ़ाने

की व्यवस्था करने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र होता है। किन्तु आपत्काल मे जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की गयी थी।[444]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम मे व्यक्ति की मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और अध्यात्मिक उन्नति होती थी। ज्ञान-प्राप्ति और शिक्षा प्राप्ति से उसका मस्तिष्क विकसित होता था। अनुशासन और संयम के अभ्यास से उसका भावी जीवन निर्धारित और सुनियोजित मार्ग पर अग्रसर होता था ।

गृहस्थ आश्रम:

भारतीय समाज में गृहस्थ आश्रम का अत्यधिक मान रहा है। इसी आश्रम पर अन्य सभी आश्रम भी आश्रित थे[445]। ब्रह्मचारी के समावर्तन समारोह के पश्चात विवाह के साथ गृहस्थ जीवन प्रारम्भ होता था। मनु ने गृहस्थ आश्रम को अधिक प्रशसा की है, उसके अनुसार जिस प्रकार सभी नदी-नद सागर में संस्थित हो जाते है उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम में।[446] गृहस्थाश्रम से ही अन्य आश्रमों का विस्तार और विकास होता था तथा उसी के अनुग्रह और आदर पर अन्य आश्रम पूर्णत: निर्भर करते थे। गृहस्थ आश्रम मे रहकर गृहपति अपने विभिन्न कर्त्तव्यों का निर्वाह करता था उदाहरणार्थ वह व्यक्तिगत, समाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करता था। सत्य, अहिंसा, सब भूतो के प्रति दया, शम, सामर्थ्यनुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्म थे। मनु के अनुसार वह दस प्रकार के धर्मों का सेवन करता था- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध-त्याग।

गृहस्थ को अपने परिवार के संचालन के लिए धार्मिक आधार पर अर्थोपार्जन का निर्देश दिया गया है[447] यथासामर्थ्य दान देने की भी व्यवस्था उसके लिए की गई थी[448]। अर्थशास्त्र[449] के अनुसार स्वधर्म के अनुरूप जीविका चलाना, विधानानुसार विवाह करना, अपनी भार्या से ही सम्पर्क रखना, देवताओं, पितरों और भृत्यों को संतुष्ट करने के उपरान्त अवशिष्ट भोजन स्वंय ग्रहण करना गृहस्थ का प्रधान धर्म है।

जन्म के पहले से लेकर मृत्यु तक के समस्त संस्कार गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही सम्पन्न किये जाते थे। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन जातकर्म नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म,

कर्णछेदन, विद्यारम्भ, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि विभिन्न सस्कार गृहस्थ आश्रम मे रहते हुए ही व्यक्ति सम्पन्न करता है। अत सस्कारो की निष्पन्नता में गृहस्थ आश्रम का अभूतपूर्व योगदान रहा है।

ब्राह्मणग्रंथों के अनुसार व्यक्ति पर चार प्रकार के ऋण थे-पैदा होते ही वह देवताओ, पितरों, ऋषियों और मनुष्यो का ऋणी हो जाता था।[450] प्राय: सभी व्यवस्थाकारों ने तीन ऋणो की चर्चा की है- देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण। मनु ने यह व्यवस्था दी है कि उक्त तीनों ऋणों को पूरा करके मन को मोक्ष (सन्यास) में लगाये बिना मोक्ष (सन्यास) सेवी व्यक्ति नरक में जाता है। इन ऋणों की व्याख्या करते हुए उसने आगे लिखा है कि विधिपूर्वक वेदों को पढकर, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञो का अनुष्ठान कर (द्विज) मोक्ष में मन लगाये।

गृहस्थ के लिए यज्ञ करना आवश्यक समझा गया। अग्नि जलाने में, पीसने में, गृहसज्जा मे और कूटने आदि में होने वाले पापों के प्रायश्चित स्वरूप इन पंचमहायज्ञों को सम्पादित करना भारतीय दर्शन का प्रधान तत्व था। ये पांच महायज्ञ इस प्रकार थे ब्रहमयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ[452]। मनु ने भी पाच पापों (चुल्ली, पेषणी, उपस्कर, कण्डनी और जलकुम्भ) से मुक्ति पाने के लिए पांच यज्ञों का विधान किया है।[453] ब्रह्मयज्ञ द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन विद्वान ऋष्यिों के प्रति श्रद्वा और आदर व्यक्त करता था और वेदाध्ययन अध्यापन करके ब्रह्म यज्ञ किया जाता है। पितृ यज्ञ के अन्तर्गत मनुष्य पितरों अर्थात पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता था, क्योकि ऐसा विश्वास किया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति पर पितरों के ऋण थे। यह ऋण पितृयज्ञ के सम्पादन के बाद ही समाप्त होता था। देव यज्ञ में देवताओं का पूजन-अर्जन किया जाता था तथा बलि और अग्नि की आहुति देकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती थी। प्राय: यह विश्वास किया जाता रहा है कि गृहस्थ के पास जो भी सुख सुविधा का साधन है, सब ईश्वर प्रदत्त है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य था कि वह देवताओं के प्रति आभारी रहे। इसलिए दैव हवन, द्विज के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य था। भूतयज्ञ के माध्यम से समस्त प्राणियों के प्रति बलि प्रदान की व्यवस्था की गई। विघ्नकारी और अनिष्टकारी प्रेतात्माओं की तुष्टि के लिए भूतयज्ञ सम्पन्न किया जाता

था। नृयज्ञ को अतिथियज्ञ भी कहते थे, अतिथि सत्कार गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य ही नहीं बल्कि धर्म भी माना गया है। अतिथि चाहे किसी भी जाति का क्यो न हो, वह सत्कार योग्य माना गया था, अतिथि को देवता के रूप में देखा जाता था।[456]

इस प्रकार पचमहायज्ञ के सिद्धान्त ने गृहस्थ को प्रत्येक दृष्टि से उन्नतिशील बनाने की चेष्टा की है। नैतिक और धार्मिक धरातल पर स्थित ये पचमहायज्ञ जीवन के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पक्ष को विकसित करने वाले थे। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में रहता हुआ व्यक्ति तीनों ऋणों से उऋण होता है साथ ही यज्ञ कर अपने कर्तव्यों की पूर्ति करता है। गृहस्थ चार प्रकार के निर्दिष्ट किये गए - कुसूलधान्य, कुंभधान्य, अश्वस्तन और कपोती - माश्रित। महाभारत के अनुसार कुसुलधान्य गृहस्थ वे थे जो षटकर्मो यजन, याजन, पठन-पाठन दान ओर प्रतिग्रह को सम्पन्न करते थे। कुम्भधान्य उनको कहा जाता था जो यज्ञ, अध्ययन और दान में निष्ठावान रहते थे । अश्वस्तन वे गृहस्थ थे जो अध्ययन और दान में अधिक व्यस्त रहते थे तथा कपोतीमाश्रित उस गृहस्थ को कहा गया जिसकी रूचि केवल स्वाध्याय में ही थी।[457] संभवत: ये वर्गीकरण केवल ब्रह्मण के लिए ही थे। मनु का कथन है कि ब्राह्मण गृहस्थ कुसुलधान्यक अथवा कुभीधान्यक या त्रयाहिक अथवा ऐकारिक वा अश्वस्तानिक हो। किन्तु भाष्यकारों ने कुसुल एंव कुम्भी की व्याख्या विभिन्न ढंग से की है। कुल्लूकभट्ट[458] के मतानुसार वह ब्राह्मण जिसके पास तीन वर्षों के लिए अन्न है, कुसुलधान्य कहलाता है और कुम्भीधान्य वह है जिसके पास साल भर के लिए पर्याप्त अन्न है। मेधातिथि[459] का कहना है कि केवल अन्न पर ही रूकावट नहीं है, जिसके पास अन्न या धन तीन वर्षों के लिए है, वह कुसूलधान्य है। गोविन्दराज[460] के अनुसार 'कुसूलधान्य' एंव 'कुम्भीधान्य' वे ब्राह्मण है जिसके पास क्रम से 12 और 6 दिन का अन्न है। मिताक्षरी[461] गोविन्दराज के विचार से सहमत है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल के गृहस्थों का विभाजन जहॉ अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह की प्राथमिकता के आधार पर होता है वहीं पूर्वमध्यकाल में आकर इसके अर्थों में व्यापक परिवर्तन दृष्टिगत होता है। अब गृहस्थ ब्राह्मण का विभाजन उनके पास कितने दिनों के लिए अन्न का भंडार है इस तथ्य

से होने लगा था। मात्रा मे अन्तर होने के बाद भी लगभग सभी भाष्यकार कुसुलधान्य एव कुम्भीधान्य को अपने पास संचित अर्थ के रूप में ही ग्रहण किया है।

प्राचीनकाल मे गृहस्थ के लिए जो नियम और आचरण निर्दिष्ट किये गये थे, वे निश्चय ही उसके व्याग और आध्यात्मिक जीवन की ओर अधिक झुके थे। गृहस्थ के लिए भौतिक एंव सांसारिक सुखों को स्वीकार करते हुए भी उसको सीमाबद्ध कर दिया गया था। गृहस्थ आश्रम का मूल उद्देश्य था धर्म, संतान और काम की उपलब्धि। विभिन्न कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए गृहस्थ आश्रम अत्यन्त उपयुक्त और सर्वोत्तम आधार था। पुरूषार्थों की पूर्णता, ऋणों से मुक्ति, महायज्ञों का सम्पादन, संस्कारों की सम्पन्नता, पारिवारिक सौमनस्य आदि गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही एक व्यक्ति कर सकता था।

वानप्रस्थ आश्रम :

वानप्रस्थ के लिए प्राचीन काल में संभवत: 'वैखानस' शब्द प्रयुक्त होता था। बौधायन धर्मसूत्र [462] ने उसी को वानप्रस्थ कहा है जो वैखानस शास्त्र से अनुमोदित नियमों का पालन करता है। पराशरमाधवीय[463] ने वसिष्ट धर्मसूत्र[464] को उद्धत करके (श्रामण - के नाग्निमाधाय) लिखा है कि 'श्रामणक' वह वैखानस सूत्र है जिसने तपस्वियों के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। मनु[465] ने वानप्रस्थ को वैखानस के मत के अनुसार चलने को कहा है और मेधातिथि[466] ने वैखानस को ऐसा शास्त्र माना है जिसमें वन में रहने वाले मुनियों या यतियों (वानप्रस्थ) के कर्त्तव्यों का वर्णन हो। गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम का प्रारम्भ होता था जब मनुष्य अपने समस्त गृहस्थ कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेता था और मुक्त हो जाता था तब वह सांसारिक मोहमाया को त्यागकर वानप्रस्थ जीवन की ओर मुडता था। मनु के अनुसार जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखे, उसके बाल पक जायें और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जायें तो उसे वन की राह लेनी चाहिए। इस विषय में टीकाकारों के विभिन्न मत हैं। कोई तीनों दशाओं (झुर्रियों, केश पक जाना, पौत्र उत्पन्न हो जाना) को, कोई इनमें से एक के उत्पन्न हो जाने को तथा कोई 50 वर्ष की अवस्था प्राप्त हो जाने को वन जाने

का उपयुक्त समय बताता है। कुल्लूकभट्ट[466] ने एक स्मृति का उदाहरण देकर 50 वर्ष की अवस्था को वानप्रस्थ के लिए उपयुक्त ठहराया है।

गौतम[469] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[470] बौधायनधर्मसूत्र[471] वसिष्ठधर्मसूत्र[472], मनु[473], याज्ञवल्क्य[474] विष्णुधर्म सूत्र[475] आदि ने वानप्रस्थ के कतिपय नियमों का ब्यौरा दिया है। मनु[476] एव याज्ञावल्क्य[477] के अनुसार वन में अपनी पत्नी के साथ या उसे पुत्रो के आश्रम में छोडकर जा सकता है। मेधातिथि[478] ने इस पर टीका करते हुए लिखा है कि यदि पत्नी युवती हो तो वह पुत्रों के साथ रह सकती है, किन्तु बूढी हो तो वह पति का अनुसरण कर सकती है।

वानप्रस्थ अपने साथ तीनो वैदिक अग्नियों, ग्रहाग्नि तथा यज्ञ में काम में आने वाले पात्र यथा स्रुक, स्रुव आदि ले लेता है। यज्ञ के लिए भोजन वन में उत्पन्न होने वाले नीवार नामक अन्न से बनाता है। गौतम[479], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[480] एव वसिष्ठधर्मसूत्र[481] का कहना है कि वानप्रस्थ को श्रौत एंव गृहअग्नियों को त्यागकर श्रामणक (अर्थात् वैखानस सूत्र) के नियमों के अनुसार नवीन अग्नि प्रज्वलित करके यज्ञाहुतियां देनी चाहिए। जबकि मेधातिथि[482] के अनुसार 'श्रामणक' अग्नि उसी के द्वारा प्रज्वलित की जाती थी जिसकी पत्नी मर जाती थी अथवा जो छात्र जीवन के तुरन्त बाद ही वानप्रस्थ हो जाता था। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल आते-आते आश्रम के विधानों में पर्याप्त अंतर आ चुका था।

मनु[483] एंव गौतम[484] के मत से वानप्रस्थ को अपने गांव वाले भोजन तथा गृहस्थी के सामान (गाय, अश्व, शयनासन आदि) का त्याग कर देना चाहिए और फूल, फल, कन्द-मूल पर तथा वन में या पानी में उगने वाली वनस्पतियों या पत्तियों के योग्य नीवार, श्यामक आदि अनाजों पर निर्भर रहना चाहिए। मनु[485] के मत से वह अपने द्वारा बनाया हुआ नमक खा सकता है। उसे प्रतिदिन पांच महायज्ञ करने चाहिए अर्थात् देवों, ऋषियों, पितरों, मानवों (अतिथियों) एंव भूतों (प्राणियों) की पूजा कर उन्हें यतियों के योग्य भोजन देना चाहिए। उसे तीन बार स्नान करना चाहिए, प्रात: मध्याहन एंव सांयकाल[486]। उसे गृगचर्म, वृक्ष की छाल या कुश से शरीर ढकना चाहिए और सिर के बाल एंव नख बढने देने चाहिए।[487] उसे वेदाध्ययन में श्रद्धा रखनी चाहिए और वेद का मौन पाठ करना चाहिए[488] । उसे संयमी, आत्मनिग्रही, हितैषी, सचेत तथा सदय (उदार)

होना चाहिए। कुल्लूक[489] का यह मत कि वानप्रस्थी को, पत्नी के साथ रहने पर, नियमित कालो मे मैथुन करना चाहिए; भ्रामक है, क्योंकि मनु[490], याज्ञवल्क्य[491] एंव वसिष्ठ[492] ने इसे वर्जित माना है। उसे हल से जोते हुए खेत के अन्न का, चाहे वह कृषक द्वारा छोड ही क्यो न दिया गया हो, प्रयोग नहीं करना चाहिए और न गांवों मे उत्पन्न फलों एव कंद-मूलों का ही प्रयोग करना चाहिए[493]। वह वन मे उत्पन्न अन्न को पका सकता है या जो स्वय पक जाये (यथा फल) उसे खा सकता है। उसे पंचाग्नि (चारों दिशाओं में चार अग्नि एव ऊपर सूर्य) के बीच बैठकर, वर्षा मे बाहर खडे होकर, जाडे में भीगे वस्त्र धारण कर[494] कठिन तपस्या करनी चाहिए और अपने शरीर को भांति-भांति के कष्ट देकर अपने को सब कुछ सह सकने का अभ्यासी बना लेना चाहिए। रात्रि में उसे खाली पृथ्वी पर शयन करना चाहिए। उसे आनन्द लेने वाली वस्तु के सेवन से दूर रहना चाहिए।[495] यदि वानप्रस्थ किसी असाध्यरोग से पीडित है, अपने कर्त्तव्य नहीं कर पाता और अपनी मृत्यु को पास में आई हुई समझता है, तो उसे उत्तर पूर्व की ओर मुख करके महाप्रस्थान कर देना चाहिए और केवल जल एंव वायु पर रहना चाहिए और तब तक चलते रहना चाहिए जब तक कि वह ऐसा गिरे कि पुनः न उठ सके।[496]

वानप्रस्थों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाभारत ने बहुत से वानप्रस्थ राजाओं की चर्चा की है। राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरू को राजा बनाकर स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण किया[497] और वन में कठिन तप करके उपवास से शरीर त्याग दिया[498]। आश्वमेधिकपर्व[499] में आया है कि धृतराष्ट्र ने अपनी स्त्री गांधारी के साथ वानप्रस्थ ग्रहण करके वृक्ष की छालों एंव मृगचर्म को वस्त्र के रूप में धारण किया। कोशलपर्व[500] में आया है कि श्री कृष्ण के स्वर्ग गमन के उपरान्त उनकी सत्यभामा आदि पत्नियाँ वन में चली गयीं और कठिन तपस्या में लीन हो गई।

इसके अतिरिक्त पूर्वमध्यकाल के कुछ अभिलेखीय साक्ष्य से भी वानप्रस्थ द्वारा अपने प्राण त्याग का उदाहरण मिलता है। यशकर्णदेव के रवैया दानपत्र[501] से पता चलता है कि कलचुरि राजा गांगेय ने अपनी एक सौ रानियों के साथ प्रयाग में मुक्ति प्राप्त की। 1076 ई0 के अभिलेख से पता चलता है चंदेल कुल के राजा धंगदेव[502] ने 100 वर्ष की अवस्था में

रूद्र का ध्यान करते हुए प्रयाग मे अपना शरीर छोड दिया। चालुक्य राजा सोमेश्वर के 1068 ई0 के एक अभिलेख से पता चलता है कि सोमेश्वर ने योग साधन करने के उपरान्त तुगभद्रा में अपने को डुबो दिया।[503] पाल शासक विग्रहपाल ने अपने पुत्र नारायण को राज्य सौपकर साधू का जीवन अपनाया।[504] सेन शासक सामन्तसेन वानप्रस्थी होकर गगातरीय वन मे चला गया था।[505]

इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम मोक्ष के मार्ग का दिग्दर्शन करता था, तथा मनुष्य को साधना और तपस्या की ओर उत्प्रेरित करता था, अनुशासन और संयम का जीवन उसे अत्यन्त तपशील बना देता था।

सन्यास आश्रम :

जीवन का अंतिम भाग पछत्तर वर्ष की अवस्था से सौ वर्ष अथवा इसके बाद तक सन्यास आश्रम के अर्न्तगत रखा गया था, जो चतुर्थ आश्रम भी कहा जाता था। पुरूषार्थ के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सन्यास आश्रम के माध्यम से ही संभव थी। सन्यासी को 'भिक्षु' भी कहा गया है और यति भी।[506] सन्यासी को 'परिवार'[507] और 'परिवाजक'[508] की सज्ञा दी गई है। वैदिक ग्रंथों[509] सन्यासी के लिये 'यति' का प्रयोग हुआ है। सूत्रकाल से 'सन्यास' और 'भिक्षु' शब्द का प्रचलन अधिक होने लगा।[510] सन्यास का अर्थ पूर्ण त्याग से है[511], भिक्षु का भिक्षुवृत्ति से तथा यति का तपस्वी से।

डा0 रोमिला थापर[512] ने सन्यास अथवा योग के इतिहास को प्राक्-इतिहासकालीन माना है तथा हडप्पा संस्कृति से प्राप्त 'पशुपति' की मुहर को इसका प्रारम्भिक चरण दर्शित किया है, जो संभवत: व्यक्ति के समाज से वापस होने की क्रिया को व्यक्त करता है।

सन्यास आश्रम ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को प्रजापति के लिए यज्ञ करना पड़ता है, अपनी सारी सम्पत्ति पुरोहितों, दरिद्रों एंव असाहायों में बाँट देनी चाहिए।[513] मनु[514] ने सतर्कता से लिखा है कि वेदाध्ययन, संतानोत्पत्ति एंव यज्ञों के उपरान्त (देव ऋण, ऋषि ऋण एंव पितृ ऋण चुकाने के उपरान्त) ही मोक्ष की चिंता करनी चाहिए। अनुतरदायी गृहस्थ सन्यास का अधिकारी नहीं था। घर, पत्नी, पुत्रों एंव सम्पत्ति का त्याग करके सन्यासी को गांव के बाहर रहना चाहिए और

सदा एक स्थान स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए। जब सूर्यास्त हो जाये तो पेडो के नीचे या परित्यक्त घर में रहना चाहिए और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए। वह केवल वर्षा के मौसम मे एक स्थान पर ठहर सकता है।[515] सन्यासी को ब्रह्मचारी होना चाहिए और सदा ध्यान एंव आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति रखनी चाहिए एंव इन्द्रिय-सुख, आनन्दप्रद वस्तुओं से दूर रहना चाहिए।[516] उसे श्रौताग्नियां, गृहयाग्नि एंव लौकिक अग्नि (भोजन बनाने के लिए) नहीं जलानी चाहिए और केवल भिक्षा से प्राप्त भोजन करना चाहिए।[517] सन्यासी को भरपेट भोजन नही करना चाहिए, उसे केवल उतना ही खाना चाहिए जिससे वह अपने शरीर एंव आत्मा को एक साथ रख सके, उसे अधिक पाने पर न तो संतोष या प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए और न कम मिलने पर निराशा।[518] सन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए, उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र एंव भिक्षापात्र होना चाहिए।[519] केवल वैदिक मंत्रों के जप को छोडकर उसे साधारणतः मौनव्रत रखना चाहिए।[520] सत्यता, अप्रवचन, क्रोधहीनता, विनीतता, पवित्रता, भले एंव बुरे का भेद, मन की स्थिरता, मन नियन्त्रण, इन्द्रिय निग्रह, आत्मज्ञान सभी वर्गों के धर्म हैं। सन्यासी को तो इन्हें प्राप्त करना ही है क्योंकि केवल वेशभूषा, कमण्डलु आदि से कुछ होता जाता नही इन्हें तो बन्धक भी धारण कर सकता है।[521]

रोमिला थापर के अनुसार सन्यासी का जीवन समस्त रागद्वेष और मोह-माया से विलग, पूर्णतया एकाकी था। उसे अपनी स्पृहा, इन्द्रिय, आचरण आदि पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य था।[522] वह अहिंसानुयायी, निर्द्वन्द्व, क्रोधहीन, सत्यनिष्ठ और क्षमाशील होता था।[523] उसके लिए यह अनिवार्य था कि वह क्रोध-मोह का परित्याग कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान नियमों का पालन करें।[524]

पूर्वमध्यकाल में भी सन्यास का प्रचलन था। कुट्टनीमतम[525] से विदित होता है कि सुन्दरसेन सन्यास ग्रहण कर तपस्वियों से नियमानुसार वन की ओर प्रस्थित हुआ था। उसमें कहा गया है कि संन्यास आश्रम अविद्या के नाश तथा मोक्ष (सिद्धि) प्राप्ति हेतु नियत है। शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर का ध्यान सन्यासी के श्रेष्ठ

नियम थे।[526] कुल्लूकभट्ट[527] ने भी मनु पर टीका करते हुए सन्यासी के इन्ही गुणो को दोहराया है। भारत आये अरब यात्रियों सुलेमान एव अलबरूनी ने सन्यास जीवन के विषय मे विस्तार से लिखा है। अलबरूनी[528] लिखता है कि 'चौथाकाल जीवन' के अन्त तक चलता है। मनुष्यलाल वस्त्र और हाथ में एक दण्ड धारण करता है। सर्वदा ध्यानस्थ रहता है। वह अपने मस्तिष्क को शत्रुता और मित्रता से तथा काम, क्रोध, और लालसा से रहित कर लेता है। वह किसी से एकदम सभाषण नही करता। किसी स्वर्गीय पुरस्कार प्राप्ति के निमित्त जब वह विशेष गुणयुक्त स्थानों को भ्रमण करता है तब वह मार्ग के गांव में एक दिन से अधिक और नगर मे पाच दिन से अधिक नही रूकता। अगर कोई उसे कुछ देता है तो वह दूसरे दिन के लिए उसमे से नही बचाता। मुक्तिमार्ग की चिंता करने और जहॉ से इस संसार मे लौटना नहीं होता, उस मोक्ष तक पहुँचने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा कोई कार्य नहीं।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन का विभाजन जिस तरह प्राचीन व्यवस्थाकारों ने प्रस्तुत किया था, वह व्यवस्था अपने मूल उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए थोडे बहुत परिवर्तन के साथ पूर्वमध्यकाल तक चलती आ रही थी। मनु के टीकाकारों ने आश्रम व्यवस्था पर यत्र-तत्र अपनी टिप्पणी की है जिससे इस तथ्य का पता चलता है कि पूर्व मध्यकाल में आश्रम व्यवस्था सूचारू रूप से चल रही थी।

संस्कार:

ऋग्वेद[529] में संस्कृत शब्द धर्म (बरतन) के लिए प्रयुक्त हुआ है यथा दोनों अश्विन् पवित्र हुए बरतन को हानि नहीं पहुँचाते। ऋग्वेद में संस्कृत[530] तथा खाय संस्कृत:[531] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण में आया है- 'तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति अर्थात स्त्री किसी संस्कृत (सुगठित) घर में खडे पुरूष के पास पहुँचती है। जैमिनि के सूत्रों में संस्कार शब्द अनेक बार आया है[533] और सभी स्थलों पर यह यज्ञ के पवित्र या निर्मल कार्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; ज्योतिष्टोम यज्ञ में सिर के केश मुंडाने, दांत स्वच्छ करने, नाखून काटने के अर्थ में (3/8/3), या प्रोक्षण जल (छिड़कने) के अर्थ में (913125) आदि। जैमिनी में संस्कार शब्द उपनयन के लिए प्रयुक्त हुआ है[534] शबर ने जैमिनी के 3/1/3 की व्याख्या में संस्कार शब्द का अर्थ

बताया है कि सस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है।[535] तन्त्रवार्तिक के अनुसार सस्कार वे क्रियाएं तथा रीतियॉ है जो योग्यता प्रदान करती है। यह योग्यता दो प्रकार की होती है पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता[536]। संस्कारो से नवीन गुणो की प्राप्ति तथा तप से पापो या दोषों का मार्जन होता है।

मनु[237] के अनुसार द्विजातियों में माता-पिता के बीच एंव गर्भाशय के दोषों को, गर्भाधान समय के होम तथा जातकर्म (जन्म के समय के संस्कार) से, चौल (मुण्डन संस्कार) से तथा मूंज की मेखला पहनने (उपनयन) से दूर किया जाता है। वेदाध्ययन, व्रत, होम त्रैविद्य व्रत, पूजा, सन्तानोत्पत्ति, पंच महायज्ञों तथा वैदिक यज्ञों से मानव शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। याज्ञवल्क्य[538] का मत है कि संस्कार करने से बीज-गर्भ से उत्पन्न दोष मिट जाते हैं। संस्कारतत्व[539] में उद्धत हारीत के अनुसार जब कोई व्यक्ति गर्भाधान की विधि के अनुसार संभोग करता है, तो वह अपनी पत्नी में वेदाध्ययन के योग्य भ्रूण स्थापित करता है। पुंसवन संस्कार द्वारा वह गर्भ को पुरूष या नर बनाता है। सीमन्तोन्नयन संस्कार द्वारा माता पिता से उत्पन्न दोष दूर करता है। बीज, रक्त एंव भ्रूण से उत्पन्न दोष जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण एंव पवित्रता की उत्पत्ति होती है।

प्रत्येक संस्कार के उद्देश्य अलग-अलग हैं। गर्भाधान पुंसवन, सीमन्तोन्नयन ऐसे संस्कारों का महत्व रहस्यात्मक एंव प्रतीकात्मक था। नामकरण, अन्नप्राशन एंव निष्क्रभण ऐसे संस्कारों का केवल लौकिक महत्व था, उनसे केवल प्यार, स्नेह एंव उत्सवों की प्रधानता मात्र झलकती है। उपनयन जैसे संस्कारों का संबंध आध्यात्मिक एंव सांस्कृतिक उद्देश्यों से था, इससे गुण सम्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता था, वेदाध्ययन का मार्ग खुलता था तथा अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त होती थी, उनका मनोवैज्ञानिक महत्व भी था, संस्कार करने वाला व्यक्ति एक नये जीवन का आरम्भ करता था जिसके लिए वह नियमों के पालन के लिए प्रतिश्रुत होता था।

क्या शूद्रों का भी कोई संस्कार होता है? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक मत मतान्तर हैं। व्यास[540] ने कहा है कि शूद्र लोग बिना

वैदिक मत्रो के गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध एव विवाह नामक संस्कार कर सकते हैं। अपरार्क[541] के अनुसार गर्भाधान से चौल तक-आठ संस्कार सभी वर्णों के लिए (शूद्रो के लिए भी) मान्य हैं। किन्तु मदनरत्न, रूपनारायण तथा निर्णयसिन्धु मे उद्धत हरिहर भाष्य के मत से शूद्र लोग केवल छ. संस्कार यथा-जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण एव विवाह तथा पचाह्निक (प्रतिदिन के पाच महायज्ञ) कर सकते है। रघुनन्दन के शूद्र कृत्यतत्व[542] में लिखा है कि शूद्र के लिए पुराणों के मंत्र ब्राह्मण द्वारा उच्चरित हो सकते हैं शूद्र केवल नमः कह सकता है। ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्रों के लिए केवल विवाह का संस्कार मान्य है।[543]

हिन्दू समाज मे संस्कारों को प्रचलन वैदिक युग से हो रहा है किन्तु इनका विवरण वैदिक साहित्य में नहीं मिलता सूत्रों एंव स्मृतियों में इनके विषय में विस्तार से लिखा गया है। मनुष्य के जीवन में कितने संस्कार होने चाहिए, इस पर धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है। गौतम[544] ने संस्कारों की संख्या चालीस दी है और वैखानस ने अठारह। प्रायः सभी धर्मशास्त्र संस्कारों की संख्या सोलह मानते हैं- गर्भाधान, पुसंवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। वस्तुतः सस्कारों की संख्या उनकी मान्यता पर निर्भर थी। जो संस्कार समाज द्वारा स्वीकृत किये गये और उनका पालन किया गया, वही ज्यादा प्रचलित हुए।

गर्भाधान अथवा निषेक:

अर्थववेद का 5/25 वां काण्ड गर्भाधान के क्रिया संस्कार से संबंधित है। अर्थववेद के इस अंश के तीसरे एंव पांचवें मंत्र से, जो वृहदारण्यकोपनिषद[545] में उद्धत है, गर्भाधान के कृत्य पर प्रकाश पड़ता है। इसे सम्पन्न करते समय उपयुक्त समय और वातावरण का ध्यान रखना अपेक्षित रहा है। स्त्री का ऋतुकाल में रहना आवश्यक माना गया है। ऋतुस्नान के बाद चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक गर्भाधान के लिए उपयुक्त समय अवधि मानी गई है।[546, 547]रात्रि का समय ही गर्भाधान के लिए ठीक माना गया है वह भी अर्धरात्रि के बाद। रात्रि में पिछला प्रहर

श्रेयस्कर था, 8वी, 15वी और 30वी रात्रिया गर्भाधान के लिये पूर्णत वर्जित थी।[548] [549]

गर्भाधान गर्भ (भ्रूणास्थित बच्चे) का संस्कार है या स्त्री का? याज्ञवल्क्य[550] की व्याख्या मे विश्वरूप ने लिखा है कि सीमान्तोन्नयन संस्कार को छोडकर सभी संस्कार बार-बार सम्पादित होते हैं क्योंकि ये गर्भ के संस्कार है, किन्तु सीमन्तोन्नयन संस्कार केवल एक बार सम्पादित होता है, क्योंकि यह स्त्री से संबंधित है। यही बात लघु आश्वलायन[551] में भी पायी जाती है, किन्तु मनु[552] पर टीका करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि विवाहोपरान्त कुछ लोगों के मत से प्रथम संभोग के समय ही गर्भाधान संस्कार किया जाना चाहिए। मेधातिथि के उपरोक्त विचार से कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है कि गर्भाधान संस्कार केवल एक बार किया जाता था अथवा बार-बार किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में भी गर्भाधान एक सस्कार के रूप में सम्पादित होता था, समाज में इसका प्रचलन था। कुल्लूकभट्ट[553] भी मनु के ऊपर टीका करते हुए कहते हैं कि गर्भाधान संस्कार होमके रूप में नहीं सम्पादित होता है। स्मृतिचन्द्रिका[554] में भी यही तथ्य है। अलबरूनी लिखता है कि अगर व्यक्ति संतान के निमित्त पत्नी से सम्भोग करता है तो यह उसका कर्त्तव्य है कि वह गर्भाधान नामक यज्ञ करे। इस संस्कार को लज्जावश कभी-कभी छोड दिया जाता था। निश्चय ही गर्भाधान सस्कार परवर्तीकाल में सबके लिए अनिवार्य नहीं रहा, मगर द्विजों के कट्टर धर्मानुयायी वर्ग में इसकी अनिवार्यता अवश्य थी।[555]

पुंसवन:

पुंसवन शब्द अर्थववेद[556] में आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है: लड़के को जन्म देना। आश्वलायन गृह सूत्र[557] के अनुसार गर्भ के तीसरे महीने पुंसवन संस्कार का आरोपण किया जाता था और एक अन्य स्थान[558] पर कहा है कि यह संस्कार पुत्र संतानोत्पत्ति के निमित्त निष्पन्न होता था। इस संस्कार के माध्यम से पुत्र उत्पन्न करने वाले देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। कभी-कभी यह दो मास से लेकर आठ मास के बीच किसी भी समय सम्पन्न किया जाता था। वायु पुराण[559] एंव ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए यह संस्कार सम्पादित

किया जाता था। पूर्वमध्यकालीन भाष्कारो ने इस सन्कार का कोई उल्लेख नहीं किया है।

सीमन्तोन्नयन :

इस सस्कार का वर्णन आवश्लायन[559] शाखायन[560] हिरण्यकेशी[561], बौधायन[562] भारद्वाज[563], गोभिल[564], खादिर[565], पारस्कर[566], काठक[567], वैखानस[568] नामक गृहसूत्रो मे पाया जाता है। याज्ञवल्क्य[569] एंव व्यास[570] ने इस संस्कार को केवल सीमन्त की संज्ञा दी है। पारस्कर गृहसूत्र[571], बौधायन गृहसूत्र[512] के अनुसार इस संस्कार को सीमन्तोन्नयन इसलिए कहा गया कि इसकी सम्पन्नता मे गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर (उन्नयन) उठाया जाता था। ऐसा विश्वास था कि जब स्त्री गर्भिणी होती है तब उस पर अनेक बाधाएँ आती है जो उसे डराकर गर्भ का विनाश कर देती है अतः इन दुष्ट शक्तियो और बाधाओं से गर्भिणी स्त्री की रक्षा का उपाय सीमन्तोन्नयन सस्कार से किया गया। गृहसूत्रों में यह उल्लिखित है कि स्त्री के गर्भ का भक्षण करने के लिए कुछ राक्षसियॉ आती हैं, जो उसे अनेक प्रकार की पीडा और कष्ट पहुंचाती हैं। इसके निवारणार्थ पति को 'श्री' का आह्वान करना चाहिए, जिससे राक्षसियॉ भाग जायें[573]। इस संस्कार को सम्पन्न करते समय पुरूष मातृपूजन करता था और प्राजापत्य आहुति प्रदान करता था। पूजन विधि में वह प्रतीक के रूप में तीन गुच्छों और सफेद चिन्ह वाले शाही के तीन कांटे भी रखता था जिससे दुष्ट शक्तियाँ गर्भिणी स्त्री से दूर रह सकें। कालान्तर में यह संस्कार समाप्तप्राय हो गया, क्योंकि मनु ने इसका नाम तक नहीं लिया है। पूर्वमध्यकाल के भाष्यकारों ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है।

जातकर्म :

पुत्र जन्म के समय जातकर्म संस्कार सम्पादित किया जाता था। मनु के अनुसार नाभिच्छदन (नार काटने) के पहले जातकर्म संस्कार किया जाता था।[574] अनिष्टकारी शक्तियों का बच्चे पर कोई कुप्रभाव न पड़े इसके लिए यह संसकार सम्पन्न होता था। सोना, घी तथा मधु से गृहोक्त मंत्रों के साथ नवोत्पन्न बच्चे का प्राशन कराया जाता था, पिता सविधि स्नानादि करके नान्दीमुख श्राद्ध और पूजन करता था।[575] मध्यकालीन लेखकों ने भी जातकर्म संस्कार पर प्रकाश डाला है।

स्मृतिचन्द्रिका[576] संस्काररत्नमाला[577], एव सस्कार प्रकाश[578] मे इसका उल्लेख मिलता है। अलबरूनी[579] लिखता है कि पत्नी द्वारा पुत्र प्रसव करने के बाद और मा द्वारा उसका पोषण प्रारम्भ करने के बीच जातकर्म नामक तीसरा यज्ञ किया जाता है। जातकर्म के अभिलेखीय प्रमाण भी मिलते है, गहडवाल नरेश जयचन्द्र ने अपने पुत्र हरिश्चन्द्र के 'जातकर्म' के शुभअवसर पर पुरोहित प्रहराज शर्मन को वदेसर ग्राम को दान मे दे दिया था।[580]

नामकरण:

हिन्दू समाज में संतान को नाम प्रदान करना भी एक संस्कार माना गया है। अच्छे नाम को शुभकर्मों और भाग्य का आधार माना गया है। अपने व्यक्तिगत नाम से ही व्यक्ति समाज में जाना जाता है। अत: नामकरण के माध्यम से संतान का नाम निर्धारित होता है जिससे वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। ब्राह्मण ग्रंथों[581] गृहसूत्रों[582] एंव स्मृतियों[583] में नामकरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। शिशु के नाम का चुनाव धार्मिक क्रियाओं के साथ निश्चित तिथि को सम्पन्न किया जाता था। नामकरण के लिए नामकरण का काल और नामार्थाक शब्दों का विचार भी इसका आवश्यक अंग था। मनु के अनुसार दसवें या बारहवें दिन शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त में नामकरण का आयोजन करना चाहिए।[584] भाष्यकार विश्वरूप[585] और कुल्लूकभट्ट[586] के अनुसार इसे 11वें दिन सम्पन्न करना चाहिए। मेधातिथि[587] ने इसे 10वे दिन सम्पादित करने का निर्देश दिया है। बृहस्पति[588] ने यह व्यवस्था दी है कि शिशु का नामकरण जन्म से दसवें, बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें, अथवा बत्तीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए। नामकरण के दिन के संबंध में विचार करने पर स्पष्ट होता है कि मनु के काल से लेकर मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट, विश्वकप के समय तक कुछ खास परिवर्तन नहीं आया था । जहाँ मनु ने नामकरण के लिए दसवें या बारहवें दिन का विधान किया था वहीं विश्वरूप और कुल्लूक ने ग्यारहवे तथा मेधातिथि ने 10वें दिन सम्पन्न करने को कहा है अर्थात इस संस्कार में निरन्तरता बनी हुई थी, इसे पूर्वमध्यकाल तक यथावत सम्पन्न किया जा रहा था।

सुन्दर, शोभन और कर्णप्रिय नाम अच्छे माने जाते रहे हैं। शिशु को प्राय: देवताओं, नक्षत्रों आदि के नाम प्रदान किये जाने का

निर्देश दिया गया है। देवता-नाम, मास नाम, नक्षत्र नाम और व्यवहारिक नाम, नाम के ये चार आधार हिन्दू धर्मशास्त्रकारो ने प्रस्तुत किये हैं। मनु[589] के अनुसार ब्राह्मण का नाम मगल सूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धन सूचक और शूद्र का निदा सूचक शब्दों से युक्त होना चाहिए। शर्म, वर्म, गुप्त क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के पुत्रों के नाम का अंत में लगाने की व्यवस्था धर्मशास्त्रकारों ने की है।[590] शूद्र के नाम के साथ अंत में 'दास' शब्द लगाने का विधान किया गया है।[591] बाण ने कादम्बरी में लिखा है कि तारापीड ने अपने पुत्र चन्द्रापीड का नामकरण पुण्य मुहूर्त में जन्म के दस दिन बाद किया था।[592]

निष्क्रमण:

जन्म से एक निश्चित अवधि के बाद जब संतान को पहली बार घर के बाहर निकाला जाता था, तब यह संस्कार निष्क्रमण कहा जाता था। इस संस्कार से पहले माँ और शिशु को एक प्रकोष्ठ में रखा जाता था वहाँ से कहीं और जाने की अनुमति नहीं होती थी। पारस्कर गृहसूत्र[593] में बहुत संक्षेप में इसका वर्णन आया है। गोभिल[594], खादिर[595], बौधायन[596], मानव[597], काठक[598] में इसका वर्णन आया है। यह संस्कार प्राय. जन्म के बारहवें दिन से चौथे मास तक सम्पन्न हो जाता था।[599] इसमे पिता सूर्य की पूजा करता है। मनु के अनुसार बालकों को जन्म से चौथे महीने गृह के बाहर लाना चाहिए।[600] वस्तुत: इस संस्कार के मूल में यह विचार था कि एक निश्चित और निर्धारित तिथि पर शिशु को सर्वप्रथम उन्मुक्त वातावरण और प्राकृतिक जीवन में लाकर तथा सूर्य एंव चन्द्र जैसे नक्षत्रों के प्रकाश में लाकर उसके स्वच्छन्द विकास पर बल दिया जाए।

अन्नप्राशन:

पांचवें महीने के बाद शिशु अन्न खाने लायक हो जाता है और वह धीरे-धीरे अन्न की ओर आकृष्ट होने लगता है। अत: अन्नप्राशन संस्कार द्वारा बच्चे को सर्वप्रथम अन्न ग्रहण कराया जाता था।[601] शिशु के दांत निकलने पर प्रथम बार अन्न खिलाने को प्राशित्र कहा जाता था। इस संस्कार में दूध, मधु, दही और पका हुआ चावल (भात) बच्चे के मुख से स्पर्श कराया जाता था। शिशु की वाणी में प्रवाह लाने के लिए भारद्वाज पक्षी का मांस और उसकी कोमलता के लिए मछली खिलाने का विधान किया गया था, किन्तु हिन्दू परिवारों में

मांसभक्षण का प्रचलन बहुत कम था। पूर्वमध्यकाल के भाष्यकारो ने इस संस्कार पर कोई विशेष टिप्पणी नहीं की है।

चौल या चूड़ाकरण.

चूडा का तात्पर्य बाल-गुच्छ, जो मुण्डित सिर पर रखा जाता है, इसे 'शिखा' भी कहते हैं। शिशु के बाल जब सर्वप्रथम काटने का आयोजन किया जाता था तब यह संस्कार 'चूडाकरण' या 'चूडाकर्म' कहा जाता था।[602] ऐसी मान्यता रही है कि चूडाकरण से दीर्घायु और कल्याण प्राप्त होती है[603] मनु के अनुसार बालकों का चूडाकरण मुण्डन संस्कार वेद और धर्मसम्मत रूप में पहले या तीसरे वर्ष में कराया जाता था।[604] पारस्कर[605] एंव वैखान सं0[606] ने भी लिखा है कि इसे पहले या तीसरे वर्ष कर देना चाहिए। आश्वलायन[807] ने भी तीसरे वर्ष या कुटुम्ब की परम्परा के अनुसार करने को कहा है।

प्राय: यह संस्कार देवालयो में एक शुभ दिन पर सम्पन्न किया जाता था, जहाॅ विधिपूर्वक हवन और पूजन के साथ मातृकाओं और देवों की स्तुति एंव अर्चना सम्पन्न की जाती थी। देव-पूजन और हवन के पश्चात ब्राह्मणो को भोजन और निर्धनों को अन्न वस्त्र बांटकर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। सिर से बाल उतर जाने के बाद मुंडित सिर पर मक्खन या दही का लेपन किया जाता था। मध्यकालीन लेखकों ने भी चूड़ाकरण संस्कार पर विस्तार से लिखा है।[608] मनुस्मृति के भाष्यकारों ने भी चूड़ाकरण का उल्लेख किया है, कुल्लूकभट्ट के अनुसार भी वेद के नियमों के अनुसार बालकों का चूडाकरण प्रथम या तृतीय वर्ष में हो जाना चाहिए।[609] हिन्दू समाज में आज भी मुंडन संस्कार बड़े उल्लास से मनाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह संस्कार काफी प्राचीन समय से प्रचलित रहा है, पूर्वमध्यकाल एंव मध्यकाल में भी इसके प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं और आज भी इसकी निरन्तरता बनी हुई है।

कर्णछेदन या कर्णविध:

हिन्दू संस्कार में यह व्यवस्था वैदिककालीन है। अर्थववेद[610] में इसका उल्लेख मिलता है। यह संस्कार कब और किस समय किया जाये इस पर मत वैभिन्य हैं। निरूक्त[611] से पता चलता है कि प्राचीन काल में भी यह संस्कार किया जाता था। वहाँ आया है-जो (गुरू) कान को सत्य के साथ छेदता है बिना पीड़ा दिये, जो अमृत डालता है, वह अपने माता

और पिता के समान है। गर्ग के अनुसार कर्णविध के लिए छठा, सातवा, या बारहवॉ मास उपयुक्त था।[612] अलबरूनी ने लिखा है कि सातवें या आठवे मास में कर्णविध संस्कार होता है।[613] उस का यह कथन बौधायन के इस कथन से मिलता है कि कर्णविध सातवे या आठवे मास मे करना चाहिए।[614] बृहस्पति के उद्धरण के साथ सस्कार प्रकाश में उल्लिखित हैं कि कर्णछेदन जन्म से दसवें, बारहवे या सोलहवे दिन या सातवे अथवा दसवें महीने में करना चाहिए।[615] विभिन्न धार्मिक क्रियाओ के साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। अब धीरे-धीरे कर्णछेदन सस्कार हिन्दू समाज से उठता जा रहा है।

विद्यारम्भ :

संतान की अवस्था जब पांच वर्ष की हो जाती थी तब उसे शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी[616] । पहले-पहल बच्चे द्वारा वर्णाक्षर सीखा और पढा जाना विद्यारम्भ संस्कार कहा जाता था। यह संस्कार प्राय: चौल संस्कार के बाद ही किया जाता था। शुभ मुहुर्त में शिक्षक द्वारा पट्टी पर 'ओम' और 'स्वास्तिक' के साथ वर्णमाला लिखकर बालक को अक्षर ज्ञान कराया जाता था। मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए अपरार्क[617] और स्मृतिचन्द्रिका[618] ने लिखा है कि सन्तान के विद्या आरम्भ करने की आयु पॉच वर्ष थी। चीनी यात्री श्वानच्वांग[619] ने बालकों की विद्या का आरम्भ सिद्ध से माना है, जो सफलता का परिचालक था। अलबरूनी[620] लिखता है कि बच्चो के लिए विद्यालय में काली तख्ती प्रयोग में लाते हैं। उस पर वे लम्बाई की ओर बायें से दायें सफेद वस्तु (खडिया) से लिखते हैं। मनुस्मृति एव उसके भाष्यकारों ने इस तथ्य पर कोई मत नहीं व्यक्त किये हैं।

उपनयन:

उपनयन का अभिप्राय स्वाध्याय अथवा वेद के अध्ययन से है, जब बालक आचार्य के निकट अध्यानार्थ जाता था। उपनयन के लिए यज्ञोपवीत शब्द का भी प्रयोग होता है जिसका अर्थ है यज्ञ का उपवीत। इस संस्कार की सम्पन्नता से बालक वर्ण अथवा जाति का सदस्य बनता था और द्विज कहलाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये यह अनिवार्य था तथा शूद्रों के लिए नहीं था। वस्तुत: उपनयन संसार का प्रधान उद्देश्य था वेदों का अध्ययन।

गौतम[621] एव मनु[622] के अनुसार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष मे, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवे वर्ष मे उपवीत करना चाहिए। आपस्तम्ब[623], शांखायन[624], बौधायन[625], भारद्वाज[626] एव गोभिल[627] गृहसूत्र तथा याज्ञवल्क्य[628], आपस्तम्बधर्मसूत्र[629] स्पष्ट कहते है कि वर्षों की गणना गर्भाधान से होनी चाहिए। पारस्कर गृहसूत्र के मत से उपनयन गर्भाधान या जन्म के आठवें वर्ष में होना चाहिए। किन्तु इस विषय में कुलधर्म का पालन भी करना चाहिए। याज्ञवल्क्य[631] ने भी कुलधर्म की बात स्वीकार की है। आपस्तम्ब गृहसूत्र[632] एंव आपस्तम्ब धर्मसूत्र[633], हिरण्यकेशी[634] एव वैखानस[635] के मत से तीन वर्णों के लिए क्रम से शुभ मुहूर्त पडते हैं बसन्त, ग्रीष्म एंव शरद के दिन।

ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था, जिसमें एक अधोभाग के लिए (वासस) और दूसरा ऊपरी भाग के लिए (उत्तरीय)। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[636] के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एंव वैश्य ब्रह्मचारी के लिए वस्त्र क्रम से पटुआ के सूत का, सनके सूत का एंव मृगचर्म का होता था। यह संस्कार सम्पन्न करते समय बालक को यज्ञोपवीत धारण करने के लिये दिया जाता था। मेधातिथि यने मनु पर भाष्य[637] में लिखा है कि नव तन्तुओं से निर्मित तीन डोरी वाला यज्ञोपवीत ब्राह्मण बालक पहनता था। विभिन्न वर्णों के बालकों का यज्ञोपवीत विभिन्न प्रकार का होता था। मनु[638] के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास था, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का ऊन का बना हुआ तीन लडी का बना हुआ था। उपनयन संस्कार वाले बालक को मूंज की मेखला (कटिसूत्र) बांधने का विधान था।[639] दण्ड किस वृक्ष से का बनाया जाये, इस विषय में भी बहुत मतभेद रहा है। आश्वलायन गृहसूत्र[640] के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय एंव वैश्य के लिए क्रम से पलाश, उदुम्बर एंव बिल्ब का दण्ड होना चाहिए या कोई भी वर्ण इनमें से किसी एक का दण्ड ले सकता है। बालक के वर्ण के अनुसार दण्ड की लम्बाई में अन्तर था। आश्वलायन गृहसूत्र[641], गौतम[642], वसिष्ठधर्मसूत्र[643], पारस्कर गृहसूत्र[644], मनु[645] के मतों से ब्राह्मण, क्षत्रिय एंव वैश्य का दण्ड क्रम से सिर तक, मस्तक तक एंव नाक तक लम्बा होना चाहिए। मनु के अनुसार दण्ड सीधा, सुन्दर एंव अग्निस्पर्श से रहित होना चाहिए।

यज्ञोपवीत सस्कार की कार्य पद्धति के अन्तर्गत बालक को स्नान कराकर कौपीन (लगोटी) धारण करने के लिए दी जाती थी। आँचार्य उसके कटि के चारों ओर मेखला बाधता है तथा उसे उपवीत धारण करने के लिए दिया जाता है। तत्पश्चात उसे मृगचर्म और दण्ड प्रदान किये जाते थे।[646] यह सारी क्रियायें धर्मशास्त्रीय आधार पर मंत्रों से सम्पन्न की जाती थीं। उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था, जो विद्यार्थी की कर्त्तव्यपरायणता और अविचलित स्वरूप का प्रतीक होता था। बाद मे गुरू और विद्यार्थी परस्पर हृदय का स्पर्श करके अपनत्व का परिचय देते थे। अश्मारोहण (प्रस्तर खण्ड पर आरूढ होना) और हस्तग्रहण (आचार्य द्वारा विद्यार्थी को अपना शिष्य स्वीकार किया जाना) के पश्चात आचार्य शिष्य को सावित्रीमंत्र के साथ उपदेश देता था।[647] ये कार्य सम्पादित कर दिये जाने के बाद विद्यार्थी को भिक्षायाचना के लिए निर्देश दिया जाता था, जो उसकी नम्रता और सदाचारिता का प्रतीक था।

शतपथ ब्राह्मण[648] से पता चलता है कि उपनयन के एक वर्ष, छः मास, 24, 12 या 3 दिन केक उपरान्त गुरू (आचार्य) द्वारा पवित्र गायत्री मंत्र का उपदेश ब्रह्मचारी के लिए किया जाता था। मनु[649] का कहना है कि प्रतिदिन वेदाध्ययन के आरम्भ एव अत में प्रणव (ओम) दुहराना चाहिए, 'ओम के तीन अक्षर अर्थात् अ, उ तथा म तथा तीन व्याहृतियां प्रजापति द्वारा तीनों वेदों से साररूप खींच ली गई है। मेधातिथि[650] मनु पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि विद्यार्थी को वेदाध्ययन के आरम्भ में तथा गृहस्थ को ब्रह्मयज्ञ में 'ओम' का उच्चारण अवश्य करना चाहिए, किन्तु जप में यह आवश्यक नहीं है। उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक उपनयन संस्कार प्रचलित था और उसकी क्रियाविधि पर उसी तरह ध्यान दिया जाता था जैसा मनुस्मृति के काल में था। 'ओम्' शब्द की महत्ता भी उसी तरह थी इसे वेदाध्ययन के प्रारम्भ एंव अंत में उच्चरित करना होता था, सम्भवत: पूर्व मध्यकाल तक आते-आते इस गायत्री मंत्र का विशेष महत्व माना जाना लगा था तभी मेधातिथि ने विद्यार्थियों के साथ-साथ गृहस्थ को भी ब्रह्मयज्ञ के साथ ओम का उच्चारण आवश्यक बताया। एक तरफ जहाँ ज्यादातर संस्कारों का उल्लेख पूर्वमध्यकालीन भाष्यकारों के समय बंद सा हो मया था, वहीं किसी भी संस्कार पर पहले से ज्यादा और एकदम विरोधाभास प्रस्तुत करता है।

एक अन्य स्थल से ज्ञात होता है कि मनु पर भाष्य करते हुए मेधातिथि[651] जप को गौण तथा मंत्र एंव आसन को प्रमुख स्थान देते है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इस काल मे गायत्री मत्र के जप पर उतना जोर नहीं दिया जा रहा था जितना कि मत्र एव सध्योपासना को। जब दो कालों का मिश्रित समय होता है यथा उषाकाल एंव प्रात:काल तब तक संध्या करने का निर्देश दिया गया है।

वेदारम्भ :

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का प्रधान आधार शिक्षक था, जिसे आचार्य गुरू, उपाध्याय की संज्ञा दी गई हैं। अध्यापन अथवा शिक्षण मौखिक ही होता था। आरम्भ में पिता ही पुत्र को शिक्षा देता है जैसा कि वृहदारण्यकों उपनिषद[652] के श्वेतकेतु आरूणेय की गाथा से ज्ञात होता है। मनु[653] का कहना है कि आचार्य उपनयन करने के उपरान्त शिष्य को शौच (शारीरिक शुद्धता), आचार (प्रतिदिन के जीवन में आचार के नियम, अग्नि में समिधा डालने एंव सन्ध्या-पूजा के नियम सिखाता है। यही याज्ञवल्क्य[654] का भी कहना है।

शिक्षण कार्य मौखिक था। सर्वप्रथम प्रणव, व्याहतियॉ एंव गायत्री ही पढायी जाती थी, किन्तु द्विजातियों का प्रथम कर्त्तव्य वेदाध्ययन था। मनुस्मृति[655] एंव शतपथ[656] में वेदाध्ययन को अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। जीवन छोटा होता है, अत. गौतम[657], वसिष्ठधर्मसूत्र[658] मनुस्मृति[659], याज्ञवल्क्य[660] एंव अन्य लोगो ने केवल एक वेद के अध्ययन का आदेश दिया है। दक्ष[661] के अनुसार वेदाध्ययन में पांच बातें पायी जाती हैं-वेद को कंठस्थ करना, उसके अर्थ पर विचार करना, बार-बार दुहराकर सदा नवीन बनाये रखना, जपकरना (मन ही मन प्रार्थना के रूप में दुहराना) एंव दूसरे को पढाना। यही तथ्य मनुस्मृति[662] एंव इसके भाष्यकार-मेधातिथि में भी देखने को मिलती है।[663] इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक यह संस्कार प्रचलित था एंव वेदों की महत्ता यथावत थी।

प्राचीन शिक्षण पद्धति की विशेषताओं में यह एक विचित्र विशेषता है कि वेदाध्ययन के लिए पहले से ही कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। वृहदारण्यकोपनिषद[664] में आया है कि जब जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्त्र गौए, एक हाथी एंव एक बैल देना चाहा तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढ़ाये शिष्य से कोई

पुरस्कार नहीं लेना चाहिए।' आपस्तम्ब धर्मसूत्र[665] मे आया है कि अपनी योग्यता के अनुसार शिष्य को विद्या के अन्त मे गुरूदक्षिणा देनी चाहिए। किन्तु पहले से निर्धारित शुल्क को उचित दृष्टि से नहीं देखा गया है। याज्ञवल्क्य[666] एव विष्णुधर्मसूत्र[667] के अनुसार धन के लिए पढाने एव वेतनभोगी गुरू से पढने को उपपातको में गिना है। भृतकाध्यापक एव उनके शिष्य श्राद्ध मे बुलाये जाने योग्य नही माने जाते थे।[668] किन्तु मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[669], मिताक्षरा[670], स्मृतिचन्द्रिका[671] से ज्ञात होता है कि केवल शिष्य से कुछ लेने पर ही कोई गुरू भृतकाध्यापक नही कहा जाता, प्रत्युत निर्दिष्ट धन ले कर पढाने की व्यवस्था करने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र होता है, किन्तु आपतकाल में जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की गयी थी[672]। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक भी शिक्षण कार्य में नियमित शुल्क लेने की कोई प्रथा नहीं थी। शुल्क लेने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र माना जाता था, किन्तु आपातकाल एंव गुरू की तंगी हालत में गुरू को धन लेने की छूट दे दी गई थी। इस प्रकार शिक्षण संस्था लगभग पूर्ववत सी ही चली आ रही थी।

केशान्त:

विद्यार्थी के सोलहवें वर्ष में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था, जब उसकी दाढी आदि का पहली बार क्षौरकर्म होता था[673] मनु स्मृति[674] के अनुसार गर्भ से सोलहवें वर्ष ब्राह्मण का, बाइसवें वर्ष क्षत्रिय का और चौबीसवे वर्ष वैश्य का केशांत संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। मिताक्षरा[675] तथा कुल्लूकभट्ट[675] ने ब्राह्मणों के लिए गर्भाधान से 16वे वर्ष तथा अपरार्क ने जन्म से 16वें वर्ष माना है। गोदान तथा केशान्त की विधि कुछ अन्तर के साथ चूडाकरण के समान ही है। दाढी, मूछों का उगना तरूणाई के लक्षण हैं, अत: इनकी क्षौर क्रिया के साथ युवा व्यक्ति को ब्रह्मचर्य और सदाचरण का स्मरण दिलाया जाता था। केशान्त को 'गोदान' भी कहा जाता था, क्योंकि इस संस्कार के मंगलमय अवसर पर ब्राह्मण आचार्य को गोदान दिया जाता था। कुल्लूकभट्ट के उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक यह संस्कार उसी स्वरूप में सम्पन्न किया जाता था और मनु के समान ही इस संस्कार को करने

का समय गर्भ से 16वे वर्ष माना गया था। आयु का अंकन गर्भ से करने की परिपाटी अभी तक चली आ रही थी।

समावर्तन :

वेदाध्ययन के उपरान्त का स्नान-कर्म तथा गुरू गृह से लौटते समय का सस्कार स्नान या समावर्तन कहा जाता है। इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं थी। इसकी अवधि तभी मानी जाती थी जब ब्रह्मचारी वेद का अध्ययन पूर्ण कर लेता था। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ है 'गुरूग्रह से अपने गृह को लौट आना। अर्थात् विद्यार्थी जीवन की परिसमाप्ति एंव अब विद्यार्थी विवाह बधन मे बध सकता था। मेधातिथि[677] ने लिखा है कि समावर्तन विवाह का कोई आवश्यक अंग नहीं है। अत. जो पितृगृह में ही वेदाध्ययन करता है, वह बिना समावर्तन के ही विवाह बंधन में प्रवेश कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में भी यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था और साथ ही यह प्रश्न भी उठाया जाता रहा होगा कि समावर्तन विवाह का अंग है या शिक्षा संबंधी संस्कार का अंग। इस प्रश्न पर भी मेधातिथि ने स्पष्ट कर दिया है कि यह विवाह सस्कार का अंग नहीं है। यह गुरू से शिक्षा प्राप्त करके लौटने के प्रतीक स्वरूप यह संस्कार था।

यह संस्कार सम्पन्न करने के लिए कोई शुभ दिन चुना जाता था। मध्यान्ह के समय ब्रह्मचारी गुरू के चरणों में . प्रणाम करता था और तत्पश्चात समिधा इकट्ठी कर हवन करता था। इस स्थान पर जलयुक्त आठ कलश रखे रहते थे, जो इस तथ्य के परिचालक थे कि ब्रह्मचारी के ज्ञान का यश समस्त दिशाओं में वर्षा की तरह व्याप्त है। तत्पश्चात, ब्रह्मचारी उन कलशों के जल से स्नान करता था तथा अपनी पवित्रता, यश, ऐश्वर्य, आदि के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी दण्ड, मेखला, मृगचर्म आदि को त्याग कर नवीन कौपीन धारण करता था तथा अपने बाल और नाखून कटवाकर स्वच्छ हो जाता था। इस अवसर पर आचार्य विद्यार्थी को सुन्दर वस्त्राभूषण, दर्पण, जल, पुष्प आदि प्रदान करता है। इस प्रकार स्नातक आचार्य का आर्शीवाद और अनुमति प्राप्त कर गृह की ओर प्रत्यावर्तन करता था।

विवाह:

विवाह सस्कार को सर्वोकृष्ट महत्ता प्रदान की गई है। ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य था गृहन्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना[678]। शतपथ ब्राह्मण[679] का कहना है कि पत्नी पति की आधी (अर्द्धांगिनी) है, अत जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, सन्तानोत्पत्ति नहीं करता तब तक वह पूर्ण नही है। विवाह क्रिया की सम्पन्नता के समय वाग्दान, वर-वरण, कन्यादान, विवाह-होम, पाणिग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुव दर्शन, त्रिरात्र-व्रत और चतुर्थी कर्म आदि का विधान था।[680] विवाह के पश्चात ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और यहीं रहकर व्यक्ति सामाजिक और धार्मिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था। समस्त ऋणों से व्यक्ति उऋण होता था। वस्तुत. विवाह पुरूषार्थ का मूल था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इसी पर निर्भर थे। विवाह के आठ प्रकार प्रचलन में थे। प्रथम चार ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य को समाज मे आदर प्राप्त था। द्वितीय चार गन्धर्व असुर राक्षस, पैशाच समाज में निन्दित दृष्टि से देखे जाते थे। मनु[681] एव याज्ञवल्क्य[682] ने प्रथम चार विवाहों को ही उपयुक्त माना है। इन विवाहों से उत्पन्न सन्तानें पूर्व तथा आगे की पीढ़ियों के पापा छुटा देती है तथा इन्हीं विवाहों से ब्रह्म तेज वाले और सज्जन पुत्र उत्पन्न होते हैं। किन्तु पूर्व मध्य काल के टीकाकारों ने उपर्युक्त बाते ज्यों की त्यों नही मान ली हैं बल्कि वे केवल ब्रह्म विवाह को ही उच्च दृष्टि से देखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में प्राचीनकाल की अपेक्षा और अधिक संकीर्णता आ गई थी। अभी तक के सूत्रों एंव स्मृतियों से यह ज्ञात होता था कि प्रथम चार प्रकार के विवाह से उत्पन्न बच्चों से पवित्रता होती थी किन्तु अब केवल ब्रह्म विवाह ही उच्च दृष्टि से देखा जा रहा था। मानव जीवन में विवाह संस्कार की महत्ता, एंव सब संस्कारों का आधार होने के कारण इसका विस्तृत विश्लेषण भी किया जा रहा है।

अन्त्येष्टि:

मनुष्य के मरने पर जब उसके पार्थिव शरीर की दाह क्रिया की जाती थी तब उसे अन्त्येष्टि संस्कार कहा जाता था, जो उसके जीवन का अतिंम संस्कार होता था । बौधायन का कथन है कि जन्म के बाद

सस्कारो द्वारा मनुष्य इस लोक को विजित करता है, जबकि मृत्युपरान्त के सस्कारो द्वारा परलोक को विजित करता है।[683] दाहक्रिया करने से पहले अनेक धार्मिक कृत्य किये जाते थे। शव ले जाने के लिए बास की अर्थी अथवा बैलगाडी प्रयोग मे लायी जाती थी।[684] ऋग्वेद मे उल्लिखित है कि दाह क्रिया की अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर मत्रो का पाठ किया जाता था कि हे अग्नि! इस शरीर का तू भस्मकर, इसे कष्ट न दे और न ही इसकी त्वचा और अवयवो को इधर-उधर कर तथा शरीर भस्म हो जाने के बाद इसकी आत्मा को चित्लोक में ले जा।[685] इसके पश्चात् कुछ काल तक मृतक के संबंधी अशौच मे रहते थे। शुद्धि के बाद शांति और श्राद्ध क्रिया की जाती थी।[686] पिडदान, श्राद्धकार्य और ब्राह्मणभोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था।[687] हिन्दू परिवारों में आज भी अन्त्येष्टि संस्कार इसी विधि से सम्पन्न किया जाता है।

विवाह:

हिन्दू संस्कृति मे विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया है, इसे संविदान न मानकर संस्कार माना गया जिसका उद्देश्य उन विभिन्न पुरूषार्थों को पूरा करना है, जिनकी प्राप्ति में पति और पत्नी दोनों का सहयोग होता है। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ ही विवाह से माना गया है।[688] ऋग्वेद के मतानुसार विवाह का उद्देश्य था गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा संतानोत्पत्ति करना।[689] ऐतरेय ब्राह्मण[690] के अनुसार स्त्री को 'जाया' कहा गया है, क्योंकि पति ने पत्नी के गर्भ से पुत्र के रूप में ही जन्म लिया है। शतपथ ब्राह्मण[691] में कहा गया है कि पत्नी पति की अर्द्धांगिनी है, अत: जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक संतानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं है। मनु[692] के अनुसार पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द, अपने तथा अपने पूर्वजों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है, अत: स्पष्ट है कि धर्म सम्पत्ति, प्रजा (तथा इस के फलस्वरूप नरक में गिरने से रक्षा) एंव रति (यौनिक तथा अन्य स्वाभाविक आनन्दोत्पत्ति) ये तीन विवाह संबंधी प्रमुख उद्देश्य माने जाते हैं।

इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वानों ने विवाह के उददेश्यों में यौन संबंध को अन्य उद्देश्यों से ऊपर रखा है। राबर्ट ब्रिफाल्ट[693] हिन्दू

विवाह के लिए यौन सबध को अधिक महत्व दिया है, जोकि हिन्दू विवाह के मानदण्डों के विपरीत है। हिन्दू विवाह मे धार्मिक उद्देश्य ही सर्वप्रमुख है और विषय भोग अतिम स्थान-पर आता है।

वेस्टरमार्क[694] के अनुसार विवाह एक या अधिक पुरूषो का एक या अधिक स्त्रियो के साथ जुडने वाला वह संबंध है जो ऐसी प्रथा अथवा कानून द्वारा स्वीकार किया जाता है जिसमे दोनों पक्ष और उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान के अधिकार और कर्त्तव्य समाविष्ट होते हैं किन्तु यह परिभाषा भी हिन्दू विवाह पर ठीक नहीं बैठती क्योंकि इसमे हिन्दू विवाह की केवल दो विशेषताये बतायी गई हैं। (1) प्रथाओ का महत्व और (2) पति, पत्नी के अधिकार और कर्त्तव्य। हॉबेल[695] का यह मत है कि विवाह सामाजिक आदर्श नियमों की एक समग्रता है जो विवाहित व्यक्तियों के पारस्पारिक संबधो को उनके रक्त संबंधियों और अन्य नातेदारों के प्रति परिभाषित करती है और उनपर नियन्त्रण रखती है। इस कथन में आदर्श नियम को अधिक महत्ता दी गई है तथा विवाह को नैतिक आधार प्रदान किया गया है। अतः हिन्दू विवाह में सामाजिकता, धार्मिकता, यौन संबंध, आर्थिक संबंध, संतान के प्रति दायित्व, प्रथा परम्परा के नियमों का पालन तथा नैतिकता समाविष्ट है।

विवाह संबधी बहुत से शब्द विवाह संस्कार के तत्वों की ओर संकेत करते हैं, यथा उद्वाह (कन्या को उसके पितृग्रह से उच्चता के साथ ले जाना) विवाह (विशिष्ट ढंग से कन्या को ले जाना या अपनी स्त्री बनाने को ले जाना), परिणय या परिणयन (अग्नि की प्रदक्षिणा करना), उपयम (सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना), पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकड़ना)।

मनुस्मृति[696] के अनुसार विवाह के माध्यम से मनुष्य अपने समस्त अपेक्षित कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एंव रति का सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य माने गये हैं। "हिन्दू समाज में धर्म को अत्याधिक महत्व दिया गया है। वैदिक युग से यज्ञ की महत्ता और उसमें प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग अपेक्षित था। बिना पत्नी के व्यक्ति का कोई भी धार्मिक कृत्य पूरा नहीं माना जाता। ऋग्वेद के अनुसार देवताओं के पूजन में पति-पत्नी एक दूसरे के सहायक माने गये हैं। तैत्तिरीय[698] ब्राह्मण में उल्लिखित है कि पत्नी रहित व्यक्ति

यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकारी नहीं है। शतपथ ब्राह्मण[699] में कहा गया है कि पत्नी पति के आधे भाग की पूरक है। ऐसी स्थिति में उन दोनों का संयोग ही पूर्णता है। याज्ञवल्क्य[700] ने पति के जीवन मे पत्नी की अनिवार्यता देखते हुए कहा गया है कि पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यों के निमिन्त दूसरा विवाह करना चाहिए।

विवाह का दूसरा उद्देश्य है पुत्र की प्राप्ति। ऋग्वेद[701] मे एक स्थल पर कहा गया है कि पाणिग्रहण उत्तम संतान के लिए है। विवाह सम्पन्न होने पर पुरोहित वर वधू को अनेक पुत्र पैदा करने का आर्शीवाद देता है।[702] ऐसी मान्यता है कि पुत्र उत्पन्न होने से पिता अमर बनता है। पितृ से ऋणमुक्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण[703] के अनुसार पिता के लिए पुत्र आलोक है तथा संसार सागर से पार करने की अतितारिणी (नौका) है। मनु[704] के अनुसार पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोको को प्राप्त करता है। पौत्र से उन लोको मे अनन्त काल तक निवास करता है और प्रपौत्र से सूर्यलोक को प्राप्त करता है। पुत्र की सार्थकता इसी में है कि वह पिता को 'पुत' नामक नरक में जाने से रोकता है।

विवाह का एक प्रयोजन रति सुख अथवा यौन इच्छाओ की संतुष्टि भी थी, जिससे व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक संतुलन बना रहता है तथा वह स्वस्थ और सच्चरित्र आधार पर समाज का निर्माण करता है। यद्यपि 'काम' अथवा यौन सबंध विवाह का एक उद्देशय अवश्य है परन्तु इसे तीसरा स्थान प्रदान किया गया है। मनु[706] जैसे व्यवस्थाकारों ने भी रति को महत्ता स्वीकार की है तथा विवाह के उद्देश्यों में इसे प्रधान माना है। वात्स्यायन[706] ने रति के महत्व पर विस्तार से विचार किया है। अपने विचार विश्लेषण से उन्होने कामपरम सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो का निवेशन किया है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और दर्शन में काम भावना का स्थान धर्म से कभी भी महत्वशाली नहीं रहा। कौटिल्य[707] का मत है कि धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना चाहिए। मनु[708] ने भी धर्म विरूद्व काम का परित्याग करने की सलाह दी है।

विवाह के ये विवेचित उद्देश्य व्यक्ति को अत्यन्त शालीन और सदाचारी बनाते हैं तथा उसे नियमित और नियंत्रित करते हैं। अच्छे वर के क्या लक्षण हैं? मनु[709] यम[710] आदि स्मृतिकारों के अनुसार

उत्कृष्ट (श्रेष्ठ), अभिरूप (सुन्दर) और योग्य वर मिल जाये तो कन्या की अवस्था विवाह योग्य न होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिए। धर्मसूत्रों[711] मे वर के लिए उसका अखण्ड ब्रह्मचारी होना भी एक गुण स्वीकार किया गया है, जो संभवत उसके प्रधान गुण के रूप में था। उसके चरित्रगत वैशिष्टय का प्रमाण उसका ब्रह्मचार्य माना गया है। मनु[712] ने दस प्रकार के कुलों से सबंध जोडने को मना किया है यथा, जहॉ संस्कार न किये जाते है, जहॉ पुत्रोत्पत्ति न होती हो, जहॉ वेदाध्ययन न होता हो, जिसके सदस्यों के शरीर पर केश अधिक मात्रा में हो, जिसमे लोग बवासीर या क्षयरोग या अर्जीण या मिर्गी या गलित या शुष्क कुष्ठ से पीड़ित हों। नारद[763] ने चौदह प्रकार के आयोग्य वरों का उल्लेख किया है- प्रव्रजित (सन्यस्त), लोक विद्विष्ठ, मित्रो तथा संबंधियो से परित्यक्त विजातीय, क्षयरोगी, लिंगस्थ (गुप्तवेशधारी), उदर प्रदत्त (पागल), पतित, कुष्ठी, सगोत्र, अंध-बधिर, अपस्मार रोगी आदि। इस संबंध मे मनु[714] ने उदारपूर्वक विचार व्यक्त किया है कि नपुंसक और पतित विवाह कर सकते हैं तथा संतान के लिए नियोग भी अपना सकते है।

आश्वलायन गृहसूत्र[715] ने ऐसी कन्या के साथ विवाह करने को कहा है जो बुद्धिमति हो, सुन्दर हो, सच्चरित्र हो, शुभ लक्षणों वाली हो और स्वस्थ हो। शंखायन गृहसूत्र[716], मनु[717] एंव याज्ञवल्क्य[718] ने कहा है कि कन्या को शुभ लक्षणों वाली होनी चाहिए और उनके अनुसार शुभ लक्षण दो प्रकार के हैं यथा बाह्य (शरीरिक लक्षण) एंव अभ्यान्तर। मनु[719] एंव विष्णुधर्मसूत्र[720] के अनुसार पिगल बालों वाली, अतिरिक्त अंगों वाली, हंस या गज की भांति चलने वाली से जिसके शरीर (सिर या अन्य अंगों पर) बाल छोटे हैं, जिसके दात छोटे हो, जिसका शरीर कोमल हो उससे विवाह करना चाहिए। विष्णु पुराण[721] का कहना हे कि कन्या के अधर या चिबुक पर बाल नहीं होने चाहिए, हंसने पर उसके गालों में गड्ढे नहीं पड़ने चाहिए, उसका कद न तो बहुत छोटा हो और न बहुत लम्बा होना चाहिए।

भारद्वाज गृहसूत्र[722] के अनुसार कन्या से विवाह करते समय चार बातें देखनी चाहिए यथा धन, सौन्दर्य, बुद्धि तथा कुल, यदि चारों गुण न मिले तो धन की चिंता नहीं करनी चाहिए और उसके उपरान्त सौन्दर्य की भी, किन्तु बुद्धि एंव कुल में किसको महत्व दी जाये इसमें

मतभेद है। मानवगृहसूत्र[723], •मनु[724] एंव याज्ञवल्क्य[725] ने लिखा है कि कन्या भ्रातहीन नहीं होनी चाहिए।

पुरूष एव स्त्री के विवाह की अवस्था के विषय मे धर्मशास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं पुरूष के लिए कोई निश्चित अवधि नही रखी गई थी। मनु[726] के अनुसार 30 वर्ष का पुरूष 12 वर्ष की लडकी से या 24 वर्ष का पुरूष 8 वर्ष की लडकी से विवाह कर सकता है। इसी के आधार पर विष्णुपुराण[727] ने कन्या एंव वर की विवाह अवस्थाओं का अनुपात 1.3 रखा है। अंगिरा[728] के मत से कन्यावर से 2, 3, 5 या अधिक वर्ष छोटी हो सकती है। महाभारत के अनुशासनपर्व[729] से ज्ञात होता है कि वर एंव कन्या की विवाह अवस्थाए क्रम से 30 तथा 10 या 21 तथा 7 है। किन्तु उद्वाहतत्व[730] एव श्रौत पदार्थ निर्वचन[731] में महाभारत को उद्धधृत कर लिखा है कि 30 वर्ष का पुरूष 16 वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।

ऋग्वेद में आया है कि जब कन्या सुन्दर है और आभूषित है तो वह स्वंय पुरूषों के झुण्ड में से अपना मित्र ढूंढ लेती है। इससे स्पष्ट होता है कि लडकियां इतनी प्रौढ होने पर विवाहित होती थीं कि अपने पति का चुनाव स्वय कर सकें। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋग्वेदिक काल में कन्याओं का विवाह उनके युवती हो जाने पर होता था किन्तु ईस्वी शती तक आते-आते कन्या का विवाह अल्पायु में किया जाने लगा। पूर्वमध्यकाल में भी कमोवेश ऐसी ही स्थिति बनी रही।

प्राचीनकाल से ही अनुलोम विवाह विहित माने जाते थे, किन्तु प्रतिलोम विवाह की भर्त्सना की जाती थी। इन्हीं दो प्रकार के विवाहों से विभिन्न अपजातियों की उद्‌भावना हुई है।

वैदिक युग[732] में चारों वर्ण अपने स्वीकृत रूप में विद्यमान थे, किन्तु उन दिनों अपनी जाति के बाहर विवाह करना अथवा भोजन करना उतना अमान्य नहीं था जितना कि मध्यकाल में पाया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण[733] के अनुसार जीर्ण एंव शिथिल ऋषि च्यवन का विवाह सुकन्या से हुआ था। च्यवन भार्गव (भृगु के वंशज) या अंगिरस थे और सुकन्या मनु के वंशज राजा शर्यात की पुत्री थी।

आपस्तम्बधर्मसूत्र[734] ने अपने वर्ण की कन्या से विवाह करने को लिखा है। इस धर्मसूत्र में असवर्ण विवाह की भर्त्सना की गई है।

मानवग्रह सूत्र[735] एव गौतम[736] ने सवर्ण विवाह की चर्चा की है। किन्तु गौतम को असवर्ण विवाह विदित थे क्योकि ऐसे विवाहो से उत्पन्न उपजातियो की चर्चा उन्होने की है। शूद्रापति ब्राह्मण को श्राद्ध में बुलाने को उन्होने मना किया है। मनु[737] शख एंव नारद ने अपने ही वर्ण में विवाह को सर्वोत्तम माना है। इसे पूर्वकल्प (सर्वोत्तम विधि) कहा गया है। कुछ लोगों ने अनुकल्प (कमसुन्दर विधि) विवाह की भी चर्चा की है, यथा ब्राह्मण किसी भी जाति की कन्या से, क्षत्रिय अपनी वैश्य या शूद्र जाति की कन्या से वैश्य अपनी व शूद्र जाति की कन्या से तथा शूद्र अपनी जाति की कन्या से विवाह कर सकता है। इस विषय मे बौधायन धर्मसूत्र[738], शंख, मनु[739], विष्णुधर्म सूत्र[740] की सम्मति है। पारस्कर गृहसूत्र[741] तथा वसिष्ठधर्मसूत्र[742] ने लिखा है कि कुछ आचार्यों के कथनानुसार द्विजों को शूद्र नारियो से विवाह करना चाहिए किन्तु बिना मन्त्रोंच्चारण के। याज्ञवल्क्य[743] ने ब्राह्मण या क्षत्रिय को अपने या अपने से नीचे के वर्ण से विवाह संबंध करने को कहा है, किन्तु यह बात जोरदार शब्दों में लिखी गई है कि द्विजातियों को शूद्र कन्या से विवाह कभी न करना चाहिए। मनुस्मृति[744] एंव याज्ञवल्क्य[745] ने घोषित किया है कि यदि ब्राह्मण को चारों वर्ण वाली पत्नियों से पुत्र होता ब्राह्मणी पुत्र को 10 में से 4 भाग मिलते हैं, क्षत्राणी पुत्र को 3, वैश्या पुत्र को 2 तथा शूद्र पुत्र को 1 भाग मिलता है। मनु[746] एंव याज्ञवल्क्य[747] ने ब्राह्मण एंव शूद्रों के विवाह को मान्यता दी है और उससे उत्पन्न संतान को पारशव कहा है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन स्मृतिकारों ने ब्राह्मण का क्षत्रिय या वैश्य कन्या से विवाह संबंध बिना किसी सदेह अथवा अनुत्साह से मान लिया है। किन्तु ब्राह्मण एंव शूद्र कन्या के विवाह संबंध के विषय में कोई मतैक्य नहीं है। ऐसे विवाह हुआ करते थे, किन्तु इनकी भर्त्सना होती थी।

अभिलेखों में अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण मिलते हैं। वाकाटक राजा लोग ब्राह्मण थे (उनका गोत्र विष्णुवद्ध था)। प्रभावती गुप्त के जूनागढ़ अभिलेख[748] से पता चलता है कि वह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी। (5वीं शती के प्रथम चरण में) और उसका विवाह वाकाटक कुल के राजा रूद्रसैन द्वितीय से सम्पन्न हुआ था। तालगवुण्ड स्तम्भलेख[749] से पता चलता है कि कदम्ब कुल का संस्थापक

मयूर शर्मा जो स्पष्टतया ब्राह्मण था। उसके वशजो के नाम के अत मे वर्मा आता है, जो मनु[750] के अनुसार क्षत्रियो की उपाधि है। मयूर शर्मा के उपरान्त चौथी पीढी के ककुस्थवर्मा ने अपनी कन्याए गुप्तों एव अन्य राजाओं को दीं। यशोधर्मा एव विष्णुवर्धन के घटोत्कच अभिलेख[751] से पता चलता है कि वाकाटक राजा देवसेन के मत्री हस्तिभोज के वशज सोम नामक ब्राह्मण ने ब्राह्मण एव क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न कन्याओं से विवाह किया था। लोकनाथ नामक सरदार के तिप्पेरा ताम्रपत्र[752] से पता चलता है कि उसके पूर्वज भारद्वाज गोत्र के थे, उसके नाना केशव पारशव गोत्र के थे (ब्राह्मण पुरूष एव शूद्र नारी से उत्पन्न) और केशव के पिता वीर द्विज सत्तम (श्रेष्ठ ब्राहमण) थे।

संस्कृत साहित्य में भी असवर्ण विवाह के उदाहरण मिलते हैं। कालीदास कृत मालविकाग्नि-मित्र नामक नाटक से पता चलता है कि सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह किया। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न पुष्यमित्र ने शुंग वंश के राज्य की स्थापना की थी। हर्षचरित में स्वयं बाण ने लिखा है कि उसकी भ्रमण यात्रा में मित्रों एंव साथियो मे उसके दो पारशव भाई भी थें जिनके नाम थे चन्द्रसेन एंव भातषेण (ये दोनों बाण के पिता की शूद्र पत्नी से उत्पन्न हुए थे।)

किन्तु पूर्वमध्यकाल तक आते-आते द्विजातियों के बीच होने वाले असवर्ण विवाह लगभग बन्द हो गये थे। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप[753] (9वीं शती) ने सकेत किया है कि उनके समय में ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकता था। मनु के टीकाकार मेघातिथि[754] ने भी निर्देश किया है कि उनके समय मे ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय तथा वैश्य कन्याओं से हो सकता था, किन्तु शूद्र कन्या से नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक अन्तर्जातीय विवाह लगभग वर्जित हो गये थे। जहाँ एक ओर मनुस्मृति में ब्राह्मण का क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कन्या से विवाह को सराहा तो नहीं गया है लेकिन वैधानिक दर्जा दिया गया है क्योंकि मनु ने ब्राह्मणों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान को सम्पत्ति में क्रमश: 4:3:2:1 भाग प्रदान किया है। शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान का सम्पत्ति में हिस्सा उसका वैधानिक दर्जा स्पष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर मेधातिथि ने स्पष्टतया

असवर्ण विवाह के लिए मना कर दिया है वे विचार प्रकट करते है कि क्षत्रिय या वैश्य स्त्री से ब्राह्मण का विवाह फिर भी संभव था लेकिन शूद्र से किसी भी परिस्थिति मे सभव नही था। यह पूर्वमध्यकाल मे शूद्रो की गिरती हुई सामाजिक स्थिति की ओर भी सकेत करता है।

सपिण्डता का तीन बातों में विशिष्ट महत्व है यथा-विवाह, वसीयत एंव अशौच। याज्ञवल्क्य[755] की व्याख्या में विज्ञानेश्वर 'असपिण्डा' उस नारी को कहते हैं जो सपिण्ड नहीं है। सपिण्ड अर्थात् उस व्यक्ति की वही पिण्ड (शरीर या शरीर का अवयव) है। दो व्यक्तियों के सपिण्ड संबंध का तात्पर्य यह है कि दोनो में समान शरीर के अवयव हैं। इस प्रकार पुत्र का पिता से सपिण्ड संबंध है, क्योकि पिता के शरीर के कण (शरीरांश) पुत्र मे आते हैं इसी प्रकार पितामह और पौत्र में सपिण्ड संबंध हुआ। इसी प्रकार मौसी एंव मामा से भी सपिण्डता का संबंध होता है। चाचा एव फूफी से भी सपिण्ड सबध है। पत्नी का पति से सपिण्डय संबंध है क्योंकि वह पति के साथ एक पिण्ड (पुत्र) का निर्माण करती है। याज्ञवल्क्य ने सपिण्डता की एक सीमा निर्धारित कर दी है पांचवी पीढी ने माता के कुल में तथा सातवीं पीढी में पिता के कुल में सपिण्डता की अंतिम सीमा मानी जानी चाहिए।

मामा या फूफी को लडकी से विवाह के संबंध में मतभेद हैं, विशेषत: प्रथम से 1 आपस्तम्बधर्मसूत्र[756] ने अपने माता-पिता एंव सतानों दर संबंधियो (माताओं एंव बहिनों से संभोग करने का पातकीय क्रियाओ (महापातकों) में गिना है। इस नियम के अनुसार अपने मामा एंव फूफी की लड़की से विवाह करना पाप है। बौधायन धर्मसूत्र[757] के अनुसार दक्षिण में पांच प्रकार की विलक्षण रीतियाँ पायी जाती हैं-बिना उपनयन किये हुए लोगों के साथ बैठकर खाना, अपनी पत्नी के साथ बैठकर खाना, अच्छिष्ठ भोजन करना, मामा तथा फूफी की लडकी से विवाह करना। इससे स्पष्ट है कि बोधायन के बहुत पहले से दक्षिण में मामा तथा फुफी की लड़की से विवाह होता था। जिसे कट्टर धर्मसूत्रकार, यथा गौतम[757] एंव बोंधायन निन्द्य मानते थे। मनु[758] ने मातुलकन्या मौसी की कन्या या पिता की बहिन की कन्या से संभोग संबंध पर चान्द्रायण व्रत के प्रायश्चित की बात कही है, क्योंकि ये कन्याएं सपिण्ड कही जाती हैं, इनसे विवाह करने पर नरक की प्राप्ति होती है। याज्ञवल्क्य[759] की व्याख्या में

विश्वरूप ने मनु[760] तथा संवर्त को उद्धृत कर मातुलकन्या से सभोग कर लेने पर पराक प्रायश्चित की व्यवस्था दी है। मनु की व्याख्या मे मेधातिथि[761] ने कुछ प्रदेशो में इस प्रथा की चर्चा की है पराशरमाधवीय[762] आदि ने मातुलकन्या से विवाह सबंध वैध माना है।

दक्षिण में (मद्रास प्रांत में) कुछ जातियां भातुल कन्या से विवाह करना बहुत अच्छा समझती है। आन्ध्रप्रदेश में आज भी उच्च ब्राह्मणों में मामा भांजी का विवाह सर्वोत्तम माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहॉ मनुस्मृति एंव याज्ञवल्क्य स्मृति में मातुलकन्या व फूफी की कन्या से विवाह की भर्त्सना की गई है वहीं पूर्वमध्यकाल में मेधातिथि ने भी इसे आमान्य ठहराया है लेकिन फिर भी इस प्रथा के कुछ प्रदेशो मे प्रचलित होने का उन्हे ज्ञान था। दक्षिण मे माध्यन्दिनी शाखा के देशरथ ब्राहमण लोग उस कन्या से विवाह नहीं करते जिसके पिता का गोत्र लडके (होने वाले पति) के नाना के गोत्र के समान हो। मनु[763] ने लिखा है कि वह कन्या जो वर की माता से सपिण्ड संबंध न रखने वाली हैं और न वर के पिता की संगोत्र है विवाहित की जा सकती हैं (किन्तु यह विवाह द्विजों में ही मान्य है।) मनु के इस श्लोक पर टीका करते हुए मेधातिथि[764] ने तो नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने पर चन्द्रायण व्रत का प्रायश्चित बताया है और कन्या को छोड़ देने को कहा है। कुल्लूक, मदनपारिजात, पीवकलिका, उद्वाहतत्व में भी नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह को मना किया है। एक अन्य स्थल पर मेधातिथि ने लिखा है कि गोत्रों एंव प्रवरों की बातें मुख्यत. ब्राह्मणों से संबंधित हैं, क्षत्रिय एंव वैश्यों से नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोत्र एंव प्रवर, सपिण्डता का ध्यान देना, विवाह के समय जितना महत्वपूर्ण प्राचीनकाल में माना जाता था उतना ही महत्व इसे पूर्वमध्यकाल में भी दिया जाता था। मनु ने नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने को मना किया है। पूर्वमध्यकाकल तक आते-आते कुल्लूकभट्ट एंव मेधातिथि ने भी नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने को मना ही नहीं किया बल्कि मेधातिथि ने इसके लिए प्रायश्चित करने का विधान किया है और कन्या को छोड़ देने को भी कहा है। इस प्रकार ये मान्यताएं और गहरी होती हुई दृष्टिगत हो रही थीं। मेधातिथि[765] ने मनु पर टीका करते हुए एक स्थल पर कहा है

कि गोत्रो एव प्रवरो की बातें मुख्यत: ब्राह्मणो से संबंधित हैं, क्षत्रिय एंव वैश्यो से नही। यही तथ्य मिताक्षरा मे भी दोहराया गया है। उनके अनुसार क्षत्रियो एव वैश्यो के विवाह मे उसके लिए गोत्र एंव प्रवर हैं ही नही। एक अन्यत्र स्थल पर मेधातिथि कहते हैं कि गोत्र ब्राह्मण जाति एंव वेद की भांति अनादि है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में गोत्रों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा था और यह माना जाने लगा था कि गोत्र इत्यादि केवल ब्राह्मणों के ही ध्यान रखे जाते हैं।

गृहसूत्रो, धर्मसूत्रो एंव स्मृतियों के काल से ही विवाह आठ प्रकार के कहे गये हैं, यथा ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एंव पैशाच। इस संबंध मे आश्वलायन गृहसूत्र[766], गौतम[767], बौधायन धर्मसूत्र[768], मनु[769] आदिपर्व[770], विष्णुधर्म[771], याज्ञवल्क्य[772], नारद-स्त्रीपुंस[773], कौटिल्य[774], आदिपर्व[775] अवलोकनीय हैं।

मनुस्मृति[776] के आधार पर विभिन्न विवाहों के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार है। जिस विवाह में बहुमूल्य अंलकारों एंव परिधानों से सुसज्जित, रत्नों से मंडित कन्या वेद-पंडित एंव सुच्चरित्र व्यक्ति को निमंत्रित कर (पिता द्वारा) दी जाती है, उसे ब्राह्म विवाह कहते है। जब पिता अंलकृत एंव सुसज्जित कन्या किसी पुरोहित को (जो यज्ञ करता-कराता है) यज्ञ करते समय दे, तो उस विवाह को दैव विवाह कहा जाता है। यदि एक जोडा पशु (एक गाय, एक बैल) या दो जोड़ा पशु लेकर (केवल नियम के पालन हेतु न कि कन्या के विक्रय के रूप में) कन्या दी जाए तो इसे आर्ष विवाह कहते हैं। जब पिता वर और कन्या को 'तुम दोनों साथ ही साथ धार्मिक कृत्य करना' यह कहकर तथा वर को मधुपर्क आदि से सम्मानित कर कन्यादान करता है तो उसे प्रजापत्य कहा जाता है। जब वर अपनी शक्ति के अनुरूप कन्यापक्ष वालों तथा कन्या को धन देता है, तब इस प्रकार अपनी इच्छा के अनुकूल पिता द्वारा दत्त कन्या के विवाह को असुर विवाह कहते हैं। वर एंव कन्या की परस्पर सम्मति से जो प्रेम भावना के उद्रेक का प्रतिफल हो तथा संभोग जिसका उद्देश्य हो, उस विवाह को गांधर्व विवाह कहा जाता है। संबंधियों को मारकर, घायलकर, घर-द्वार तोड़-फोडकर जब रोती बिलखती हुई कन्या को बलवश छीन लिया जाता है तो इस प्रकार से प्राप्त कन्या से संबंध राक्षस विवाह कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति चुपके से किसी सोई

हुई, उन्मत्त या अचेत कन्या से संभोग करता है इसे निकृष्ट एंव महापातकी कार्य कहा जाता है और इसे पैशाच विवाह कहते है। दैव विवाह के संबध मे विभिन्न धर्मशास्त्रक्त्तरों ने भिन्न मत दिये है बौधायन धर्मसूत्र[777] के अनुसार कन्या यज्ञ की दक्षिणा का एक भाग हो जाती है। किन्तु वेदों एंव श्रौत सूत्रो में कन्या को कभी दक्षिणा नही कहा गया है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[778] भी कन्या को यज्ञ कराने के शुल्क का भाग मानने को तैयार नहीं है। यही विश्वरूप का भी कहना है, किन्तु अपरार्क[779] के मत से कन्या शुल्क के रूप में दी जाती है।

इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में भी विवाह के सभी प्रकार अपने सम्पूर्ण स्वरूप मे समाज मे विद्यमान थे और दैव विवाह के संबंध मे समाज के दो पक्ष हो गये थे। एक पक्ष दैव विवाह मे कन्या को यज्ञ कराने की दक्षिणा मानता था, दूसरा पक्ष दैव विवाह में कन्या को दक्षिणा मानने से सहमत नही था। मेधातिथि दूसरे मत का समर्थन करते हैं।

प्रथम चार प्रकारों में पिता द्वारा या किसी अन्य अभिभावक द्वारा वर को कन्यादान किया जाता है। प्रथम चार प्रकार के विवाहों में अलंकारों एंव परिधानों से सुसज्जित कन्या का दान किया जाता है। प्रथम प्रकार के विवाह को संभवत: ब्राह्म इसलिए कहा जाता था कि ब्राह्म का अर्थ है पवित्र वेद या धर्म, जिसे परमपूत कहा जाता है।[780] आर्ष प्रकार में वर से एक जोडा पशु लिया जाता है, अत: यह ब्राह्म से निम्न है। दैव विवाह केवल ब्राह्मणों में ही पाया जाता था, क्योंकि पौरोहित्य का कार्य ब्राह्मण ही करता था। यह विवाह ब्राह्म विवाह से निम्न इसलिए है कि पिता कन्यादान कर अपने मन में इस लाभ की भावना रखता है कि उसका यज्ञ भली-भांति सम्पादित हो, क्योंकि कन्या पाकर प्रसन्न हो पुराहित बड़े मन से यज्ञ में लगा रहेगा। प्रजापत्य विवाह में पत्नी के जीते जी पति को गृहस्थ रहने, संयासीन बनने, दूसरा विवाह न करने आदि का वचन देना पडता है। प्रजापत्य विवाह इसी कारण ब्राह्म से निम्न माना गया है, क्योंकि इसमें शर्त लगी रहती है किन्तु ब्राह्म में स्वंय वर प्रतिवचन देता है कि धर्म, अर्थ, एंव काम नामक तीन पुरूषार्थों में वह सदैव अपनी पत्नी के साथ रहेगा। आसुर विवाह में धन तथा धन के मूल्य का सौदा रहता है, अत: यह स्वीकृत नहीं माना जाता। गांधर्व में

पिता द्वारा दान की कोई बात नही होती है, प्रत्युत कन्या पिता को उसके अधिकार से वचित कर देती है। प्राचीनकाल से ही विवाह को एक सस्कार माना गया है जिसके उद्‌देश्यों मे धार्मिक कृत्य का प्रथम स्थान है गान्धर्व विवाह मे केवल काम-पिपासा की शांति की बात प्रमुख है, अत· यह प्रथम चार प्रकारों से तुलना मे निकृष्ट है और अस्वीकृत माना गया है। किन्तु इस प्रकार के विवाह में कन्या की सम्मति ली जाती है। राक्षस एंव पैशाच में कन्या की बात ही नहीं उठती क्योंकि बलवश कन्या को उठा ले जाना राक्षस विवाह के मूल मे पाया जाता है। पिशाच लोग लुक-छुप कर दुष्कर्म करते है अत: उस कार्य के सदृश कार्य को पैशाच विवाह की संज्ञा दी गयी है। ऋषियों ने पैशाच विवाह की बहुत भर्त्सना की है। वसिष्ठ के मत से अपहृत कन्या यदि मत्रों से अभिषिक्त होकर विवाहित न हो सकी हो, तो उसका पुनर्विवाह किया जा सकता है। स्मृतियो में कन्या के भविष्य एंव कल्याण के लिए अपहरणकर्ता एंव बलात्कार करने वाले को होम एंव सप्तपदी करने को कहा गया है, जिसमें कन्या को विवाहित होने की वैधता प्राप्त हो जाए। यदि अपह्रणकर्ता (असुर विवाह) एंव बालत्कारकर्ता (पैशाच विवाह) ऐसा करने को तैयार न हो तो कन्या किसी दूसरे को दी जा सकती थी और अपहरणकर्ता एंव बलात्कारकर्ता को भीषण दण्ड भुगतना पडता था।[781] मनुस्मृति[782] के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति की किसी कन्या से उसकी सम्मति से संभोग करे तो उसे पिता को (यदि पिता चाहे तो) शुल्क देना पडता था और मेधातिथि[783] का कथन है कि यदि पिता धन नहीं चाहता तो प्रेमी को चाहिए कि वह राजा को धन-दण्ड दे, कन्या उसे दे दी जा सकती है किन्तु यदि उसका (कन्या का) प्यार न रह गया हो तो वह दूसरे से विवाहित हो सकती है किन्तु यदि प्रेमी स्वंय उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे तो उसके साथ बल प्रयोग करके उससे स्वीकृत कराया जाये इससे स्पष्ट होता है कि विवाह के सभी प्रकार मेधातिथि के समय में भी यथावत थे और विवाहों के मामले राजाओं तक ले जाये जाते थे तभी मेधातिथि ने अपनी जाति की कन्या की सम्मति से संभोग करने वाले व्यक्ति के पिता को धन देने को कहा है और यदि पिता धन की इच्छा न करता हो तो प्रेमी को राजा को धनदण्ड देने का विधान किया है। इसमे कन्या की सम्मति को महत्व दिया गया है क्योंकि

मेधातिथि आगे कहते है कि यदि कन्या का प्यार न रह गया हो तो उसका विवाह दूसरे से करवाया जा सकता है किन्तु यदि प्रेमी स्वंय उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे तो उसके साथ बल प्रयोग करके उसे स्वीकृत कराया जाये। यह स्त्रियो की ह्यस होती स्थिति का एक अच्छा संकेत था। विश्वकप[784] एव मेधातिथि[785] केवल ब्राह्म विवाह को ही उच्च दृष्टि से देखते हैं।

स्मृतियों ने विविध वर्णों के लिए इन आठ प्रकारों की अपयुक्तता के विषय मे भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। सभी ने प्रथम चार अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष एंव प्राजापत्य को स्वीकृत किया है।[786] सभी ने ब्राह्म को सर्वश्रेष्ठ एंव क्रम से बाद वाले को उत्तमतर बताया है।[787] सभी ने पैशाच को निकृष्टतम कहा है। एक मत से प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त बताया है।[788] दूसरे मत से प्रथम छः (आठ में राक्षस एंव पैशाच को छोडकर) ब्राह्मणो के लिए, अंतिम चार क्षत्रियों के लिए, आसुर, पैशाच वैश्यो एंव शूद्रों के लिए हैं।[789] तीसरे मत से प्रजापत्य, गांधर्व एव आसुर सभी वर्णों के लिए तथा पैशाच एंव आसुर किसी वर्ण के लिए नहीं है, किन्तु मनु[790] ने आगे चलकर आसुर को वैश्यों एंव शूद्रो के लिए मान्य ठहराया है। मनु[791] ने एक मत प्रकाशित किया है कि गांधर्व एंव राक्षस क्षत्रियों के लिए उपयुक्त (धर्म) है, दोनों का मिश्रण (यथा-जहाँ कन्या वर से प्रेम करे, किन्तु उसे माता-पिता या अभिभवक न चाहे तथा अवरोध उपस्थित करें और (प्रेमी लडाई लडकर उठा ले जाए) भी क्षत्रियों के लिए ठीक है। नारद[792] के कथन के अनुसार गांधर्व सभी वर्णों मे पाया जाता है।

(1) हट्टन, कास्ट इन इण्डिया पृ0 120

(2) नेसफील्ड, ब्रीफ व्यू ऑफ द कास्ट सिस्टम पृ0 7

(3) राइसले, द पीपुल ऑफ इण्डिया पृ0 5,10,29

(4) होकार्ट, कास्ट, कम्परेटिव स्टडी पृ0 11-29

(5) इबस्टन, पंजाब कास्ट्स पृ0 97

(6) घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन पृ0 159-60

(7) केतकर, हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया पृ0 30-31

(8) मजुमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया पृ0 285-86

(9) रामशरण शर्मा, शूद्राज इन एंशिएंट पृ0 125, 127, 130'75

(10) क्रोबर

(11) N.C.E.R.T.

(12) ऋग्वेद का 10 90

(13) तत्रैव

(14) सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया पृ0 153

(15) गौतम धर्मसूत्र 12, 43

(16) विशिष्ठ धर्मसूत्र 10, 31

(17) निरूक्त 12 13

(18) पाणिनी का अष्टाध्यायी 4 10

(19) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग द्वितीय पृ0 55

(20) मनुस्मृति 1 2

(21) वैदिक इन्डैक्स भाग द्वितीय पृ0 260

(22) कल्हण, राजतरंगिणी, अनुवाद आर0एस0 पण्डित 1 512-17

(23) राजतरंगिणी, तत्रैव 528-29

(24) वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी द्वितीय शती

(25) यशोधर्मय, मंदसौर प्रतर अभिलेख फ्लीट सी0आई0 आई0 भाग-3, सं0 35, प्लेट सं0 22 1.17

(26) हर्षवर्धन, इपिग्राफिका इण्डिका भाग 21 पृ0 75

(27) हर्षचरित, अनुच्छेद तृतीय

(27)(A) इपि0 इण्डि भाग 21 पृ0 74
(28) सी0पी0एस0आई0 स0 5 पृ0 50
(29) इपि0 इण्डि भाग 23 1935-36 पृ0 150
(30) आर, बसाक, हिस्ट्री ऑफ नार्थ, ईर्ष्टन इण्डिया (1939) पृष्ठ 514
(31) दशकुमार चरित काणे रा सस्करण पृ0 188
(32) धनपाल, तिलकमजरी पृ0 11
(33) राजतरंगिणी 6 108
(34)(A) नैषधचरित 14 पृ0 45
(34) अलबरूनी, सचाउ भाग I पृ0 99
(35) कुमारिल का तन्त्रवार्तिक पृ0 128
(36) धर्मपरीक्षा, जिनसेन की महापुराण की प्रस्तावना भाग-1 पृ0 58
(37) गुर्जर प्रतिहार का अभिलेख, इपि0 इण्डि भाग 23 1935-36 पृ0 150.
(38) शकराचार्य, शकरभाष्य एन0 एस0 पी0 पृ0 27.3
(39) धनपाल, तिलकमंजारी पृ0 348-49
(40) क्षेमेन्द्र, दशावतार चरित पृ0 160
(41) वत्सराज, रूपक में त्रिपुरराह पृ0 115
(42) मेधातिथि, मनुपर 5 88
(43) मनुस्मृति 10 25
(44) मनुस्मृति 10 64-65
(45) गौतम 4 18-19
(46) याज्ञवल्क्य 1/96
(47) मनुस्मृति
(48) मेधातिथि मनु 10/64
(49) याज्ञवल्क्य 1/96
(50) मेधातिथि 10.65

(51) अभिलेख, आर0एस0 त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज पृ0 356

(52) लक्ष्मीधर धनखण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 30

(53) देवल, स्मृतिचन्द्रिका पृ0 830

(54) मिताक्षरा, सेक्रेड बुक ऑफ द हिन्दू पृ0 210

(55) अत्रिस्मृति आन्नदाश्रम संस्कृत सीरीज 373-384 काणे धर्मशास्त्र का इतिहास भाग II पृ0 131

(56) राष्ट्रकूट अभिलेख, इपि0 इण्डि भाग 32 सं0 4 2 29

(57) सहयाद्रिखण्ड 10 पृ0 2-3

(58) सी0वी0 वैद्य, मैडीवल हिन्दू इण्डिया, अनुच्छेद- 4

(59) सी0वी0 वैद्य, मैडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग II पृ0 3

(60) राजतरंगिणी, अनुवाद आर0 एस0 त्रिपाठी VII 1617

(61) टौड, एनलस एण्ड एण्टिक्वीटीज आफ राजस्थान

(62) टौड संस्करण क्रुक भाग I, अनु0 2,3,6

(63) स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (तीसरा संस्करण) पृ0 407

(64) भण्डारकर, फॉरेन एलिमेन्टस इन हिन्दू पापुलेशन इण्डि0 एण्टि0 भाग XV (1911)

(65) सी0वी0 वैद्य, मैडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग II अनु0 I पृ0 5

(66) जी0एच0 ओझा, राजपूताना का इतिहास भाग I पृ0 49

(67) जैन पुस्तक प्रशास्ति संग्रह पृ0 19

(68) इपि0 इण्डि0 XXXVI 1955 जनवरी में प्रकाशित पृ0 36

(69) तत्रैव

(70) ब्यूहलर लाइफ आफ हेमचन्द्र पृ0 6

(71) ए0के0 फोर्बस रासमाला पृष्ठ 80

(72) कुमार पाल चरित, पृ0 45

(73) कुमार पाल चरित, II पृ0 50

(74) अभिधान चिंतामणि II मार्त्येय खण्ड

(75) देसीनाममाला हेमचन्द्रकृत

(76) वैजयन्ती, यादव प्रकाश पृ0 136-47

(77) अमरकोश मे वर्णित है

(78) कारू कारिण, प्राकृतिक एव शिल्पिन अभिधान चितामणि मे वर्णित

(79) देसीनाममाला ।। पृ0 27

(80) कृत्यकल्पतरू का गृहस्थखण्ड में कालकापुराण एंव पराशरसे उद्धत पृ0 270

(81) वैजन्ती पृ0 136

(82) वाट्र्स, हवेनसांग पृ0 168

(83) शुक्रनीतिसार अनुवाद बी0 के0 सत्कार पृ0 150

(84) मेधातिथि मनु पर X 131

(85) मनुस्मृति XI 27

(86) मनुस्मृति XI 26

(87) कुल्लूकभट्ट मनु पर X 126

(88) मनुस्मृति X/4

(89) शंकराचार्य (विदान्तसूत्र 2/3/43)

(90) मेधातिथि मनु पर X /48

(91) मनुस्मृति 10/48

(92) कुल्लूकभट्ट 10/48

(93) मेधातिथि मनुपर 10/4

(94) महाभारत सभापर्व /16-17, 51/23 नव पर्व 254/18

(95) मनुस्मृति X/48

(96) कुल्लूकभट्ट मनु पर X/48

(97) मनुस्मृति X 119

(98) बौधायन 119/13

(99) कौटिल्य 3/7

(100) मनुस्मृति 10/149

(101) कुल्लूकभट्ट मनु पर 4/215

(102) मनुस्मृति 1/31

(103) मनुस्मृति 10 4

(104) लक्ष्मीधर का धनखण्ड पृ0 26-30

(105) लक्ष्मीधर का गृहस्थखण्ड पृ0 415

(106) कल्हण कृत राजतरंगिणी 7, पृ0 108-109

(107) डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया, एच0सी0राय पृ0 516-18

(108) तत्रैव । पृ0 512

(109) बिबलियोथिका इण्डिका III 63-67

(110) अलबरूनी, सचाऊ भाग II पृ0 132

(111) पेहोआ अभिलेख, सचाऊ भाग II पृ0 132

(112) सियादोनी अभिलेख, इपि0 इण्डि0 भाग I पृ0 173

(113) वल्लासेन, पृ0 5

(114) कथाकोषप्रकरण, कत्यकल्पतरू प्रस्तावना पृ0 120

(115) क्षेमेन्द्र, दशावतारचरित पृ0 160

(116) ब्रह्मचारी खण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 2 V 8 पृष्ठ 279 प्रस्तावना पृ0 41-42

(117) इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली (1988) भाग XVI पृ0 670

(118) द स्ट्रगल फार एम्पायर पृ0 334

(119) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग II सस्करण I अनु0 III

(120) 1230 ई0 का गुजरात से प्राप्त एक अभिलेख जिसमें सोमसिम्ह नाम के राजा ने ब्राह्मणों को कर मुक्त कर दिया, जबकि अल्तेकर के अनुसार यह संदेहास्पद है क्योंकि यह राजा की प्रशंसात्मक प्रशास्ति मे उद्धत है लेकिन श्रोत्रिय ब्राह्मण करमुक्त थे (हिस्ट्री आफ राष्ट्रकुटाज पृ0 328)

(121) अलबरूनी सचारू पृ0 149

(122) मानसोल्लास भाग I पृ0 44

(123) अलबरूनी सचारू भाग II पृ0 162

(124) काणें, धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 152

(125) अलबरूनी, सचारू भाग II पृ0 162 राजतरंगिणी IV 96

(126) राजतरंगिणी कल्हण IV पृ0 103-104

(127) इपि0 इण्डि0 XXXI सं0 36

(128) घोषाल, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आइडियाज' पृ0 433

(129) कुल्लूकभट्ट मनु पर VIII/350

(130) मेधातिथि VIII 350-351

(131) घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन पृ0 9

(132) शूद्रकमलाकर पृ0 294

(133) राजतरंगिणी VIII 3230- 3346-47

(134) इण्डियन एण्टीक्वैरी XVIII (1889) 136-147

(135) एन्वल सर्वे रिपोर्ट XXI 49

(136) इपि0 इण्डि पृ0 154

(137) गृहस्थखण्ड पृ0 253, अलबरूनी, सचाऊ II 136

(138) तत्रैव पृ0 191 मनु का उद्धरण X 83

(139) इपि0 इण्डि0 I 1154

(140) धनखण्ड पृ0 37

(141) शुक्रनीतिसार IV पृ0 332-34

(142) अलबरूनी, सचाऊ II 102

(143) स्ट्रगल फार एम्पायर पृ0 477

(144) राजतरंगिणी कल्हण VII 1917-18

(145) विष्णु पुराण VI 1.36 हाजरा पुरणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टमस पृ0 209

(146) स्कन्दपुराण, विष्णुपुराण सं0 III पृ0 39-291

(147) जिनसेन पृ0 288, 248

(148) बृहत्धर्म पुराण पृ0 189, 7-9

(149) देवी भागवत V 20 46 IX 8-62

(150) अलबरूनी, सचाऊ II 136

(151) मनुस्मृति III 112

(152) बौधायान धर्मसूत्र I II 4

(153) अल्तेकर घुर्ये कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया पृ0 57, 64, 86, 96

(154) गृहस्थखण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 255

(155) तत्रैव पृ0 258

(156) मेधातिथि मनुपर X 95

(157) मेधातिथि मनुपर X 98

(158) कुल्लूकभट्ट मनुपर X 98

(159) मनुस्मृति IV 178

(160) मनुस्मृति VIII 20 21

(161) मनुस्मृति VIII 270

(162) मनुस्मृति VIII 271

(163) मनुस्मृति VIII 272

(164) मनुस्मृति VIII 417

(165) मनुस्मृति XI 131

(166) स्कन्द पुराण, हवेनसांग, वार्टस भाग XI पृ0 14

(167) हवेनसांग वाटर्स, भाग I पृ0 168

(168) इब्न खुदार्दबा, 12

(169) वैदिक इन्डैक्स, भाग I पृ0 159

(170) धर्मोत्तर पुराण III 10.3

(171) ब्रह्मपर्व 44.22

(172) वैजयन्ती पृ0 258 पंक्ति 45

(173) गृहस्थ खण्ड पृ0 427

(174) मेधातिथि मनुपर 238

(175) मेधातिथि मनुपर III 62, 121, 156, X 127 विश्वरूप याज्ञवल्क्य पर 1.13

(176) बृहत्धर्मपुराण

(177) गृहस्थ खण्ड पृ0 271-72

(178) नियतकलाकन्द पृ0 356 गृहस्थरत्नाकर पृ0 336

(179) मेधातिथि मनु पर पृ0 231

(180) मेधातिथि मनु पर VI 97

(181) मनुस्मृति IX 235, 239

(182) मनुस्मृति V 185

(183) गौतमधर्म सूत्र IV 15 एव 23

(184) आपस्तम्ब 2/1/2/8-91

(185) मनुस्मृति X 36 एव 51

(186) मेधातिथि मनु पर X 13

(187) हेमचन्द्र द्वयाश्रयकाव्य

(188) विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा III 30)

(189) विष्णुधर्म सूत्र (104)

(190) अत्रिस्मृति (267-69)

(191) अत्रिस्मृति 249

(192) स्मृत्यर्थसार पृ0 79

(193) याज्ञवल्क्य (1/193) गौतम 4, 10

(194) भागवत पुराण X 70

(195) मिताक्षरा (याज्ञ0 3, 162)

(196) ऋग्वेद 10/27/12

(197) मैत्रायणी संहिता 3.6 3 शतपथ ब्राह्मण 14.1 1.31

(198) बौधायन धर्मसूत्र 1.1 19

(199) शतपथ ब्राह्मण 4 1.2 13

(200) मनुस्मृति

(201) मिताक्षरा, याज्ञ0 2.14 व 8, 1.87

(202) मेधातिथि, मनुस्मृति पर V 147

(203) कुल्लूकभट्ट, मेधातिथि पर V 147

(204) ऋग्वेद 8 31 यादम्पति सुमनसा आ च श्रावत. 1 देवो सोनित्या शिरा

(205) मनुस्मृति 2 66

(206) मनुस्मृति 2 67

(207) काव्य मीमासा पृष्ठ 53

(208) हर्षचरित 4230 अथ राजश्रीरपि नृत्यगीताद्विषु सरवीषु सकलासु कलासु च प्रतिदिननुपचीयमान परिच-या शनै:शनै: अवर्द्धत।

(209) गाथासप्तशती 1 87, 90, 2.2 63, 1, 91, 4, 3, 28, 74, 761

(210) कर्पूरमजरी 1 11

(211) शकर दिग्विजय 8.51 विधाय मायांविदुषी सदस्य विधीयता बाद कथा सुधीन्द्र।

(212) राजतरंगिणी 7 905 9, 931, 8, 1137, 9

(213) ऋग्वेद 10/27/12

(214) गोभिल 2/5 शखायन 1/18-19, खादिर 1/4/12-16, पारस्कर 1/11, आपतम्ब

(215) गौतम 18/20-23

(216) मनुस्मृति 9/94

(217) पराशरस्मृति 2-9-8

(218) स्मृतिचन्द्रिका पृ0 80

(219) कथासरित्सागर II 172

(220) तत्रैव

(221) अग्निपुराण CLVIII 28-38

(222) मनुस्मृति VIII 225

(223) मेधातिथि VIII 225

(224) शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10, 8/7/3, तैतिरीय संहिता /1/8/5 ऐतरेय ब्राह्मण 1/2/5, बृहस्पति, अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ0 740

(225) कामसूत्र 3/2

(226) गौतम 23/14

(227) मनु 8/371

(228) वसिष्ठ 21/10 एंव याज्ञवल्क्य 1/72

(229) बौधायन धर्मसूत्र 2 2.57

(230) अत्रि 3, 191-3

(231) देवल, 50, 55

(232) मिताक्षरा याज्ञ0 1, 72

(233) मिताक्षरा याज्ञ0 1, 70, 72

(234) व्यास 2, 4, 9, 50

(235) बौधायन धर्म सूत्र 17, 15

(236) ऋग्वेद 7, 4, 8

(237) ऋग्वेद 2 17 7

(238) आपस्तम्ब 2/1412/4

(239) वसिष्ठ धर्म सूत्र 15/7

(240) गौतम धर्मसूत्र 28/21

(241) मनुस्मृति IX, 185

(242) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 3.5

(243) याज्ञवल्क्य 2.135

(244) बृहस्पति 15/35

(245) नारद 13 50

(246) कात्यायन याज्ञ 2.135 6

(247) ग्यारहवीं सदी का भारत पृष्ठ 155

(248) दायभाग 11.24

(249) विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा याज्ञ0 2 135

(250) कुल्लूकभट्ट 10, 192

(251) विष्णु 10, 34

(252) नारद 13 13

(253) तैतिरीय संहिता 6.5 4.2

(254) शतपथ ब्राह्मण 4, 4, 2, 13

(255) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2 14 2-4

(256) मनुस्मृति IX 185 पिता हरेद पुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एवंच।

(257) मनुस्मृति IX, 187

(258) मेधातिथि मनु पर IX 128-27

(259) कौटिल्य अर्थशास्त्र 3 5

(260) गौतम धर्मसूत्र, पिण्ड गोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थ मजेन्स्त्री चानपत्यस्य ।

(261) दायभाग जीमूतवाहन खण्ड 13

(262) विज्ञानेश्वर मिताक्षरा 2, 136

(263) मेधातिथि मनुपर VIII 414

(264) मनुस्मृति IX 194 मिताक्षरा VIII 143 पृ0 272

(265) मिताक्षरा VIII 143

(266) नारद XIII 2 दायभाग IV 123 पृ0 86

(267) बनर्जी जी, द हिन्दू लाज ऑफ मैरिज और स्त्रीधन पृ0 332

(268) कात्यायन मिताक्षरा VIII 143 पृ0 272

(269) दायभाग IV 120 पृ0 85

(270) मिताक्षरा VIII 147 पृष्ठ 281

(271) मिताक्षरा II पृष्ठ 147 व्यवहारमयूख 10-11

(272) मिताक्षरा VIII पृ0 281

(273) तत्रैव IV 136

(274) मिताक्षरा याज्ञ0 2.117

(275) पराशरमाधवीय 3.552

(276) याज्ञवल्क्य I 77

(277) कथासारित्सागर III पृ0 234, इपि0 इण्डि0 I पृ0 313

(278) कथासरित्सागर I पृ0 159

(279) तत्रैव II पृष्ठ 20 IV 57

(280) इपिग्राफिका इण्डिका XXII पृ0 126, कथासारित्सागर IV पृ0 154

(281) बी0सी0 लॉ भाग II (1946) पक्ति I9-20 पृ0 257 (वुमेन इन अर्ली इन्स्क्रिपशनस ऑफ बगाल)

(282) अर्थववेद 14 14

(283) शतपथ ब्राह्मण 5.2 1 10

(284) मनुस्मृति IX 9 45

(285) महाभारत, आदिपर्व 74 40, बृहस्पति 25 11, अपरार्क 7, 40

(286) बृहत्संहिता 74.5, 5, 11, 15, 16, मनु IX, 16, वेदव्यास स्मृति 2 14

(287) ऋग्वेद 10 85.46

(288) ऋग्वेद 1 72 5, 5 32

(289) तैतिरीय ब्राह्मण 3, 75

(290) शतपथ ब्राह्मण 1.19 2, 14

(291) वृहदायण्यक उपनिषद 6 4 17

(292) मनुस्मृति IX 9 3

(293) हर्षचरित्र 4 (231) 5

(294) मेधातिथि IX 26

(295) इपिग्रा0 इण्डि0 IV पृ0 154

(296) मेधातिथि IX 27

(297) स्कन्दपुराण I II 23, 44, अवस्थी, ए0बी0एल0 - स्टडीज इन स्कन्दपुराण, I पृ0 306

(298) स्कन्दपुराण I II 14, 92, I II 29, 44

(299) ऋग्वेद 1/87/3

(300) बौधायन धर्मसूत्र 17/55/56

(301) मनुस्मृति V/157-160

(302) पराशर 4/31

(303) कात्यायन (वीरमित्रोदय् पृ0 626-27)

(304) बृहस्पति स्मृति 21 15

(305) वृद्ध हारीत 11, 205, 10

(306) हर्षचरित्र (6 अंतिम वाक्य)

(307) प्रचेता स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 222 तथा शुद्धितत्व पृ0 2324 स्मृतिमुक्ताफल वर्णाश्रम पृ0 161 से उद्धत

(308) स्कन्दपुराण (काशी खण्ड, 4/55/75 एव 3, ब्रह्मरण्य भाग 50/55)

(309) स्कन्दपुराण 4, 71, 44

(310) डाई फ्रौ पृ0 56, 82, 83 एव श्चैडर का ग्रथ प्रीहिस्टारिक एटीक्वीरिज ऑफ दि आर्य पीपल अंग्रेजी अनुवाद 1890 पृ0 391 एंव वेस्टरमार्क की पुस्तक "आरिजिन एण्ड डवलपमेण्ट ऑफ मॉरल आइडियास, 1906 जिल्द 1, पृ0 472-476

(311) विष्णुधर्म सूत्र 25/14, याज्ञवल्क्य के 1/86 की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धत

(312) मैक्रिडल पृ0 69-70

(313) मैक्रिडंल पृ0 69-70

(314) स्ट्रैबो

(315) कालिदास, अभिज्ञान शाकुंतल:

(316) कुमारसंभव 4, 33, 35, 36, 45

(317) कामसूत्र 6.2 53

(318) वृहस्पति 483, 84

(319) व्यासस्मृति 2.53

(320) वराहमिहिर बृहत्संहिता 74/16

(321) गुप्त इंस्क्रिप्शनस, फ्लीट, पृष्ठ 91

(322) ब्रह्मपुराण का उद्धरण, कृत्यकल्पतरू, 634

(323) मिताक्षरा, याज्ञ0 1 86

(324) राजतरंगिणी 5.226

(325) राजतरंगिणी 7 103

(326) कथासारित्सागर 10.58

(327) इण्डियन एटीक्वेरी, जिल्द 9, पृष्ठ 164

(328) प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दा आर्क्येयोलाजिकल सर्वे ऑफ इडिया, वेस्टर्न सर्किल 1906 7 पृ0 35

(329) इपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 14 पृ0 265-67

(330) महाभारत आदि पर्व 95/64

(331) विष्णुपुराण 5/30/2

(332) महाभारत शांति पर्व 148

(333) मेधातिथि, मनु पर VIII 156-7

(334) स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाड, पृष्ठ 598

(335) कादम्बरी, पूर्वाद्ध पृ0 308

(336) मृच्छकटिक, अंक-10

(337) महानिर्वाण तन्त्र 10, 79

(338) दायभाग पृष्ठ 46-45

(339) ऋग्वेद 10/40/2

(340) ऋग्वेद 10/18/7-8

(341) अर्थववेद 5/17/8-9

(342) अर्थववेद 9/5/27-28

(343) नारद (स्त्रीपुंस, 45)

(344) याज्ञवल्क्य (1, 67)

(345) संस्कार प्रकाश पृ0 740-41

(346) कश्यप (स्मृतिचन्द्रिका 1, 75 में उद्धत)

(347) बौधायन (स्मृतिचन्द्रिका पृष्ठ 75, तथा संस्कार प्रकाश पृ0 735)

(348) मनुस्मृति IX (69-70)

(349) वशिष्ठधर्मसूत्र (27/72)

(350) वशिष्ठधर्मसूत्र (17/19-20)

(351) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/31

(352) नारद (स्त्रीपुंस, 97)

(353) पराशर माधवीय (4/30)

(354) अग्निपुराण (54/5-6)

(355) पराशर माधवीय (2, भाग-1, पृ0 53)

(356) मेधातिथि मनु पर V 157

(357) मेधातिथि मनु पर III/10 एव V/163

(358) आपस्तम्ब धर्मसूत्र - 2/6/13 13-4

(359) हरदत्त (मनु पर 3/174)

(360) मनुस्मृति IV/162

(361) मनु V/162, मनु IX/65, मनु IX/47, मनु VIII /226

(362) मनु IX/176

(363) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0 344, भाग-1

(364) बौधायन धर्मसूत्र (4/1/18)

(365) वशिष्ठ धर्मसूत्र (17/74)

(366) याज्ञवल्क्य (1/167)

(367) मनु III 155

(368) याज्ञवल्क्य 1/222

(369) ब्रह्मपुराण (अपरार्क पृ0 97 से उद्धत)

(370) निरूक्त 3/15

(371) मेधातिथि, मनु पर IX/66

(372) गौतम 18/4-8

(373) गौतम 18/11

(374) वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/56-65

(375) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/17

(376) मनुस्मृति IX/59/61

(377) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/67-70

(378) याज्ञवल्क्य (1/68-69)

(379) नारद, स्त्रीपुंस 80-83

(380) कौटिल्य 1/17

(381) आपस्तम्ब धर्मसूत्र-2/10/27/5-7

(382) बौधायन धर्म सूत्र 2/21/38

(383) मनुस्मृति IX/64-68

(384) मनुस्मृति /69-70

(385) मनुस्मृति IX/120-21, 145

(386) बृहस्पति (याज्ञ0 1/68-69 की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धत।)

(387) कुल्लूकभट्ट मनु पर IX/68

(388) मनु IX/4 एंव 68

(389) मनु IX/64

(390) याज्ञवल्क्य 2/117 की व्याख्या मे मिताक्षरा एवं ब्रह्मपुराण, अपरार्क द्वारा उद्धत पृ0 97

(391) वेस्टरमार्क 'हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरज, 1921, जिल्द 3 पृ0 206-220

(392) वशिष्ठ धर्मसूत्र 17/1/6

(393) विन्टरनित्श (जे0आर0ए0एस0, 897, पृष्ठ 758)

(394) ऋग्वेद 10, 85, 33

(395) ऋग्वेद 10.85

(396) ऐतरेय ब्राह्मण 12 11

(397) अष्टाध्यायी 3/2/26

(398) अयोध्याकाण्ड, रामायण 33/8

(399) सभापर्व, महाभारत 69/9

(400) अयोध्याकाण्ड 33/8, युद्धकाण्ड 116/28

(401) हर्षचरित्र-4

(402) शाकुन्तला 5/13

(403) कथा-सरित्सागर 33.6-7

(404) इलियट, 1 पृ0 11

(405) पी0 एन0 प्रभु हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृ0 83

(406) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/21/1

(407) गौतम धर्मसूत्र 3/2

(408) वसिष्ठ धर्मसूत्र 7/1-2

(409) बौधायन धर्मसूत्र 2/6/17

(410) मनुस्मृति VI/87

(411) मनुस्मृति VI/96

(412) मनुस्मृति VI/1

(413) मनुस्मृति VI/169

(414) मनुस्मृति VI/1-2

(415) ऋग्वेद 10/109/5

(416) महाभारत, शांतिपर्व 191 8

(417) सस्कार प्रकाश पृ0 334

(418) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 4 10 4

(419) बौधायन धर्मसूत्र 1.2 18

(420) बौधायन धर्मसूत्र 1 2 12

(421) विष्णुपुराण 3.9 1

(422) बौ0 गृ0 सूत्र 25 7.8

(423) गो0 गृ0 सूत्र 1 15, आश्व 1.19 11, बौ0 गृ0 25 13, आ0 गृ0 सू0 1.33.36

(424) आश्व0 गृ0 सू0 1 19 8, बौ0 ध0 सू0 11.61 63, बौ0 गृ0 2.5 16, आश्व0 धर्मसूत्र 1 2.39 41

(425) महाभाष्य 3.57

(426) पा0 गृ0 सू0 2.2, आश्व गृ0 1 19 1.6, बौ0 गृ0 सू0 2.5, आ0 गृ0 सू0 1 2.39 41

(427) मनु II 0 36

(428) बौ0 गृ0 सू0 1.2.42; विष्णुपुराण 3.9.1

(429) मनुस्मृति II 0 48

(430) आश्वलायन गृ0 सू0 1 2 22 2 8 का0 गृ0 सू0 41 17, गौ0 गृ0 सू0 3 108 76

(431) बौ0 ध0 सू0 7 4 17, गौ0 गृ0 1 3 4 5

(432) अर्थशास्त्र 2 88 92

(433) ग्यारवही सदी का भारत, जयशंकर मिश्र पृ0 132.33

(434) मनुस्मृति III 1

(435) तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/10/11

(436) शतपथ ब्राह्मण 11/5/7/4/4-5

(437) छान्दोग्योपनिषद 7/1/2

(438) गौतम (2/54-55)

(439) मनु (2 141)

(440) शखस्मृति 3/2

(441) विष्णु धर्मसूत्र 29 2

(442) मेधातिथि (मनु II/112)

(443) मिताक्षरा (याज्ञ0 2/225)

(444) मनु 10 1/16, याज्ञवल्क्य 3/42

(445) मनु III 0 77

(446) मनु IV 0 90

(447) विष्णुपुराण 3.9 8

(448) बौ0 धर्मसूत्र 8.13

(449) अर्थशास्त्र 1.3

(450) शतपथ ब्राह्मण 1.7.2 10, महाभारत, अनुशासन पर्व 1 120 15

(451) मनुस्मृति VI 0.36

(452) मनुस्मृति VI 0.36

(453) मनुस्मृति

(454) शतपथ ब्राह्मण 11.5.6.1, तै0 आ0 2 10

(455) मनुस्मृति III 0 68-70

(456) तैतिरीय संहिता 2.11.2.2, अतिथि देवो भव्।

(457) महाभारत, शांतिपर्व– 2443 2 4

(458) कुल्लूकभट्ट मनु पर VI

(459) मेधातिथि मनु पर VI/7

(460) गोविन्द राज मनु पर IV/7

(461) विज्ञानेश्वर मिताक्षरा याज्ञ पर 1/128

(462) बौधायन धर्मसूत्र 3/6/19

(463) पराशर माधवीय भाग-2 पृ0 139

(464) वसिष्ठ धर्मसूत्र 9/11

(465) मनुस्मृति VI/21

(466) मेधातिथि मनु पर VI/21

(467) मनुस्मृति VI/2

(468) कूल्लूक मनु पर III /50

(469) गौतम 30/25-34

(470) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/21/18 एवं 2/9/23/2

(471) बौधायन धर्मसूत्र 3/3

(472) वसिष्ठ धर्मसूत्र 9

(473) मनु VI/1-32

(474) याज्ञवल्क्य 3/45-55

(475) विष्णुधर्म सूत्र 95

(476) मनुस्मृति VI/3

(477) याज्ञवल्क्य 3/45

(478) मेधातिथि मनु पर VI/3

(479) गौतम 3/36

(480) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/21/20

(481) वसिष्ठ धर्मसूत्र 9/10

(482) मेधातिथि (मनु पर VI/9)

(483) मनु VI/5

(484) गौतम 3/26-28

(485) मनु VI/2

(486) मनुस्मृति VI/22 एव 24, याज्ञ0 3/48, वसिष्ठ 9/9

(487) मनु VI/6, गौतम 3/34, वसिष्ठ 9/11

(488) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/22/9, मनु VI/8, याज्ञवल्क्य 3/48

(489) कुल्लूक (मनु पर VI/26)

(490) मनु VI/26

(491) याज्ञवल्क्य 3/45

(492) वसिष्ठ 9/5

(493) मनु VI/16 एवं याज्ञवल्क्य 3/46

(494) मनु VI/23, 34, याज्ञवल्क्य 3/52 विष्णु धर्मसूत्र 95/2/4

(495) मनु VI/22 एवं 26 तथा याज्ञवल्क्य 3/51

(496) मनु VI/31, याज्ञवक्ल्य 3/35

(497) आदिपर्व 86/1

(498) आदिपर्व 86/12-17 एवं 75/58

(499) आश्वमेधिकपर्व, अध्याय-16

(500) मौशलपर्व 7/74

(501) इपि0 इण्डिका, जिल्द 12, पृ0 205

(502) एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 1 पृ0 140

(503) इपिग्राफिका कर्नाटिका, जिल्द 2 संकेत 136

(504) भागलपुर दानलेख श्लोक स0 17

(505) देवधर प्रशास्ति, इपि0 इण्डिका 1 पृ0 308

(506) वायु पुराण 104.12

(507) विष्णु पुराण 3 18.37

(508) बौ0 ध0 सू0 10 1

(509) ऋग्वेद 8.3 9 अर्थववेद 25 5

(510) बौ0 धर्मसूत्र 2.10.5, गौतम 2 1.05

(511) बौ0 धर्मसूत्र 10.1 सम्यक न्यास, प्रतिग्रहाणाः सन्यासः ।

(512) रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास पृ0 67

(513) मनु VI/30, याज्ञ 3/56, विष्णु 96/1, शख 7/6

(514) मनु 6/35-37

(515) मनु 6/41, 43, 44 वसिष्ठ 10/12-15, शंख 7/6

(516) मनु 6/41, 49, गौतम 3/11

(517) मनु 6/38, 43 आप0 धर्मसू0 1/9/10 एव आदिपर्व 91/2/2

(518) मनु 6/57, 59 वसिष्ठ 10/21-22 एव 25 याज्ञ0 3/59

(519) मनु 4/43-44, गौतम 3/10, वसिष्ठ 10/6

(520) मनु 6/43, गौतम 3/16, बौ0 धर्मसूत्र 2/10/79, आप0 धर्मसूत्र 2/9/21/20

(521) मनु 6/36, 92-94, याज्ञ0 3/65-60, वसिष्ठ 10/30 बौ0 02/10/55 50

(522) रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ 64

(523) गौतम धर्म सूत्र 3 11 323

(524) महाभारत शांति पर्व 244 30 नीलकंठ की टीका

(525) कुट्टनीमतम 492, 497

(526) कुट्टनीमतम पृ0 495

(527) कुल्लूक मनु पर 6 33

(528) ग्यारहवीं सदी का भारत पृष्ठ 133 34

(529) ऋग्वेद 5/76/2

(530) ऋग्वेद 6/28/4

(531) ऋग्वेद 8/39/9

(532) शतपथ ब्राह्मण (3/211/22)

(533) जैमिनिसूत्र (3/1/3, 3/2/15; 3/8/5; 9/2/9 42.44; 9/3/25

(534) जैमिनिसूत्र 6/1/35

(535) शबर- "संस्कारों नाम स भवति सस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्य: कस्य चिदर्थस्य ।"

(536) तन्त्रवार्तिक-"योग्यता चादधाना संस्कारा इत्युच्यन्ते,"

(537) मनुस्मृति (2/27-28)

(538) याज्ञवल्क्य (1/13)

(539) सस्कार तत्व पृष्ठ 857

(540) व्यासस्मृति

(541) अपरार्क, याज्ञवल्क्य पर 1/11-12

(542) रघुनन्दनकृत शूद्रकृत्यतत्व

(543) ब्रह्म पुराण

(544) गौतम धर्मसूत्र 1 822 इरत्येत चत्वारिशंत्संस्कारा

(545) बौ0 धर्मसूत्र

(546) वृहदारण्यकोपनिषद (6/4/21)

(547) मनुस्मृति 3/46

(548) याज्ञवल्क्य 1 79 षोडशर्तुनिशा स्त्रीणा तासु युग्मालु संविशेत् . ...
-पर्वाण्याद्यश्चय वर्जयित।

(549) मनुस्मृति 3 45 ऋतुकालीभिगामी त्स्वदार निरत: सदा। पर्ववर्ज व्रजेच्चैना तद्वता रतिकाम्या।।

(550) याज्ञवल्क्य (1/11) पर विश्वरूप

(551) लघु आश्वलायन 4/17

(552) मेधातिथि मनुस्मृति पर 2/16 गर्भाधानं च विवाहादनन्तरं प्रथमोपगमे
विष्णुयोनि कल्पत्विति मन्त्रवकेषचिद्वि हितम्।

(553) परेषामगर्भ ग्रहणात् प्रत्यतू।।

(554) स्मृतिचन्द्रिका पृ0 1/14

(555) अलबरूनी, ग्यारहवी सदी का भारत पृ0 219

(556) अर्थववेद 6/11/1

(557) आश्वलायन गृहसूत्र 1/13/2.7

(558) आश्व गृ0 14 9 पुसवनमिति कर्मनामधेय येनकर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुमासमेव सूते सत्पुसवन्।

(559) आश्वलायन 1/14/1-9

(560) शखायन 1/22

(561) हिण्यकेशी 2/1

(562) बौधायन 1/10

(563) भारद्वाज 1/21

(564) गोभिल 2/7/1-12

(565) खादिर 2/2/24-28

(566) पारस्कर 1/15

(567) काठक 31, 1-5

(568) वैखानस 3-12

(569) याज्ञवल्क्य 1-11

(570) व्यास 1-18

(571) पारस्कर गृहसूत्र 1 14 2

(572) बौधायन गृहसूत्र 1 9.1

(573) आश्वलायन गृहसूत्र 1 14 1-9

(574) मनुस्मृति 2-29 प्राङ नाभिवर्धनात् पुसो जातकर्म विधायते।
मन्त्रवत् प्राशन चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।।

(575) विष्णु पुराण 3 104-5 जातस्य जातकर्मादिक्रि या काण्डम

(576) स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 19-20

(577) संस्कार रत्नमाला पृ0 896-97

(578) संस्कार प्रकाश पृ0 201-3

(579) अलबरूनी, ग्यारहवीं सदी का भारत पृ0 221

(580) इपि0 इण्डिका 6 पृ0 1126-27

(581) शतपथ ब्राह्मण 6.13 9, तै0 सं0 6 1.13

(582) आपस्तम्ब गृहसूत्र 15.8 11, आश्वलायन गृहसूत्र 1.15, 4-10

(583) याज्ञवल्क्य 1.12 अहन्येकादशे नामः मनु 2.30

नामधेय दशम्या तु द्वादश्या वास्य कारयेत ।
पुण्ये तिर्थो मूहूर्ते वा नक्षत्र वा गुणन्विते ।।

(584) मनुस्मृति 2 30

(585) विश्वरूप मनु पर 2 30

(586) कुल्लूकभट्ट मनु पर 2 30

(587) मेधातिथि मनु पर 2 30

(588) वारमित्रोदय 1 पृ0 334 पर उद्धत

(589) मनुस्मृति 2.31 मङगल्य ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वियतम् वैश्वश्च धनसंयुक्तम् शुद्रस्थ तु जुगुप्सितम् ।।

(590) वही; पारस्कर गृहसूत्र 1 17 शर्म ब्राह्मण स्यं क्षत्रियस्य गृप्तेति वैश्यस्य ।

(591) बौधायन गृहसूत्र 1-1 10 आप्युदाहरन्ति शर्मान्त ब्राह्मणस्यं, वर्मान्त क्षत्रियस्य गुप्तांन्त वैश्यस्य, - दासान्तमेववा।

(592) कादम्बरी, पूर्वभाग, प्राप्तेदशमेहनि पुण्ये मुहर्ते चन्द्रापीड इतिनाम चकार

(593) पारस्कर गृहसूत्र 1-7

(594) गोभिल 2/8/1-7

(595) खादिर 2/3/1-5

(596) बौधायन (11/2)

(597) मानव (1/19/1-6)

(598) काठक (37-3)

(599) पारस्कर गृहसूत्र 1.17 चतुर्थे मासि निष्क्रमाणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्च क्षूरिति।

(600) मनुस्मृति 2 34

(601) शा0 गृ0 सूत्र 1 27, आ0 धर्मसूत्र 1.16.1

(602) महाभाष्य, 2 पृ0 262, सस्कार-प्रकाश, पृ0 295 स च चूड़ाकरण शब्द: कर्मनाम धेयम् योगिकन्यायेनोदिभदादि दिशाब्दवत्। योगरेश, चूडार्थकरणं चूडा यमिन्कर्मागीति वा त्रिधैव संभवति।

(603) पारस्कर गृहसूत्र 2 1 1 2

(604) मनुस्मृति 2 35 चूडाकर्म द्विजातीना सर्वेषामेव धर्मवत ।
प्रथमेशब्दे तृतीये वा कर्त्तव श्रुति चोदनात्।

(605) पारस्कर 2/1

(606) वैखानस 3/23

(607) आश्वलायन (1/17/1-8)

(608) स्मृतिचन्द्रिका, 9 पृ0 25, अपरार्क पृष्ठ 29, संस्कार रत्नमाला पृष्ठ 901

(609) कुल्लूकभट्ट मनु पर 2 35

(610) अर्थववेद, 6

(611) निरूक्त 2/4

(612) गर्ग सुश्रुत 16 1

(612) ग्यारवहीं सदी का भारत पृ0 224

(614) बौधायन गृहसूत्र 1 12

(615) संस्कार प्रकाश, पृ0 258

(616) संस्कार प्रकाश, 260, सस्कार रत्नमाला पृ0 890

(617) अपरार्क पृष्ठ 30 31

(618) स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 26

(619) वाटर्स 1 पृ0 155

(620) ग्यारहवीं सदी का भारत पृष्ठ 168

(621) गौ0 ध0 सू0 1 6 12 उपनयनं ब्राह्मणास्यष्ट में। एकादश द्वादशयों क्षत्रिगढ। वैश्ययो

(622) मनुस्मृति 2.36 गभीष्टमेज्ब्दे कुर्वीत ब्राह्मस्योपनाचनम् ।
गर्भदकादशे राज्ञों गर्भात्तु द्वादशेविशः।।

(623) आपस्तम्ब 10/2

(624) शंखायन 2/1

(625) बौधायन 2/5/2

(626) भरद्वाज 1/1

(627) गोभिल 2/10

(628) याज्ञवल्क्य 1/14

(629) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/19

(630) पारस्कर गृहसूत्र 2/2

(631) याज्ञवल्क्य 1/14

(632) आपस्तम्ब गृहसूत्र 1/1/1/19

(633) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/119

(634) हिरण्यकेशि गृहसूत्र 1/1

(635) वैश्वानस 3/3

(636) आप0 ध0 सू0 (1/1/2/39-1/1/3/1-2)

(637) मेधातिथि मनु पर 2 44

(638) मनुस्मृति 2 44

(639) आश्वलायन गृहसूत्र 1 12 11, बौधायन गृ0 सू0 2.5 15

(640) आश्वलायन गृहसूत्र (1/19/13 एवं 1/20/1)

(641) आश्वलायन गृहसूत्र 1/19/13

(642) गौतम धर्मसूत्र 1/25

(643) वसिष्ठ धर्मसूत्र 11/55-57

(644) पारस्कर गृहसूत्र 2/5

(645) मनुस्मृति 2/46

(646) पारस्कर गृ0 सू0 2.1.4

(647) पारस्कर गृ0 सू0 2 2.17 18

(648) शतपथ ब्राह्मण 11/5/4/1-17

(649) मनुस्मृति 2/74

(650) मेधातिथि 2/75 मनु पर

(651) मेधातिथि 2/101

(652) वृहदारण्यको उपनिषद 5/2/1

(653) मनुस्मृति 2/69

(654) याज्ञवल्क्य 1/15

(655) मनुस्मृति 2/165

(656) शतपथ ब्राह्मण 11/5

(657) गौतम 2/051

(658) वसिष्ठ धर्मसूत्र 7/3

(659) मनु 3/2

(660) याज्ञवल्क्य 2/52

(661) दक्ष 2/34

(662) मनुस्मृति 12/102

(663) मेधातिथि मनु पर 3/19

(664) वृहदारण्यकोपनिषद 4/1/2

(665) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/2/7/19-23

(666) याज्ञवल्क्य 3/265

(667) विष्णु धर्मसूत्र 37/10

(668) मनु 3/15-67 अनुशासनपर्व 23/17 एवं याज्ञवल्क्य 1/223

(669) मेधातिथि मनु पर 2/112 एवं 3/146

(670) मिताक्षरा (याज्ञवंल्क्य 2/235)

(671) स्मृतिचन्द्रिका पृ0 269

(672) मनु 10/16 याज्ञवल्कय 3/42

(673) आपस्तम्ब गृहसूत्र 1.18

(674) मनुस्मृति 2 65

(675) मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य 1/36)

(676) कुल्लूकभट्ट (मनुस्मृति 2/65)

(677) मेधातिथि मनु पर 2/65

(678) ऋग्वेद 10/85/36, 5/3/2, 5/28/3, 3/53/4

(679) शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10 अर्धो ह वा एष आत्मनों यज्जाया तस्माद्यावज्जांयां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते आर्सो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेथ तार्हि हि सर्वो भवति।

(680) पारस्कर गृहसूत्र 1.8.1

(681) मनुस्मृति 3/37-38

(682) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/58-60

(683) बौधायन गृहसूत्र 1 43

(684) आश्वलायन गृहसूत्र 4 1

(685) ऋग्वेद 10 16 1

(686) पारस्कर गृहसूत्र 310 27 28

(687) विष्णुपुराण 3 13 20

(688) याज्ञवल्क्य 5.97, मत्स्य पुराण 154, 152-53

मनुजास्तत्र जायन्ते यतो नागृहधर्मिण ।

तस्य कुर्तनियोगेन संसारो येन वर्धित: ।।

(689) ऋग्वेद 10/रु85/36, 5/3/2, 5/28/3, 3/53/4

(690) ऐतरेय ब्राह्मण 33द्य

(691) शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10

(692) मनुस्मृति 9/28

(693) राबर्ट ब्रिफाल्ट, सेक्स इनरिलिजन 169

(694) वेस्टर-मार्क, द हिस्ट्री ऑफ हयूमन मैरिज पू0 26

(695) हॉबेल

(696) मनुस्मृति 9.28

(697) ऋग्वेद 5.3.2, 5.28.3

(698) तैत्तिरीय ब्राह्म 2.2.2 6, 3 3 1 अयज्ञियो बा एषयोडपत्नीक

(699) शतपथ ब्राह्मण 5 2/1 10, 307

(700) याज्ञवल्क्य 1.89

(701) ऋग्वेद 10.83.36

(702) ऋग्वेद 10.85.45

(703) ऐतरेय ब्राह्मण 33.1 4

(704) मनुस्मृति 9.28, रतिरूत्तमा

(705) मनुस्मृति 9.137

(706) वात्स्यायन कामसूत्र

(707) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1 7 धर्मार्थ विरोधेन कामन सेवेत्

(708) मनुस्मृति 4 176

(709) मनुस्मृति 9 88

(710) यमस्मृति 1 1 78

(711) बौधायन धर्मसूत्र 4.1 1, मनुस्मृति 3 2, याज्ञवल्क्य स्मृति 1 52

(712) मनुस्मृति 2.2 38, 3 63 64

(713) नारद, स्त्रीपुसंभोग 12 19

(714) मनुस्मृति 9 203

(715) आश्वलायन गृह सूत्र 1 5 3

(716) शंखायन गृहसूत्र 1 5 6

(717) मनुस्मृति 3 4

(718) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 52

(719) मनुस्मृति 3 8-10

(720) विष्णुधर्मसूत्र 24 12-16

(721) विष्णुपुराण 3 10 18-22

(722) भारद्वाज गृहसूत्र 1 11

(723) मानव गृहसूत्र 1 7 8

(724) मनुस्मृति 3.11

(725) याज्ञवल्कय स्मृति 1.53

(726) मनुस्मृति 9.94

(727) विष्णुपुराण 3.10 16 वर्णेरिकगुणा भार्यामुहहेत्, त्रिगुणः स्वयम्

(728) अंगिरा (स्मृतिमुक्ता फल में उद्धधृत वर्णाश्रमा धर्मपृ0 125)

वयोधिकां नोपयच्छेद दीर्घा कन्यां स्वदेहतः।

स्ववर्षाट् द्वितिपञ्चादिन्यूना। कन्या समुद्व हेत।।

(729) अनुशासन पर्व, महाभारत 44 14

(730) उद्वाहत्तत्व पृ0 123

(731) श्रौतपदार्थ निर्वचन पृ0 766

(732) ऋग्वेद 10.27.12

(733) शतपथ ब्राह्मण 4 1 5

(734) आपस्तम्ब 2 6 13 1-3

(735) मानवगृहसूत्र 1 7 8

(736) गौतम गृहसूत्र 1 7 8

(737) मनुस्मृति 3 12

(738) बौधायन धर्मसूत्र 1 8 2

(739) मनुस्मृति 3.13

(740) विष्णु धर्मसूत्र 24 1-4

(741) पारस्कर गृहसूत्र 1 4

(742) वसिष्ठ धर्मसूत्र 1 25

(743) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 57

(744) मनुस्मृति 9,152, 53

(745) याज्ञवल्क्यस्मृति 2,125

(746) मनुस्मृति 3 44

(747) याज्ञवल्कयस्मृति 1 42

(748) प्रभावती गुप्ता का जूनागढ अभिलेख

(749) लालगवुण्ड अभिलेख

(750) मनुस्मृति 2.32

(751) घटोत्कच अभिलेख

(752) त्तिपेरा ताम्रपत्र

(753) विश्वरूप याज्ञवल्क्य पर 3 283

(754) मेधातिथि मनु पर 3.14

(755) याज्ञवल्क्य 1/52-53

(756) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/7/21/8

(757) गौतम धर्मसूत्र 1/9-26

(758) मनुस्मृति 11/172

(759) याज्ञवल्क्य 3/254

(760) मनु 2/18

(761) मेधातिथि 2/18
(762) पराशरमाधवीय 1/2 पृष्ठ 63-68
(763) मनुस्मृति 3/5
(764) मेधातिथि मनु पर 3/5
(765) मेधातिथि 3/5
(766) आश्वलायन गृहसूत्र 1/6
(767) गौतम धर्मसूत्र 4/6-13
(768) बौधायन धर्मसूत्र 1/11
(769) मनुस्मृति 3/21
(770) आदिपर्व 76/8-9
(771) विष्णुधर्म सूत्र 24/18-19
(772) याज्ञवल्क्य 1/58
(773) नारद स्त्रीपुंस 38-39
(774) कौटिल्य 3/1
(775) आदिपर्व 101/12-15
(776) मनुस्मृति 3/27-34
(777) बौधयान धर्मसूत्र 1/11/5
(778) मेधातिथि मनु पर 3/28
(779) अपरार्क पृष्ठ 89
(780) स्मृतिमुक्ताफल भाग 1 पृष्ठ 140
(781) वसिष्ठ 17/73
(782) मनु 8/366 याज्ञवल्क्य 2/287/288
(783) मनु 8/366
(784) मेधातिथि मनु पर 8/366
(785) याज्ञ 2/280
(786) गौतम 4/12, आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/12/3 मनु 3/24, नारद (स्त्रीपुंस 44)
(787) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/12/2, बौधायन धर्मसूत्र 1/11/1
(788) बौधायन धर्मसूत्र 1/11/10, मनु 3/14
(789) मनुस्मृति 3/23
(790) मनुस्मृति 3/24
(791) मनुस्मृति 3/26 एवं बौधायन धर्मसूत्र 1/11/13
(792) नारद स्त्रीपुंस 40

आर्थिक स्थिति

किसी समाज की आर्थिक स्थिति उस समाज की रीढ होती है, जिसके ऊपर पूरा समाज निर्भर रहता है। किसी भी देश की या किसी समय विशेष की आर्थिक स्थिति समाज के तत्कालीन कारकों से प्रभावित होती है। अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारकों में कृषि, उद्योग धन्धे, व्यापार वाणिज्य के अतिरिक्त, उस काल की राजनैतिक स्थिति भी होती है। पूर्वमध्यकालीन भारत की अस्थिर राजनैतिक स्थिति से व्यापार वाणिज्य एंव उद्योग धन्धे भी प्रभावित हुए बिना न रह सके, जिसका साक्ष्य तत्कालीन सिक्कों का कम मात्रा मे उपलब्ध होने के रूप में माना जा सकता है। छोटे-छोटे सामन्तो के उदय से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडा क्योंकि सबके राजनैतिक हित भिन्न थे, व्यापार वाणिज्य को छोटे-छोटे क्षेत्रों मे सीमित कर दिया गया था। आयात-निर्यात को एक सीमा विशेष तक प्रतिबंधित कर दिया गया था, इस प्रकार मोटे तौर पर पूर्वमध्यकालीन भारत की अर्थव्यवस्था लडखडा रही थी।

भूमि पर स्वामित्व:

भूमि के स्वामित्व के विषय में प्राचीन शास्त्रकारों के मत को लेकर आधुनिक विचारको में मतभेद हैं। कुछ विचारकों[1] का कथन है कि भूमि पर राजा का स्वत्व, और कुछ[2] का मत है कि उसपर व्यक्ति का स्वत्व है। कतिपय ऐसे भी दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे भूमि पर सम्मिलित स्वत्व[3] की पुष्टि होती है।

वैदिक युग में भूमि पर व्यक्तिगत एंव सम्मिलित स्वामित्व का प्रचलन था क्योंकि उसी समय आर्यों का भारत आगमन हुआ था और वे भारत में आकर अपना विस्तार कर रहे थे। जिसने जिस भूमि पर कृषिकार्य प्रारम्भ किया उसपर उसका व्यक्तिगत स्वत्व स्थापित हुआ और समूह में रहने के कारण भूमि पर उनका सामूहिक अधिकार भी था। वस्तुत. भूस्वामित्व के विकास में सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों पक्षों का योग रहा है तथा इस विषय की विवेचना भी दोनों आधार पर करनी चाहिए।

राजतन्त्र के उत्कर्ष के कारण साम्राज्य का विस्तार हुआ और इसके साथ-साथ राजाओ ने अपनी-अपनी सीमाओ का विस्तार किया। समय-समय पर उसने भूमि, गाव आदि ब्राह्मणों, श्रमणों, मंदिरों और विहारो को दान में दिये जिससे भूमि पर राजा का स्वामित्व सिद्ध होता है। व्यवहारिक रूप से अलग-अलग भूमि पर अलग-अलग व्यक्तियों का अधिकार था जो उसे स्वतन्त्रतापूर्वक खरीदते बेचते थे, जो भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व को सिद्ध करता है। इस प्रकार भूमि स्वमित्व को सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनो तत्व प्रभावित करते हैं।

राजतन्त्र और साम्राज्यवाद के विकास के साथ भूमि पर राजा और राज्य का प्रभुत्व बढा जिससे व्यक्ति और उसके समूह का भूमि पर अधिकार निर्बल पड गया। इसके साथ-साथ राजतन्त्र और साम्राज्यवादी विचारकों का भी उदय हुआ जिन्होने भूमि पर राजा के अधिकार का समर्थन किया। कौटिल्य और मनु जैसे लेखक इसी वर्ग के थे।

शतपथ ब्राह्मण[4] मे उल्लिखित है कि भूमि सभी लोगों की सम्पत्ति है। जैमिनि[4A] ने मीमासा का मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि पृथ्वी पर सबका समान अधिकार है। इस पर भाष्य करते हुए शबर स्वमिन[5] की व्याख्या है कि राज्य की समस्त भूमि और व्यक्तिगत भूमि में अंतर था उसके अनुसार राजा भूमि को सुरक्षा प्रदान करने के कारण उपज से केवल अपना भाग लेने का अधिकारी था। भूमि पर उसका कोई अधिकार नहीं था।

किन्तु पूर्वमध्यकाल आते-आते स्थिति एकदम बदल चुकी थी। इस समय भूमि पर स्वामित्व के विषय में विश्लेषण करने से पहले यह भी आवश्यक था कि तत्कालीन परिस्थितियो के सापेक्ष में विचार प्रस्तुत हों। अन्य परिस्थितियों के साथ ही साथ, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण भूमि के ऊपर स्वत्व की प्रकृति बदल रही थी[5] पूर्वमध्यकाल में हम देखते हैं कि भारतीय इतिहास में कृषक वर्ग के अतिरिक्त सामंत वर्ग एंव जमीनधारी शासक वर्ग भी उपस्थित है। यह काल ऐसा था जब सत्ता वर्ग (शासक) के उत्तराधिकार क्रम के विरोध में जमीन से जुड़ी हुई एक राजनैतिक सत्ता वर्ग संगठित हो रही थी जिन्होने अपना एक सामाजिक राजनैतिक स्तर बना लिया था। इससे जमीन से जुडे हुए ग्राम्य सत्ताधारी वर्ग का उदय हुआ। भूमि पर सामान्यतौर पर

विभिन्न स्तरो मे शासक का, ब्राह्मण धार्मिक संस्थाओं, सैनिक वर्ग के अधिकारी, किसी गोत्र या परिवार के सदस्यो का एंव अन्य अधिकारियो का अधिकार रहता था। तत्कालीन अभिलेखीय साक्ष्यो से भूमि पर स्थानीय अधिकारियों जैसे तलार इत्यादि का पता चलता है, कुछ स्थानीय शासकों जैसे पट्टकिल इत्यादि के बारे में सूचना मिलती है । इसके साथ-साथ समय-समय पर विशेष अधिकारियों जैसे चाट एंव भाट[6] की उपस्थिति भी दिखती है जो जमीन के उत्पाद का एक भाग अपने हिस्से के रूप में लेते थे। लेखपद्धति[7] के साक्ष्यों से पता चलता है कि 12वीं एंव 13वी सदी में भूकृषक वर्ग अस्तित्व मे आ चुका था। इस प्रकार भूमि पर अधिकार एव उपज में भाग के लिए विभिन्न प्रकार के मध्यस्थ वर्ग उदित हो चुके थे।

सर्वोपरि सत्ताधारी शासक[8] के उपरान्त सामन्त, उससे निम्न सामन्त एंव उससे निम्नतर मध्यस्थवर्गों से लेकर भूमि पर कृषि करने वाले कृषक तक, भूमि पर अधिकार एव उपज में हिस्से को लेकर बहुत से मध्यस्थ उपस्थित हो गये जो अपने-अपने स्तर का अधिकार मांगते थे। मध्यस्थों एव कृषको में भी कई प्रकार थे, जो स्थान-स्थान पर अलग थे। ये सारे वर्ग मध्यकालीन यूरोप की तरह सुव्यवस्थित भी नही थे। इस प्रकार सामतों के उत्तराधिकार क्रम से भूमि पर अधिकार बहुत जटिल होता जा रहा था।

इस प्रकार की परिस्थितियों में, शास्त्रकारों द्वारा निर्मित सिद्धान्त, (भूमि पर स्वामित्व का) नहीं काम कर रहा था, यह अधिकार क्षेत्रगत एंव साम्राज्यगत परिस्थितियों से निर्धारित हो रहा था। अंतिम रूप से भूमि पर किसका स्वामित्व होगा, इन परिस्थितियों में इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता था। इस कारण पूर्वमध्यकालीन लेखको ने भूमि के ऊपर गुणात्मक अधिकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, पूर्वमध्यकालीन न्यायविदों ने सम्पत्ति के स्वत्व को गुणात्मक् आधार पर समझाया-जैसे राजा का स्वत्व, जमीदार का स्वत्व, कृषक का स्वत्व, शहीदों का स्वत्व इस प्रकार ये सभी अपने-अपने सीमा अधिकार में भूमि के स्वामी कहलाते थे। विभिन्न वर्गों की उपस्थिति से, जो भूमि पर विभिन्न स्तर के अधिकार रखते थे, जो परिस्थितियां बन रही थीं, उसमें पूर्व मध्यकाल में कुछ निश्चित सी प्रवृत्तियां दिखाई पड रही थीं। उनमें से एक भूस्वामित्व पर अधिकार के लिए उभरता हुआ शासक वर्ग था।

यह प्रवृत्ति एक सीमा तक गुप्त काल में देखी जा सकती है। कात्यायन के दो उद्धरणों से, जो उस समय के कानून विद थे, लक्ष्मीधर के राज्यधर्मखण्ड[9] और मित्रमिश्र[10] की व्याख्या से बाद में के0पी0 जायसवाल[11] ने भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जबकि घोषाल[12] ने भूमि पर राजा के स्वामित्व का समर्थन किया और काणें[13] ने विचार प्रकट किया कि सामान्यतौर पर व्यवहारिक रूप से जो व्यक्ति या समूह भूमि पर खेती इत्यादि करता है, उसपर उसका अधिकार होता है और उसे ही कर इत्यादि देने पडते हैं लेकिन कर भुगतान न करने पर राज्य को उस भूमि क्षेत्र को बेचने का अधिकार रहता है। इस प्रकार वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि पर न तो पूरा-पूरा व्यक्तिगत अधिकार होता था और न ही राजा का सम्पूर्ण स्वामित्व होता था। इस तरह भूमि के उत्पाद में राजा का अंश, जैसा कि प्राचीन काल में माना जाता था कि राजा उसकी सुरक्षा के बदले में लेता है अब वह उत्पाद अंश इसलिए लेता था क्योंकि भूमि पर अंतिम रूप से उसका स्वत्व होता है। नारदस्मृति[14] पर टीका करते हुए असहाय 'नरेन्द्रधन' शब्द को स्पष्ट करते हुए, भूमि पर राजा का स्वामित्व स्वीकार करते हैं, जिसपर कृषि करने वाले कृषक का थोडा सा अधिकार है। इस विचार धारा के विकास में अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामिन के विचार से बल मिलता है। भट्टस्वामी[15] कहते है कि भूमि और जल दोनो पर राजा का स्वामित्व होता था। इन दोनों को छोडकर लोग अन्य किसी भी वस्तु पर अपना स्वामित्व प्रदर्शित कर सकते थे। इससे स्पष्ट है कि भूमि दो प्रकार की थी एक राजकीय दूसरी मालगुजारी प्रदान करने वाली भूमि। मनु ने भी भूमि पर राजा के अधिकार को स्वीकार किया है। उनका मत है कि, "पृथ्वी में गडे धन (विभिन्न धातुएं) का आधा भाग राजा प्राप्त करे, क्योकि वह पृथ्वी का स्वामी है[16]। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[17] ने भी राजा के भूमिस्वत्व को स्वीकार किया है। मिताक्षरा[18] में भी स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि भूमि अनुदान के साथ सम्पत्ति अधिकार भी स्थानान्तरित हो जाता है। जिससे स्पष्ट है कि सम्पत्ति अधिकार भी व्यक्तिगत नहीं था, भूमिदान किये जाने पर वह भी साथ में स्थानान्तरित हो जाता था।

नारदस्मृति[19] का उद्धरण व्यवहार खण्ड मे उद्धत है कि राजा को यह अधिकार है कि वह तीन पीढियो से रह रहे व्यक्ति की भूमि व मकान उससे छीन सकता है जबकि एक अन्य स्थल पर नैतिक रूप से इस कृत्य को करने से मना किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ प्रदेशों मे शासकों ने भूमि के स्वामी के रूप में और साथ-साथ सुरक्षा करने के बदले मे उत्पाद का छठवा हिस्सा लेना स्वीकार कर लिया था। अलबरूनी[21] के कथन से भी यही स्पष्ट होता है, कि वह बताता है कि, "अपनी फसल एव पशुओं से जो कुछ भी वो प्राप्त करते हैं वह साम्रज्य के शासक को भूमि एंव चारागाही भूमि का शासक होने के कारण पहले कर देते हैं फिर उसकी सम्पत्ति एव परिवार की सुरक्षा के बदले मे अपनी आय का छठवां भाग कर के रूप में देते है।

बारहवीं सदी के लेखक सोमेश्वर ने अपनी कृति मानसोल्लास[22] में भी मनु के विचारो का समर्थन करते हुए राजा का भूमिस्वामित्व स्वीकार किया है। भूमि पर राजा के स्वामित्व को कात्यायन[23] ने भी स्वीकार किया है, जिसका उद्वरण मित्र मिश्र ने अपने ग्रंथ राजनीतिप्रकाश में और लक्ष्मीधर ने अपने कृत्यकल्पतरू में गृहीत किया है। वस्तुत: समय के साथ-साथ राजा का भूमि का अधिकार बढता ही गया था, देश के समस्त भू-भाग का वही एकमात्र स्वामी माना जाता था। कल्हणकृत[26] राजतरंगिणी से भी राजा के स्वामित्व का अनुमोदन होता है। उसने लिखा है, "समस्त वसुन्धरा को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने वाले नरेशों का शासक होते हुए भी अतिशय सौम्य प्रकृति-युक्त प्रवरसेन ने पूरे तीस वर्ष तक पृथ्वी पर निष्कंटक राज्य किया।

व्यवहारिक रूप से भूमि के ऊपर राजा का स्वामित्व काफी जटिल हो रहा था क्योंकि इस समय की परिस्थितियॉ परिवर्तित हो रही थी, सामतवाद अपने चरम पर पहॅुच चुका था और अभिलेखीय प्रमाणों से पता चलता है कि ये सामंत भी भूमि अनुदान दिया करते थे। उपमितिभवप्रपंचकथा[28A] की कुछ पंक्तियों से पता चलता है कि भूमि का स्वामित्व सर्वोच्च शासक के साथ-साथ भूमि के शासक के हाथ में चला गया था। मिताक्षरा[28B] में भी बताया गया है कि भूमि या कर अनुदान देने का अधिकार केवल भूपति (राजा) को है न कि भोगपति। लेकिन

'भोगपति' शब्द से तात्पर्य है कि क्षेत्र के अधिकार का जो आनन्द उठाता है, न कि सामंत, इस प्रकार राजा स्वय सामत के वशानुक्रम का निर्माण करता है इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। 11वीं सदी के एक भूमि अनुदान[29] जो गग वश के सामत राणक अम्मा का है, से पता चलता है कि वह 84 गांवों का प्रधान है और उसका स्वामी (शासक) यशोवर्मन, भोज परमार का अधीनस्थ है, जिसे सेलुका प्रान्त का आधा हिस्सा और 1500 गांव उपभोग के लिए प्राप्त हुए। अभिलेखीय प्रमाणों से पता चलता है कि समय-समय पर ये सामंत, जो कई स्तरो में व्यवस्था में उपस्थित थे, शक्ति एकत्र करके स्वतन्त्र हो जाते थे, इसके कई कारण थे (1)इनके साथ स्थानीय जनता का सहयोग रहता था। (2) उत्तराधिकार परम्परा के कारण ये भूमि से गहरे से जुड जाते थे। (3) साम्राज्य विस्तार की शक्ति प्राप्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति।

इसी समय साथ-साथ कुछ ऐसे भी साक्ष्य मिलते हैं जिनमें भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व की पुष्टि होती है। एक स्थल पर मनु[30] द्वारा व्यक्त किये गये विचार से प्रतीत होता है कि वह भी कुछ अंशो में व्यक्तिगत स्वामित्व के समर्थक थे। वह लिखते हैं कि, "पुराविद् लोग इस पृथ्वी को पृथु की भार्या मानते हैं। खुत्थ (ठूठ पेड) काटकर (भूमि को समतल करके) खेत बनाने वाले का खेत मानते है और पहले बाण मरने वाले का मृग।'' मनु के एक श्लोक पर भाष्य करते हुए मेधातिथि[31] ने व्यक्तिगत भूस्वामित्व का समर्थन किया है। देशोपदेश[32] में उल्लिखित है कि एक कृर्पण के पास पत्नी, द्रव्य, गृह और भूमि सम्पत्ति के रूप में थी, जिसे दूसरे उपयोग करते थे। वंशानुगत भूमि-सम्पत्ति का उल्लेख सुभाषितरत्नकोश[33] में भी है। राजतंरगिणी[14] में ऐसा उदाहारण मिलता है जिसमें एक व्यक्ति को एक सहृदय राजा भूमि के टुकडे की क्षतिपूर्ति में धन देता है। किन्तु यह परिस्थिति क्षेत्र-क्षेत्र में परिवर्तित थी।

व्यक्तिगत भूस्वामित्व के सिद्धान्त में मुख्य रूप से यह तथ्य निहित था कि भूमि पर व्यक्ति विशेष का अधिकार माना जाए न कि सामंतो का जिनके अधिकार क्षेत्र में भूमि सम्मिलित मानी जाती थी। इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के बारे में द्वयाश्रय के टीकाकार अभ्यतिलकगानी, नीलकण्ठ के व्यवहारमयूख, श्रीनाथतारकालंकार की दायभाग पर टीका से भी पता चलता है कि भौमिक (भूमि के स्वामी) भूमि का वास्तविक

अधिकारी है, और राजा सम्पत्ति के शांतिपूर्वक उपभोग की सुरक्षा के बदले मे कर लेने का अधिकार रखता है।[35]

इस तरह के कृषको के भी कई वर्गों का पता चलता है। मध्यम कृषक शक्ति एकत्र करके धनी सम्पत्तिधारी कृषक बन गये थे जबकि निम्न या कमजोर कृषक कर की अधिकता से और निर्धन होते जा रहे थे। जिनसेन के आदिपुराण[36] में ऐसे गांवो को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। राजतरंगिणी में भी ऐसे उद्धरण मिलते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामंतो के वशक्रम की उपस्थिति से भूमिधारी सत्ताधारी शासक वर्ग से सामान्य कृषक के भूमि अधिकार प्रभावित हो रहे थे।

पूर्वमध्यकाल में भूमि का स्वामित्व पूर्णतया किसके पक्ष मे था, यह स्पष्टरूप से कहना संभव नहीं है। यू0एन0 घोषाल[38] का कहना है कि मेधातिथि सम्पत्ति के बारे में परस्पर दो विरोधी विचार रखते हैं। एक स्थान[39] पर वह राजा को भूमि का प्रभु कहते हैं जबकि दूसरी जगह[40] कहते है कि भूमि उसकी होती है जो इसे साफ करके कृषि योग्य बनाता है। आर0सी0पी0 सिंह भी यह मत रखते हैं कि मेधातिथि (मनु0 8 39,99) के विचारों में विरोध दिखता है। प्रथम कथन के अनुसार राजकीय विचार दिखता है जबकि दूसरा भूमि पर सम्मिलित अधिकार प्रस्तुत करता है। किन्तु साथ ही सिंह यह भी कहते हैं कि यदि मेधातिथि के मस्तिष्क मे सम्मिलित अधिकार की बात होती तो इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते। मुख्यत: मेधातिथि व्यवहारिक रूप से भूमि राजा के स्वामित्व को स्वीकार करते हैं।

लल्लन जी गोपाल[41] का मत है कि मेधातिथि स्पष्ट रूप से भूमि पर व्यक्ति विशेष के अधिकार का समर्थन करते हैं यह अनेक उद्धरणों से स्पष्ट होता है जिनमें भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार दान में देता है। इनमें से कुछ पर वह स्पष्ट रूप से भूमि या क्षेत्र को खेती योग्य भूमि बताते हैं। (धान्यम् भवन् भूमि:)।

मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[42] (8 39) के विचार भूमि के स्वामित्व के प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं है। साधारण तथ्य के लिए यह आवश्यक है इसमें केवल पृथ्वी में गडे हुए धन पर राजा का हिस्सा मांगने को न्यायोचित ठहराने की बहस की मात्र द्वितीय पंक्ति है

कि राजा जो सुरक्षा प्रदान करता है उसके बदले में अपना हिस्सा मांगता है। जब मेधातिथि राजा को प्रभु एव भूमि को उससे संबंधित मानते हैं तब उनका तात्पर्य राज्य की खेती योग्य भूमि पर अपना अधिकार जताना कदापि नहीं है। यह केवल राजा की सम्प्रभुत्ता दिखाता है जो राज्य की सभी चीजों पर होती है जैसे भूमि, खेती योग्य भूमि, चारागाह इत्यादि ।

मनुस्मृति 8[43] 99, जहॉ पर भूस्वामित्व के प्रश्न पर विचार प्रकट किया गया है वहॉ मेधातिथि व्यक्तिगत भूस्वामित्व स्वीकार करते है। जबकि आर0सी0पी0 सिंह उन्हीं टीकाओं से निष्कर्ष निकालते हैं कि मेधातिथि व्यक्तिगत स्वामित्व को अस्वीकार करते हुए सामूहिक सम्पत्ति का विचार स्थापित करते हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में भूस्वामित्व का प्रश्न काफी जटिल था, जिसका स्पष्ट उत्तर संभव नहीं है फिर भी ज्यादातर विचारकों का मत है कि इस काल में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व तो था ही किन्तु सामंत या जमींदार भौमिक को उसकी भूमि सहित दूसरे को अनुदान में दे सकता था, इन सबसे ऊपर सर्वोच्च शासक की सम्प्रभुता थी जिसका सबके ऊपर सर्वोच्च अधिकार था।

कृषि

उपलब्ध साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यों से पता चलता है कि इस काल में भी कृषि ही लोगो का मुख्य पेशा था जिसे वह भैंस एंव बैलों की सहायता से करते थे। इस काल में लोग हल एंव कुदाल के साथ कठोर मेहनत करते थे[44]। लेकिन कृषि का सारा उत्पाद वर्षा पर निर्भर था[45]। गंगा एंव ब्रह्मपुत्र का दोआब सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्र माना जाता था[46] कुछ बंजर भूमि भी थी। अल इद्रीसी बताता है कि 'देवल की भूमि उपजाऊ नहीं थी, यहॉ पर केवल खजूर के पेड के अतिरिक्त कुछ भी नहीं उगता था। जो ऊँची भूमि थी वह शुष्क थी और समतल अनुपजाऊ थी[47] कुछ भूमि का नाम अपकृष्ट भूमि[48] (कमतर भूमि) एंव अवस्कर[49] था। इन भूमियों पर कृषि नहीं होती थी।

प्राचीनकाल से ही मौसम की परिस्थितियाँ एंव उत्पादकता के अनुसार भूमि का वर्गीकरण किया गया था[50]। एक चंदेल अनुदानपत्र[51] से पता चलता है कि इस काल में भूमि नापी जा सकती थी[52], एंव उसकी

बाह्य रेखा सुनिश्चित की जाती थी, इसके साथ ही साथ भूमि की बीज क्षमता का भी आकलन किया जाता था।

प्राचीनकाल से ही भारतवासी कृषि के क्रमवार[53] उगाने से परिचित थे इसकाल में भी इस तथ्य से सम्बन्धित साक्ष्य मिलते हैं[54] अर्थशास्त्र[55], बृहत्संहिता[56], अग्निपुराण[57], सारगधारा की उपवन विनोद[58] से इससे खाद के ज्ञान के बारे में साक्ष्य मिलते है। पराशर के कृषिसग्रह में कृषि के औजारो के बारे में विस्तृत उल्लेख मिलता है[59] किन्तु इस पुस्तक के काल के बारे में कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता। प्राचीन बंगाली साहित्य में[60] में हल, आरी, फावडे, कुदाल, लकडी, सूप इत्यादि सामान्य कृषि के औजारों का उल्लेख मिलता है जिन्हें गांव के लुहार एंव बढई निर्मित करते थे। हेमचन्द्र के द्वयाश्रय की एक पंक्ति में लोहे के हल का उल्लेख मिलता है[61]। पूर्वमध्यकाल के कुछ साक्ष्यों मे हल में दो से अधिक बैल जोतेने का संकेत मिलता है[62]। किन्तु कहॉ तक यह मध्यकालीन यूरोप[63] की तरह जुताई के लिए भारी हल का प्रयोग करते थे, या गहरी जुताई करना चाहते थे जिससे उत्पाद ज्यादा हो इससे संबंधित कोई साक्ष्य नही प्राप्त है। कृषि का यह पेशा इस काल के उन्नत लौह उद्योग[64] से कुछ सहायता पाता था या नहीं यह भी निश्चित रूप से कहना संभव नही है। कृषि का कार्य पीढी दर पीढी भारत मे चलता आ रहा था।

सिंचाई एंव सूखा

कृषि पूर्ण रूप से सिंचाई पर निर्भर करती है। राजा से यह आशा रखी जाती थी कि वह उपजयोग्य भूमि के लिए नहरों एव तालाबों का उत्खनन करवाये, जिससे कि उत्पादकता में वृद्धि हो। अपराजितपृच्छा[65] में सिंचाई के पारम्पारिक साधनो जैसे नहर, नदी, कुएँ, नलकूप[66], अरहट्ट, तालाब एंव नदियों के बांधों का उल्लेख मिलता है।राजस्थान एव गुजरात के कई अभिलेखों में अरघट्ट या अरहट्ट के संदर्भ मिलते हैं। राजतरंगिणी में एक इंजिनियर सूया का उल्लेख मिलता है जिसने सिंचाई के उद्देश्य से नहरों का निर्माण किया था। कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मन ने भी सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करने में रूचि दिखाई[70]। कश्मीर के नरेश हर्ष ने विशाल पम्पा झील बनवाई[71]। मेरूतुंग उल्लेख करते हैं कि राजा कर्ण ने 'कर्णसागर' नामकी प्रसिद्ध झील बनवाई।[72] चंदेल राजाओं ने भी कुएँ, तालाब एंव झील खुदवाकर सिंचाई की सुविधा प्रदान की।[73]

राजा यशोवर्मन ने एक टीले का निर्माण करवाकर नदी के बहाव को दूसरी तरफ करने का प्रयास किया था।[74] अभिलेखीय साक्ष्यों मे सिंचाई के साधनों मे फारसी पहिए (अरहट्ट) एंव चमडे की बाल्टी का उल्लेख किया गया है।[75] राजा एव सामंत सिंचाई के साधनो की सुविधा प्रदान करने में रूचि रखते थे।[76] किन्तु इसके साथ ही व्यक्तिगत रूप से भी तालाब का निर्माण करवाया जाता था।[77] कई बार तो ऐसे उद्धरण मिले हैं कि कई व्यक्तियो के सहयोग से तालाब, कुएँ एंव नहरों की खुदाई करवाई गई।[78]

अपराजित पृच्छा[79] में दस प्रकार के कुओं का वर्णन मिलता है। कूपिका या छोटे कुएं को दो भागो में बांटा गया त्रिहस्त द्विहस्त। वापियों एंव कुण्डों के चार प्रकार पाये जाते थे जबकि तालाब तीन प्रकार के थे। शुक्रनीतिसार[80] में भी तालाब, नहरों, कुओं एंव नदियो का संदर्भ मिलता है। शुक्रनीतिसार से यह भी पता चलता है कि उपज योग्य भूमि का कर उसकी सिंचाई क्षमता पर भी निर्भर करता है।[81]

अकाल महामारी[82] को हमेशा भयानक तरीके से चित्रित किया गया है। सचार के साधनों के अभाव के कारण अकाल एंव सूखे की स्थिति और बिगड जाती थी जिससे लोगो को भीषण हानि एंव परेशानी का सामना करना पडता था। अपराजितपृच्छा[83] में अकाल के समय की कठिनाइयों का सजीव चित्रण प्राप्त होता है। इससे पता चलता है कि अकाल पीडित प्रदेशों में धर्म नीचे गिर जाता है, राजा और उसके प्रजागण समाप्त हो जाते हैं। कभी-कभी राजा अकाल की कठिनाइयों को कम करने का प्रयत्न करते थे।[84] अपराजितपृच्छा[85] मे दिया है कि राजा को सिंचाई की सुविधाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिससे कि अकाल से बचा जा सके। पूर्वमध्यकाल के अपभ्रंश कवियों[86] ने सूखे को अपनी रचनाओं में विशेष स्थान दिया है। वृहन्नारदीयपुराण[87] से पता चलता है कि कभी-कभी आकाल की स्थिति में सारी जनता किसी दूसरे स्थान के लिए पलायन कर देती थी।

उपज

उत्तरभारत की सामान्य फसलें व्रीहि (चावल) यव (जौ), गौधूम (गेहूँ), दालें जैसे-मूंग, मसूर, उडद, तिल, चामनक, प्रियगु (केसर) कोद्रार, सालि, अधक, कुल्थक, कल्या, कांगनी, सना एंव तेल

के बीज जैसे तिल, सरसो, धनिया, जीरा, कपास इत्यादि अपनी आजीविका के लिए उगाते थे।[88] सत्रह प्रकार के अन्नो का उल्लेख मेधातिथि ने किया है।[89]

चावल

प्राचीनकाल से ही चावल भारत की एक प्रमुख उपज थी। हमेचन्द्र के द्वयाश्रयकाव्य[90], देसीनाममाला[91] एव मानसोल्लास[92] में विभिन्न प्रकार के उल्लेख मिलता है। सुनयापुराण[93] के अनुसार बंगाल में पचास से अधिक किस्म के चावल उगाये जाते थे। राजतरंगिणी[94] मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि यह कश्मीर की घाटी के लोगो का मुख्य खाद्य था। असम नरेश बलवर्मन के नवगाव कास्य अभिलेख[95] से पता चलता है कि असम क्षेत्र मे चावल का उत्पादन बहुतायत से होता था। मानसोल्लास[96] में बंग के चावल की प्रशंसा की गई है। याज्ञवल्क्य के ऊपर टीका करते हुए अपरार्क[97] मगध को चावल के उत्पादन में धनी देश के रूप में चित्रित करते है। मुस्लिम यात्रियो के विवरण[98] से पता चलता है कि फामल, सिन्डन, सायमस एव कैम्बे मे भी चावल पैदा होता था।

गेहूँ, दाल एंव अन्य अनाज

अभिलेखीय साक्ष्यों से पता चलता है कि गेहूँ पंजाब एंव मध्यप्रदेश में पैदा होने वाली दूसरी मुख्य फसल थी।[99] जो साधारणतया उत्तरभारत के सभी भागों में पैदा होता था।[101] दालों के अर्न्तगत-मसूर, मटर आढक, कुल्था, मूंग, उडद, अरहर का उत्पादन किया जाता था।[101]

ईख एंव कपास के अतिरिक्त देश में अन्य व्यापारिक फसलें भी थीं[102]। गन्ने का उत्पादन यमुना एंव नर्मदा के मध्य के क्षेत्र पर किया जाता था।[103] राजशेखर उल्लेख करते हैं कि पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल) में गन्ने की पैदावार होती थी।[104] कश्मीर मे भी गन्ना पैदा होता था।[105] इस काल के साहित्य में एक ऐसे यन्त्र का उल्लेख मिलता है जिसमें गन्ने की पिसाई की जाती थी।[106] कपास बंगाल और गुजरात में पैदा होता था।[107]

अन्य- कृषि उत्पादों में, जोकि विशषतौर पर बंगाल में उगाये जाते थे उनमें कपूर, अगरू[108], घोषत्रशा (चंदन की एक किस्म)[109] पान

एव सुपारी[110] फल जैसे आम, मधूक, नारियल, कटहल[111], अखरोट, अंगूर, नीबू, इत्यादि थे।[112] उत्तर भारत मे मसाले जैसे हल्दी, अदरक, जीरा, कालीमिर्च, धनिया, हीग का उत्पादन होता था।[113]

त्रिषष्ठीशलाकापुरूषचरित[114] में सत्रह प्रकार के अनाजों का उल्लेख है। अभिधानचिंतामणि[115] पर टीका करते हुए हेमचन्द्र ने 17 प्रकार[116] के धान्यों का उल्लेख किया जिनमें तिल एंव जूट भी सम्मिलित है: (1) व्रीहि (चावल) (2)यव (जौ) (3) मसूर (4) गोधूम (गेहूँ) (5) मूंग (6) माष या उडद (7) तिल (8) चनक (9) ज्वार (10) प्रियंगु (11)कोद्रव (12) मयूष्ठक (मोठ) (13) सालि (चावल की एक किस्म) (14) आढक (15) कल्या (मटर) (16) कुल्था (चना) (17) सन (जूट)

उद्योग धन्धे

गुप्तकाल के पतन के बाद, सामतवाद के विकास के साथ ही साथ आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्व बढ गया, जिससे इस पर आश्रित शूद्र किसानों का महत्व काफी बढ गया था। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है[117] कि कैसे समकालीन कानून की पुस्तकों एंव पुराणों में जोकि पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भिक चरण से सम्बद्ध थी, शूद्रों का मुख्य पेशा द्विजशुश्रुषा के साथ-साथ कृषि को भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता कि क्या शूद्र अपना कृषि का नियमित पेशा छोडकर कारीगरी के कार्य करते रहे होगें। किन्तु सामन्तों के बढ़ते शासन में विभिन्न उपभोग की वस्तुओं की मांग बढी और इस काल में आतंरिक एंव बाह्य व्यापार कम हो रहा था।[118] जिससे छोटे उद्योग की वस्तुओं का बाजार सीमित होकर क्षेत्रीय हो गया। यद्यपि साक्ष्यों से साफ पता चलता है कि शूद्रो ने अपना कारीगरी का पेशा भी निरन्तर चला रखा था। कुछ शूद्र अपने आनुवंशिक पेशो को चला रहे थे,इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की गुणवत्ता अच्छी थी, किन्तु उत्पाद की मात्रा कम हो गई थी, क्योंकि इस समय की परिस्थिति मे स्थानीय एंव क्षेत्रीय आवश्यकताओ की ही पूर्ति हो पा रही थी। स्कन्द पुराण[119] के साक्ष्य से पता चलता है कि यहाँ तक कि वैश्यों के वर्ग ने शिल्प एंव कला का कार्य अपना लिया था जैसे तेल निकालने का, चावल साफ करने का, जाकि केवल स्थानीय प्रयोगों के लिए ही थे। किन्तु ग्याहवीं शती तक आते-आते स्थिति में पुन: बदलाव आया। शूद्रों के द्वारा अपनाये गये कृषि

पेशे के साथ-साथ इसकाल मे शिल्प एव उद्योग धन्धो को पुन· शूद्रों का पेशा माना गया। 11वीं शती की भोज लिखित समरागणसूत्रधार[120] मे लिखा है कि द्विजशुश्रूषा, पशुओ को चराने के साथ-साथ शिल्प इत्यादि-शूद्रो का कार्य है। लक्ष्मीधर ने अपने गृहस्थखण्ड[121] में प्राचीन धर्मशास्त्रकारों जैसे मनु एंव गौतम का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया कि शूद्रों को शिल्प एंव कारीगरी के कार्य भी करने चाहिए।

11वी एंव 12वी शताब्दी तक आते-आते शिल्पों एंव उद्योग की स्थिति में सुधार हुआ, उन्हे समाज की अर्थव्यवस्था में पुन: स्थान मिला, जिससे कि आन्तरिक एव बाह्य व्यापार में भी उन्नति हुई, जोकि इस काल के सम्पन्न होते हुए शहरो से सिद्ध होता है इस काल के प्रमुख उद्योगों का विस्तृत विवरण महाराजा भोज के युक्तिकल्पतरू से प्राप्त होता है, जबकि धातु उद्योग के बारे में विवरण रसारत्नसामुच्च से प्राप्त होता है जोकि 12वीं शती के अंत या 13वी शती में लिखी गई है। जयदेव की कविता चर्यापद से तथा इसी प्रकार अन्य कविताओं से तत्कालीन उद्योगों के ऊपर प्रकाश पडता है। भुनेश्वर, पुरी, खजुराहों के मंदिर एंव स्थापत्य कला को देखने से तत्कालीन उच्चस्तर की इंजिनिरिंग बुद्धिमत्ता का अंदाजा लगाया जा सकता है। इस काल के प्रमुख उद्योग इस प्रकार से हैं।

वस्त्र उद्योग

भारत का वस्त्र उद्योग प्राचीनकाल से उन्नत स्थिति में रहा है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र[122] मे इसका उल्लेख मिलता है। 9वीं शताब्दी का अरब व्यापारी सुलेमान बंगाल के कपडे की गुणवत्ता की बहुत तारीफ करता है,''यह इतना उत्कृष्ट एव मुलायम है कि इस कपड़े से बना वस्त्र उंगली में पहनने वाली अंगूठी से पार हो जाये।[123] आगे वह कहता है कि यह सूती कपडे से बना था और उसने स्वयं उस कपड़े का टुकडा देखा था।[124] 10वी शताब्दी में इब्न खुर्दादबा भी बंगाल के वस्त्र की उत्कृष्टता की प्रशंसा करता है।[125] कल्हण की राजतरंगिणी में भी कश्मीर के राजा हर्ष के दरबार में दरबारियों को विविध रंगों एंव ढंगों के कपड़े में बताया गया है।[126] जिससे कि यहॉ भी इस काल के उन्नत वस्त्र उद्योग का आभास मिलता है 13वीं शती के यात्री मार्को पोलो ने भी वस्त्र उद्योग को उन्नत स्थिति में पाया और उसने बंगाल को सूती वस्त्र

उद्योग का केन्द्र बताया है।[127] 12वी शताब्दी में भारत मे वस्त्र उद्योग के केन्द्र मानसोल्लास[128] मे इस प्रकार उद्धत है - (1) मूलस्थान (मुल्तान) (2) अन्हिलवाड (अहिलपट्नम) (3) बग (बंगाल) (4) पोन्द्दालपुर (पैठान) (5) चिरापल्ली (6) नागपट्टम (7) चोलदेस (8) तोडीदेश (9) पंचापट्टनम् (10) कलिगदेश (11) अलिकाकुल (चिकाकोल)। विदेशी यात्रियों[129] के विवरण से भी पता चलता है कि वस्त्र उद्योग में बगाल की स्थिति काफी अच्छी थी। मध्यभारत के एक अभिलेख[130] से पता चलता है कि बंगाल का लाल रंग जोकि एक पेड की जड से बनाया जाता था, यहॉ के बाजारों में काफी प्रसिद्ध था। लेखपद्धति[131] के एक उद्धरण से पता चलता है कि योगिनीपुरा अपनी चुनरियो के लिए प्रसिद्ध था। संदेस रासक के रचयिता अब्दुल रहमान जोकि मूलस्थान या मुल्तान था, भी एक बुनकर था।[132]

धातु उद्योग

साहित्यिक एंव पुरातात्विक साक्ष्यों से इस काल के विकसित लौह उद्योग का पता चलता है। रसारत्नसामुच्च[133] में लोहे का वर्गीकरण उनकी विशेषताओं के आधार पर इतनी बारीकी से किया गया है जिससे तत्कालीन समाज मे लोहे की सूक्ष्म जानकारियो, स्टील एंव विकसित धातु उद्योग के बारे में पता चलता है।[134] 12वीं शती की रर्सानिव[135] मे लोहे की भस्म बनाने की विधि दी है।

लम्बी बीम के निर्माण के पुरातात्विक साक्ष्यों से उच्च स्तर की तकनीक का पता चलता है। पुरी के गुडुचाबरी में 6X4 या 5X6 की 17 फीट लम्बी लगभग 239 बीम प्राप्त है।[136] कोर्णाक मंदिर के द्वार[137] में 29 बीम लगी हैं जिसमे से सबसे बडी 35 फीट लम्बी है और 7X7½ इंच आयताकार है जिसका वजन 6000 पौण्ड है।

युद्ध के औजार जैसे-तलवार, ढाल, स्र पर पहनने के कवच इत्यादि बडे पैमाने पर बनाये जाते है। उत्बी अपनी तारीख-ए-यामीनी[138] में बताता है कि आनन्दपाल के पुत्र ब्राह्मणपाल के सैनिक सफेद तलवार और नीले भाले और पीले कवच का प्रयोग करते थे। सफेद तलवार उत्कृष्ट प्रकार के स्टील से निर्मित होता था।[138A] जिसके हिलाने पर चमकदार सफेदी या रोशनी की चमक प्रकट होती थी। निजामी[139]

ग्वालियर के सैनिको की भारतीय तलवार का काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत करता है।

सस्कृत साहित्य मे शस्त्र एव औजार बनाने का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है कुछ स्थानो एव क्षेत्रो जैसे बनारस, मगध, नेपाल, सौराष्ट्र और कलिंग अच्छी तलवार के निर्माण मे विशेषज्ञता प्राप्त थी।[140]

13वीं 14वी शताब्दी की सारंगधारा[141] में तलवार निर्माण के विशेष केन्द्रों का विवरण मिलता है जैसे खारीखट्टारा, रसी, वंग, सूर्पारक, विदेह, मध्यमार्गम, विदिशा, साहाग्राम और कालिजर। 11वी शताब्दी में भोज[142] बताते हैं कि मगध की तलवार खराब थी और अग की हल्की, किन्तु गन्दी व खराब धार की थी।[143] सारंगधारा के दिनों मे अग की तलवार अपनी ताकत धार और अच्छी हैडल के लिए प्रसिद्ध थी।[144]

युद्ध के अन्य औजारो जैसे तीर, धनुष, अर्द्धचन्द्रनारका, परसु इत्यादि का निर्माण लोहे से होता है।[145] लोहे के नटबोल्ट[146], लौह गलाने के लोहे के पात्र, पानी के बर्तन और अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुएं लोहे से निर्मित होती हैं[147] बाग्भट्ट ने उत्कृष्ट एंव टिकाऊ लोहे गलाने के पात्र बनाने की विस्तृत विधि दी है।[148]

स्वर्ण उद्योग

इस काल में स्वर्ण उद्योग भी विकसित अवस्था मे था। तबकाते-ए- नासिरी[149] से पता चलता है कि बंगाल के लक्ष्मणसेन के महल मे सोने और चांदी के बर्तन थे। समाज में स्वर्णकारी के पेशे को उच्च स्थान प्राप्त था। क्षेमेन्द्र ने अपने कलाविलास[150] के आठ खण्ड सुनारों के ऊपर व्यंग करने में लगा दिये हैं, उनके अनुसार सुनार 64 कलायें जानते हैं 6 कला घिसने की, 12 घूमने की, 11 छल करने के नये तरीकों की, 5 तौलने की इत्यादि। तत्कालीन मंदिरों की मूर्तियों में उकेरे गहनों से पता चलता है कि काफी बारीकी से स्वर्णकारी का कार्य होता था। गुप्त एंव गुप्तोत्तरकाल की कास्य एंव अन्य मिश्रित धातुओं से निर्मित मूर्तियों से तत्कालीन समाज में तांबा एंव कास्य उद्योग की विकसित अवस्था का पता चलता है।[151] मूर्ति बनाने वाले लोग रूप्यकार[152] और पीतल का कार्य करने वाले लोग पीतलकार[153] कहलाते थे। साहित्यिक साक्ष्यों जैसे- सन्ध्याकरनन्दी रामचरित्र[154], नैषधचरित[155] से गहनों की कला एंव कीमती (बहुमूल्य) पत्थरों के ऊपर प्रकाश पडता है। रसरत्नासामुच्च

का लेखक इस तथ्य को जानता था कि उत्कृष्ट स्तर का तांबा नेपाल से मगाया जाता था। पेरिप्लस[156] के काल 75 ई0 मे यह भडौच से निर्यात् किया जाता था जबकि मार्कोपोलो[157] के समय मे यह थाना के बदरगाह से आयात किया जाने लगा था।

चमड़ा उद्योग

मार्कोपोलो[158] आश्चर्य से गुजरात के चमडे के उद्योग के बारे मे बताता है कि जोकि 12 वी शताब्दी मे खूब फलफूल रहा था। विभिन्न प्रकार की खाले जैसे बकरी की खाल, भैस की खाल, जंगली बैलो की खालों का प्रयोग होता था। इस काल में लोग लाल एंव नीले रंग के चमडे से दरियॉ बनाते थे जिनपर बहुत खूबसूरत पक्षी एंव जानवरों के चित्र एंव सोने एंव चांदी के बारीक तार की कढ़ाई होती थी। जिसको सारासेन मुस्लिम लोग सोने के लिए प्रयोग मे लाते थे। चमडे के जूते सबसे ज्यादा प्रचलित एव सामान्य जनता तक पहॅुचने वाले चमडे के उत्पाद थे।[159]

पत्थर एंव लकड़ी पर काम

मंदिर निर्माण[160] के कार्यकलाप से इस काल के पत्थर उद्योग के विकसित होने का आभास मिलता है। माउण्ट आबू के कुछ संगमरमर के मंदिरों को देखने से पता चलता है कि उस काल में कितना उत्कृष्ट संगमरमर का कार्य होता था। विभिन्न प्रकार की काली ग्रेनाइट की मूर्तियां एंव अन्य पत्थर के कार्य दिखाई पड़ते हैं। अपराजितपृच्छा[161] एव अन्य वास्तुकी के साक्ष्यों से पता चलता है कि इस प्रकार का कार्य करने वाले कारीगर प्रत्येक शहर में बसते थे।

गुजरात में मकान के सामने के हिस्से की[162] सजावट बारीक लकडी की नक्काशी से की जाती थी। ढाका के संग्रहालय[163] मे रखी लकडी की मूर्तियों से उनके कारीगरों की गुणवत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। इन सब के अतिरिक्त रोजमर्रा के प्रयोग की वस्तुएं भी लकड़ी की बनाई जाती थीं।

मृत्तिका उद्योग

कुम्भकारी एंव मिट्टी की मूर्तियॉ बनाना प्राचीनकाल से ही मृतिका उद्योग के अंग रहे हैं। नैषधचरित[164] में कुम्भकारी कला का संदर्भ

मिलता है। इस काल मे एक अभिलेख[165] मे कुम्भारों पर लगाये जाने वाले कर का उल्लेख मिलता है। अहिच्छत्र के उत्खनन[166] ने प्राचीनकाल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक की मूर्तियॉ एव दैनिक प्रयोग के बर्तन प्राप्त है जैसे स्याही का पात्र, लैम्प, प्लेट, खाना पकाने के बर्तन, लोटा इत्यादि। ढाका के संग्रहालय मे इस काल के मृत्तिका से बने पात्र एंव मूर्तियॉ रखी हुई हैं।[167]

चीनी उद्योग

बगाल अपने गन्ने के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था। मध्यभारत, कश्मीर और राजपूताना मे भी गन्ने की अच्छी फसल होती थी। बंगाल और दक्षिणभारत मे चीनी का निर्माण किया जाता था। बगाल मे बहुत बडी मात्रा में चीनी का उत्पादन होता था। 16वी शती के पुर्तगाली यात्री बारबोसा[168] के अनुसार बगाल दक्षिण भारत से चीनी की अन्य क्षेत्रों जैसे लका अरब और फारस मे आपूर्ति के लिए होड़ कर रहा था।

रंगाई एंव छपाई

वैदिक काल से ही वस्त्रों की रगाई एक फलता फूलता व्यापार था। विक्रमांकदेवचरित[169] से पता चलता है कि प्राथमिक रंग सफेद, लाल, पीला, नीला, हरा और काले थे। लाल और पीला रंग विजय का प्रतीक था।[170] रंगाई में कौशुम्भ (केसर के फूल) से बहुत सुन्दर नारंगी रंग बनाया जाता था, जिसका प्रयोग सिल्क की रंगाई में होता था। कुल्लूकभट्ट[171] के अनुसार लाल रंग के लिए लाख, मजीठ और केसर से कुमकुम का प्रयोग किया जाता था। पीले रंग के लिए पलाश का प्रयोग किया जाता था।[172]

इस काल की मूर्तियो के कपडों पर फूल, पत्ती एंव अन्य नमूनों की छपाई देखने को मिलती है। साहित्यिक साक्ष्यों में छपाई किये गये वस्त्र को 'चित्रवस्त्र' कहा गया है।[173]

नौका निर्माण

बंगाल एंव कश्मीर में नौका निर्माण का कार्य खूब उन्नति कर रहा था।[174] कल्हण ने कश्मीर की घाटी में नाव द्वारा यात्रा के प्रचलन का वर्णन किया है।[175] अलमसूदी बताता है कि लकड़ी के बडे-बड़े

नाव को कीलो से जोडने के बजाये फाइबर से सिला जाता था।[176] भोज के युक्तिकल्पतरू से नौका निर्माण की आवश्यक सामग्री एंव विभिन्न प्रकार की नावो की विशेषताओ के बारे मे जानकारी मिलती है।[177] समकालीन साहित्य से युद्ध मे नौका के महत्व के बारे मे पता चलता है। रामचरित्र की टीका, वैद्यादेव के कमौली लेख से पता चलता है कि पाल सेना द्वारा नदियों को पार करने एंव नौसेना का उल्लेख मिलता है।[178] विजयसेन के विजय अभियान में नौका का प्रयोग हुआ था।[179] ऐसा प्रतीत होता है कि 1026 A.D. में सुल्तान महमूद जाटों को 1400 युद्ध पोतों के कारण ही हरा पाया था।[180]

राजगीर एंव वस्तुकार

पूर्वमध्यकाल के उत्तरभारत में यत्रतत्र बिखरे हुए विभिन्न प्रकार के निर्माण के उदाहरणो जैसे मंदिर एव अन्य इमारत से इस काल मे वास्तुकारों एव राजगीरो का उच्चकोटि की प्रतिभा का पता चलता है।[181] अलइद्रीसी बताता है कि मनसुरा मे मकान का निर्माण ईट, टाइल से किया जाता था और उस पर प्लास्टर किया जाता था।[182] महापुराण से पता चलता है कि इस काल में एक विशेषज्ञ राजगीर था जिसे सिलावतरत्न (इन्जिनियर) की उपाधि मिली थी, उसने बहुत सी सुन्दर इमारतों का निर्माण किया था।[183]

मदिरा उद्योग

इस काल में भी मदिरा काफी प्रचलित एंव लोकप्रिय पेय था, जिससे इसका उद्योग भी खूब फलफूल रहा था। विभिन्न प्रकार की मदिरा बनाई जाती थी।[184] शराब मुख्यतः अनाजों, मधूक पुष्प, ब्रेड फल, अंगूर, खजूर गन्ने, शहद एंव नारियल से बनाई जाती है।[185] मेधातिथि भी ऐसा ही उल्लेख करते हैं।[186]

कांच उद्योग

भारत में कांच का प्रयोग शुश्रुत के काल के इतना पुराना है जिन्होने कहा था कि तरल एंव मदिरा को कांच के पात्र में परोसना चाहिए। 12वीं-13वी शताब्दी के साहित्य में कांच के कई संदर्भ मिलते हैं जैसे रसार्नव में कांच कूपी अर्थात् काच की बोतल का उल्लेख है 13वीं शताब्दी की यशोधर की रसप्रकाशसुधाकर[187] एंव नित्यनाथ सिद्ध की

रसारत्नकार[188] मे विभिन्न प्रकार के काच के पात्रों का उल्लेख मिलता है। रसारत्नसामुच्च[189] में भी काच के बर्तन का वालूकयान्त्रम[190] कहा गया है।

अन्य उद्योग, कला एंव शिल्प

हाथी दांत का कार्य:

अपराजित पृच्छा[191] में इसे एक उद्योग के रूप में वर्णित किया गया है। बंगाल के कुछ अभिलेखों में नमक उद्योग का उल्लेख मिलता है। गहडवाल, चंदेल एंव त्रिपुरी के कलचुरि के अभिलेखो में नमक के अर्थात लवणकारों का सदर्भ मिलता है। क्षेमेन्द्र के समयमातृक में नमक उद्योग के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि नमक उद्योग उत्तरी नमक की पहाड़ियों में फलफूल रहा था।[192]

अन्य शिल्प जैसे फूलों की माला बनाने वाले, रंगाई करने वाले, तैलिक, धोबी, नाई, मछुवारे इत्यादि का उल्लेख इस काल के साहित्य में मिलता है।[193]

श्रेणी:

प्राचीन काल मे शिल्प एव वाणिज्यिक संगठनों की एक मुख्य विशेषता थी कि यह व्यवसायिक वर्गीकरण पर आधारित थे जिनका निर्माण सहकारी समूहों जैसे श्रेणी या गिल्ड से हुआ था। श्रेणी संघों के निर्माण का इतिहास गुप्तकाल से प्रारम्भ होता है और यह पूर्वमध्यकाल तक यथावत चलता रहा।

मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि बताते हैं कि औद्योगिक एंव व्यापारिक श्रेणियां पृथक-पृथक थीं जिन्हे क्रमश. श्रेणी और गण या सघ कहा जाता था। वह इन दोनों में अन्तर बताते हुए कहते है कि श्रेणी के सदस्द व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र होकर कार्यकर सकते थे जबकि गण के सदस्य सामूहिक रूप से[194]। वह आगे बताता है कि श्रेणी विभिन्न प्रकार के सामान्य कार्य करने वालों का समूह था जैसे कारीगर, व्यापारी, महाजन इत्यादि।[195] इस काल के साहित्यिक एंव अभिलेखीय प्रमाणों में विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख मिलता है जैसे-तैलिक, तमौलिक (पान बेचने वाला) कत्लापल (शराब बेचने वाला), मालिक (माला बनाने वाले), महामात्र (हाथी हांकने वाले) पत्थर काटने वाले,

कुम्हार, घोडे के व्यापारी, बुनकर, जूते बनाने वाले, एंव विभिन्न व्यापारियो के सगठन[197]। मेधातिथि बताते है कि विभिन्न प्रकार के व्यापारियो का सगठन 'सघ' कहलाता था, वह परिभाषित करते हुए कहता है कि विभिन्न धर्म एंव जाति से सम्बद्ध लोगों का समूह जो समान धन्धा करते हैं[198]। सघ के समान ही श्रेणी के सदस्य भी विभिन्न जातियों एंव समुदाय के हो सकते हैं किन्तु इनका पेशा आनुवंशिक होता था।[199] याज्ञवल्क्य की व्याख्या करते हुए विज्ञानेश्वर[200] विशेष तौर पर बुनकरों, जूते बनाने वालो, पान वालो की श्रेणी को विभिन्न शिल्पो जैसे बुनकर इत्यादि से सम्बद्ध बताते हैं[201]। अलबरूनी बताता है कि आठ वर्ग के लोग श्रेणी का निर्माण करते थे इनके नाम इस प्रकार हैं-मालाकार, मोची, मदारी, टोकरी बनाने वाले, नौका चलाने वाले, मछुआरे, जंगली जानवर एव पक्षियो के शिकारी, बुनकर[202]। इस काल के साहित्य में तेल निकालने वाले तैलिक[203] एंव मालियो[204] की श्रेणी का उल्लेख मिलता है।

लक्ष्मीधर[205], अपरार्क[206] एव देवण्णभट्ट[207] वृहस्पति के एक अनुच्छेद को उद्धत करते हुए कहते हैं कि श्रेणीगण एक गाव के समूह कुछ निश्चित नियम बनाते हैं। जिनका समूह के सभी सदस्यों को पालन करना पडता था। इस काल के कानूनविद् याज्ञवल्क्य एंव नारद का कहना है कि यह राजा का कर्त्तव्य है कि वह श्रेणी, पूग, नैगम इत्यादि के नियमों को टूटने से बचाये।[208] इससे स्पष्ट है कि श्रेणियों के पास अपने व्यवसाय से सम्बन्धित कानून बनाने के कुछ अधिकार थे। उनके पास कुछ न्यायिक शक्तियाॅ भी थीं। अपरार्क वृहस्पति का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि श्रेणी का प्रमुख अपराध करने वाली की अवहेलना कर सकता था एंव उससे बोलचाल बंद कर सकता था।[209] शुक्रनीतिसार में भी लिखा है कि चोरी एंव लूटमार के अपराधों में दण्ड केवल राजा दे सकता था न कि श्रेणी।[210]

श्रेणियों का संगठन:

श्रेणियों की कार्यविधि को नियमित करने के लिए कुछ निश्चित नियम एंव कानून होते थे। दो, तीन या पाॅच सहायक अधिकारियों का एक बोर्ड नियुक्त किया जाता था, जोकि श्रेणी के कार्य एंव गतिविधियों का निरीक्षण करता था।[211] इन प्रमुखों को श्रेणी की आय

को स्वीकार करने का अधिकार था।[212] मेधातिथि के अनुसार वास्तुकारों, राजगीरो, बढईयो इत्यादि एव जो मिलकर सघ मे कार्य करते है उनकी मजदूरी को इस प्रकार बाटा जाता था कि जिसने ज्यादा मेहनत का कार्य एंव कठिन कार्य किया है उसे ज्यादा हिस्सा मिलना चाहिए। जिसने सरल कार्य किया उसे कम[213] श्रेणियो का अपना स्वरूप काफी बाद तक बना रहा।[214]

राजस्व व्यवस्था:

पूर्वमध्यकाल के साहित्य एव अभिलेखों में कर के लिए विभिन्न प्रकार के शब्दो का प्रयोग मिलता है। 12वी शती के लगभग उत्तर भारत के अभिलेखों मे कर के लिए भागभोगकर, हिरण्य, दसापराध शब्द का उल्लेख मिलता है।

भागभोगकर शब्द का उल्लेख पाल, सेन, चंदेल, गहड़वाल, परमार, चालुक्य इत्यादि समकालीन राजवशों मे मिलता है, जिसको साधारण तौर पर उपज में राजा के अंश[215] के रूप में समझा जा सकता है, या फिर भाग, भोग और कर तीन अलग-अलग करो[216] के रूप में लिया जाता है। आधुनिक इतिहासकारों मे भी 'भागभोगकर' शब्द के अर्थ को लेकर मतभेद है। कीलहार्न[217] इसका अनुवाद उत्पाद के अंश के रूप में करते हैं। यू0एन0 घोषाल[218] भी इसका केवल एक पक्ष देखते है और इसे उपज में राजा के अंश के रूप मे देखते हैं जिसे कि अर्थशास्त्र मे भाग एंव स्मृतियों में बलि कहा गया है। फ्लीट[219] इसे करों के आनन्द के रूप में देखते हैं अल्तेकर[220] इसे भागकर एंव भोगकर में विभाजित कर देते हैं, जिसमें भागकर, भूमिकर था, भोगकर जिसे स्थानीय अधिकारी वस्तुओं के रूप में नित्य प्रतिदिन लेते थे।

बहुधा भोगभागकर के लिए भागभोग कर शब्द का भी प्रयोग किया जाता रहा है। कुछ अभिलेखों में किसानों को भोगभागकर कर ग्रहणकर्ता को देने को कहा गया है, जबकि भूमिअनुदान में गांवों को भागभोग के अधिकार सहित बताया गया है।[221] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्व जो वस्तुओं के रूप में होता था, उसके लिए भागभोग शब्द का प्रयोग किया जाता है। कुछ अभिलेखों में भागभोग उस राशि के लिए प्रयुक्त किया गया है जो ग्रामीण ग्रहणकर्ता को देता है।[222]

भागकर :

साधारणतया इतिहासकार इसे उपज में राजा के हिस्से के रूप मे स्वीकार करते है[223] जोकि क्षेत्र विशेष में भूमि की प्रकृति एंव उत्पादन क्षमता के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकता है। अर्थशास्त्र का उद्धरण देते हुए क्षीरस्वामिन[224] भी इससे सहमत है कि भाग संभवत. कुल उपज का छठा अंश होता है, जो राजा को देना होता है। भट्टस्वामिन[225] ने राज्यभाग के साधारण अर्थ में सदभाग का प्रयोग किया है।

भोगकर:

आर0एस0 त्रिपाठी[226] भोग, भूस्वामी के उस अधिकार को कहते है, जो खेती के बाद खाली पडे खेतों से उत्पन्न हों जैसे लकडी या घास। आर0के0 दीक्षित[227] और ए0के0 मजूमदार[228] भोग शब्द को अष्ठभोग, जोकि साहित्य मे उल्लिखित है, से लेते है। दक्षिण भारतीय अभिलेखों[228A] में भूमि अनुदान और गाव का अष्ठभोग को साथ में उल्लेख हैं, जिसमें आठ सुविधाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जोकि अग्रलिखित है- (1) निधि- गडा हुआ धन (2) निक्षेप-भूमि के नीचे गडा धन (3) जल-जलस्त्रोत (4) पाषण पत्थर, खान (5) अक्सीनी (वास्वतिक सुविधा या वर्तमान लाभ) (6) अगम (भविष्य का लाभ) (7) सिद्ध या सिद्धय खेती योग्य भूमि, (8) साध्य (बिकार भूमि, जो भविष्य मे खेती योग्य हो सकती है। ब्यूहलर के अनुसार, भोग, ''फल, जलाने योग्य लकडी, फूल और गांववासी जो कुछ राजा को देना चाहे'' शब्द को परिभाषित करता हैं। भोग की यह परिभाषा मनुस्मृति[229] एंव उसके टीकाकारों मेधातिथि[230] व कुल्लूकभट्ट[231] से सहमति रखती है।

कर:

भोज के समरांगणसूत्रधार[232], सोमेश्वर के मानसोल्लास[233] एंव कुछ धर्मशास्त्र की टीकाओं में कर को सर्वव्यापक रूप से कर के लिए प्रयुक्त किया गया है। लक्ष्मीधर के गृहस्थखण्ड[234] मे कर शब्द का प्रयोग, कारीगरों एंव कृषको द्वारा, राजा को प्राप्त उपज का अंश जो नकद रूप से प्राप्त होता है के लिए किया गया है चंदेल राजा परमर्दिदेव के एक अभिलेख[235] में इसे अन्य करों के साथ राजा के निश्चित अंश के रूप में बताया है। हेमचन्द्र के द्वयाश्रयकाव्य[236] के टीकाकार अभ्यतिलकगनी ने कर

को भूमिकर के रूप मे उल्लिखित किया है। गुप्त काल में सांमतों द्वारा लगाये जाने वाले सामान्य करो को 'कर' के रूप में जाना जाता था।

किन्तु सभी इतिहासकारो ने एक मूलभूत त्रुटि दोहरायी है, किसी ने भी इसे क्षेत्रीय वैभिन्य की दृष्टि से नही देखा और हमेशा एक सर्वव्यापी अर्थ को खोजने का प्रयत्न करते रहे। यह संभव है कि राज्य या क्षेत्र या समय के अनुसार ये बदल गये हों। इस संबंध में मुनुस्मृति के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[237] के वक्तव्य महत्पूर्ण है जिसमें वह कहते हैं कि विभिन्न देशों में विभिन्न राजकीय देनदारियॉ विभिन्न नामों से जानी जाती हैं।

आर0के0 दीक्षित[238] कर का अर्थ स्थानीय करों से लगाते हैं, किन्तु यह किसी साक्ष्य से प्रमाणित नही है।

शामशास्त्री[239], अर्थशास्त्र में कर का अनुवाद एक स्थान पर राजा एंव अन्य द्वारा दिया गया कर या कर अनुदान के रूप मे करते है। यह तथ्य साहित्यिक साक्ष्यो एंव अभिलेखों से प्रमाणित है कि 'कर' राजा एंव अन्य द्वारा अपने स्वामी को दिया गया कर है। राजतरंगिणी[240] में भी इसका उद्वरण प्राप्त होता है।

किन्तु यह अर्थ भी भूमि अनुदानो के साथ सही नहीं बैठता है क्योंकि इसमें ग्रामवासी ग्रहणकर्त्ता को कर देते हैं। इस काल के साहित्य में कर, बलि, भाग को भूमिकर[241] के लिए प्रयोग किया गया है। इस काल की टीकाओं में 'कर' शब्द का प्रयोग वार्षिक भूमिकर या पाक्षिक कर, जोकि कृषिभूमि पर लगाया जाता है, और राजा के सामान्य उत्पाद अंश जोकि नकद रूप में निश्चित किया जाए, कभी-कभी जैसे सम्पत्ति कर, ज्यादातर दशाओं में यह गॉवों से संबंधित होता है। मेधातिथि[242] इसे किसी वस्तु के शुल्क के रूप में लेते हैं (द्रव्यदानम) लेकिन कुल्लूकभट्ट[243] इसे गाववासियों एंव कस्बेवासियों द्वारा दिये गये कर के रूप में बताते हैं जिसे चाहे प्रतिमाह या भाद्र पक्ष में या पौष पक्ष में दे सकते हैं। अर्थशास्त्र पर टीका करते हुए भट्टस्वामिन 'कर' शब्द की परिभाषा वार्षिक कर के रूप में करते हैं जिसे भाद्रपद या बसंत या अपनी पसंद से चुकाते हैं, अर्थशास्त्र का उद्धरण देते हुए क्षीर स्वामी[244] इसकी व्याख्या सभी चल एंव अचल सम्पत्ति पर लगाये गये शुल्क के रूप में करते हैं। कल्पसूत्र पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि[245] इसकी व्याख्या

सम्पत्ति कर के रूप में करते है कि यह राशि प्रत्येक गाय आदि पर प्रति वर्ष राजा को दी जानी चाहिए।

इतनी परिभाषाओं के बाद यह स्पष्ट है कि 'कर' को केवल भूमिकर के रूप मे नही परिभाषित किया जा सकता है। यह संभव है कि यह एक पाक्षिक कर हो जोकि उपज अश के साथ-साथ ग्रामवासियो के पास जो गाय या भूमि है उसके अनुसार हिसाब लगाकर निश्चित कर दिया जाता हो। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रूद्रदामन के जूनागढ[246] पाषण अभिलेख में उत्कीर्ण है कि 'कर' नियमित भूमिकर का हिस्सा नही है बल्कि विशेष दबावयुक्त कर है जैसे विष्टी (बेगार) और प्रणय (आकस्मिक कर)।

हिरण्य:

इस काल के भूमि अनुदानों में लगभग सब जगह हिरण्य शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्यूलर, शामशास्त्री, मेयर, फ्लीट, आर0डी0 बनर्जी, डी0आर0 भण्डारकर और एन0जी0 मजूमदार ने हिरण्य का अनुवाद 'सोना' के रूप में किया है।[247] जबकि दूसरी तरफ सेनार्ट[248] इसे 'रूपये में कर' कीलहार्न[449] रूपये में भुगतान, वोगल[250] नकद में कर के रूप मे बताते है। एन0सी0 बंदोपाध्याय[251] इसे भण्डार या पूंजी या वार्षिक आय पर लगाये गये कर के रूप मे बताते है। बेनी प्रसाद इसे राज्य के सोने व अन्य खदानों पर अधिकार के रूप में देखते हैं। यू0एन0 घोषाल[252] इसे कुछ विशेष प्रकार की फसलो पर लगने वाले नकद कर के रूप में प्रस्तुत करते है । यह उनकरो से अलग था जो साधारण फसलों पर नकद रूप में लिए जाते थे और इस विचार से आमतौर पर सहमति व्यक्त की गई है।[253] अलबरूनी[254] इसे जनता की सम्पत्ति पर लगाये गये प्रकार के रूप में बताते है। 12वीं सदी के मानसोल्लास[255] में हिरण्य को सोने के भण्डार एंव पशुधन का 1/50 वें भाग में राजा का हिस्सा बताया गया है। गौतमधर्मसूत्र पर टीका करते हुए हरदत्त[256] इसकी व्याख्या महाजनों पर लगाये जाने वाले कर के रूप में करते है।

इस प्रकार विभिन्न परिभाषाओं को देखते हुए किसी एक विचार पर सहमत होना कठिन है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिरण्य एक नकद कर था, जो राजा को जनता द्वारा दिया जाता था। इसका शाब्दिक अर्थ सोना लेकर कई विद्वानों इसे सोने की खदान पर

लगाये जाने वाले कर के रूप में देखते है किन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि यह उस क्षेत्र में भी लगता था जहॉ सोने की खदान नहीं थी। सभवत. यू0एन0 घोषाल की परिभाषा ही उचित है, -जिसमे उन्होनें हिरण्य को कुछ विशेष फसलो में राजा के अश, जो नकद रूप में होता है, के रूप मे परिभाषित किया है।

उद्रंग एंव उपरिकर:

गुप्तकाल एव गुप्तोत्तर काल के अनुदानों में उद्रंग एंव उपरिकर शब्द मिलते हैं। पूर्व मध्यकाल में यह केवल उत्तरभारत तक सीमित हो गया था। ज्यादातर ये दोनों वित्तीय शब्द एक साथ ही मिलते हैं और सम्भवत: विरोधी अर्थ प्रकट करते है। कुछ अपवाद अवश्य पाये जाते है। प्रतिहार सामंत मथनदेव,[257] कुछ राष्ट्रकूट अनुदानों[258] में केवल उद्रंग कर मिलता है जबकि कुछ पाल[259] एंव परमार अनुदानो[260] में केवल उपरिकर मिलता है।

यू0एन0 घोषाल[261] उद्रंग कर को स्थाई कृषकों पर एंव उपरिकर अस्थाई कृषकों पर लगाये गये कर के रूप मे देखते हैं। अल्तेकर[262] उद्रंग एंव उपरिकर को क्रमश. भागकर एंव भोगकर के रूप में देखते हैं। वी0वी0 मिराशी[263] उद्रग एव उपरिकर को क्लिपट एंव उपक्लिपट और भाग एंव भोग के समान बताते हैं।

किन्तु इस सभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है कि उद्रंग एंव उपरिकर दो विशेष अतिरिक्त राज्य द्वारा लगाये गये कर हो जिनकी प्रकृति स्थिर नहीं बताई जा सकती हैं। मालासरूल दानपत्र[264] में उद्रग कर वसूलने वाले अधिकारी को औद्रंगिक कहा गया है, जिसपर इसकी वसूली का अधिकार रहता था। उपरिकर शब्द का निर्माण यह इंगित करता है कि यह भूमिकर पर लगाया जाने वाला अतिरिक्त कर है उपरि अर्थात ऊपर अतिरिक्त या ज्यादा। मैती[265] के अनुसार द्रंग और उदक से समीकृत कर यह माना गया कि यह कर सम्भवत: पुलिसकर अथवा जलकर था। अर्थशास्त्र में आये हुए शब्द 'उत्संग' से उद्रंग को एकीकृत किया गया तथा भाष्यकार भट्टस्वामिन[266] का यह कथन है कि उत्संग जैसा कर विशेष समारोहों अथवा राजकुमार के जन्म आदि पर राजा द्वारा प्रजा से प्राप्त किया जाता था। उद्रंग और उपरिकर को लल्लन जी गोपाल ने अर्थशास्त्र[267] में वर्णित 'क्लिप्त' और उपक्लिप्त माना

है, जिनका क्रमश अर्थ है, कृषको पर लगाया जाने वाला निश्चित कर और अतिरिक्त कर।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्रग एव उपरिकर की विभिन्न परिभाषाओ को देखते हुए कोई निश्चित मत देना सभव नही है। किन्तु सामान्य तौर पर उद्रंग को भूमि पर स्थाई रूप से रहने वाले किसानों से लिया जाने वाला कर कहा जाता है एव भूमि पर अस्थाई रूप से रहने वाले किसानों से लिया जाने वाला कर 'उपरिकर' कहलाता है। यह यू0एन0 घोषाल का मत है जिसे सर्वमान्य समझा जाता है।

दसापराध:

इस काल के अनुदानो में राजस्व से संबंधित एक और शब्द दसापराध सामान्य तौर पर पाया जाता है जिसे कि समय समय पर, जैसे गोविन्दचन्द्र के अनुदान[268] में दसापराधदण्ड कहा है, मदनपाल के सामन्त के अनुदान[269] मे दण्डदसापराध तथा विग्रहपाल III के अनुदान[270] में दसाप्रकारा कहा गया है, अलग-अलग नाम से उल्लिखित किया गया है।

यू0 एन0 घोषाल[271] इस शब्द की व्याख्या करदाता के उस अधिकार के रूप में करते हैं जिसके अर्न्तगत करदाता को पारम्परिक अपराधों के लिए दिए जाने वाले सामान्य दण्ड में छूट का प्रावधान था। इस प्रकार की व्यवस्था केवल सेन भूमि अनुदान[272] पत्रों में पाई जाती है। बंगाल के कुछ राजाओं[273] के यहॉ भी यह सहयादसपराध (केवल दस अपराधों के लिए क्षमा) के रूप में है। कल्पसूत्र पर भाष्य करते हुए हरिभद्रसूरी[274] इसे अपराधों पर लगाये गये धन दण्ड से पूर्ण या आंशिक मुक्ति के रूप में लेते हैं।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यू0एन0 घोषाल स्वयं भी यह तथ्य स्वीकार करते है कि यह ग्रामों द्वारा राजा की सम्पत्ति में वृद्धि का एक प्रकार है जिसमें कि उपज एंव घरेलू पशुधन भी राजा की प्राप्ति में सम्मिलित है। इस तथ्य की पुष्टि राष्ट्रकूट गोविन्द IV के कैम्बे अनुदान[275] पत्र से होती है। अनुदानपत्रों में इसकी स्थिति असदसापराध के रूप में है न कि असदसापराध के रूप में। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मंदिर जैसी संस्थाओं को भी अनुदान दिया जाता था।[276] केवल व्यक्तिगत स्तर तक यह सीमित नहीं था। इसका अच्छा पक्ष यह है कि ग्रामीणों द्वारा किये जाने वाले अपराधों पर लगाये गये दण्ड से राज्य की

आय बढती है। पी0वी0 काणे[277] ने ठीक ही कहा है कि किसी भी राजा ने किसी धार्मिक अनुदान या गाव को अनुदान मे यह नहीं सोचा होगा कि बडे अपराध जैसे स्त्री की हत्या, व्याभिचार, चोरी या गर्भपात के दण्ड की छूट मिलेगी।

चंदेल[278], कलचुरी[279], राष्ट्रकूट[280] अनुदान पत्रों से पता चलता है कि दाता का दण्डशुल्क राज्य की प्राप्ति का एक अश था। लेखपद्धति[281] में ऐसा उद्वरण आया है कि एक गांव को खेती योग्य बनाने में उसके स्वामी ने पाच अपराधों की आय अपने लिए सुरक्षित रखी थी। 'दसापराध' शब्द से संभवत यही तात्पर्य लिया जाता होगा कि अपराधों के दण्ड शुल्क की प्राप्ति का अधिकार दाता को स्थानान्तरित हो जाये।

पाल अभिलेखों एंव कुमॉयू के ललित सूरादेव के अनुदान पत्रो मे 'दसापराधिक' नाम के अधिकारी का उल्लेख मिलता है। संभवत: यह अधिकारी दसापराध के अन्र्तगत केसों को देखता होगा और दाता केवल दस अपराधों के बदले में दण्ड शुल्क देने का अधिकारी होता था।

इस शब्द के शाब्दिक अर्थ 'दस अपराध' के ऊपर विद्धानों में बहुत मतभेद है। ब्यूहलर[282] अनुमान लगाते है कि दस गलतियॉ अर्थात् दस कार्य सीमाविवाद प्रकरण से सबंधित दस कार्य हो सकते हैं किन्तु अपराध शब्द का प्रयोग गम्भीर किस्म के अपराधों के लिए किया जाता है। फ्लीट[283] ने इसका तात्पर्य काशीनाथउपाध्याय के धर्मसिन्धुसार[284] और वाग्भट्ट के अष्टागहृदय के वर्गीकरण से बताया है जिसमें शरीर के तीन विशेष पाप, वृद्धि के तीन पाप और वाणी के चार पाप बताये गये हैं, किन्तु यह विचार न्यायसंगत नहीं है क्योंकि बुद्धि के पाप के लिए व्यक्ति नैतिक दण्ड ही प्राप्त कर सकता है आर्थिक नही।

जॉली[287] ने नारद[288] के अनुसाार दस अपराध गिनाये हैं जैसे राजा की आज्ञा का पालन न करना, स्त्री की हत्या, जातियों का मिश्रण, व्याभिचारी, चोरी, पति के अतिरिक्त अन्य से गर्भधारण, गाली, गरिमा को ठेस पहुँचाना (बदनाम करना), बदला लेना, आक्रमण, गर्भपात। शुक्रनीतिसार[289] में भी नारद के समान दस अपराध गिनाये गये हैं।

'दसापराध' के संबंध में विभिन्न इतिहासकारों के मत को देखते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह किये गये दस अपराधों से ही संबंधित था; सामान्यतौर पर दण्ड स्वरूप न्यायिक रूप से

शुल्क लिया जाता रहा होगा।[290] यह सबसे सही व्याख्या प्रतीत होती है क्योंकि जैसा कि हम देखते है, कुछ राजवशों के अनुदानपत्रो में भूमि अनुदान के साथ दण्ड शुल्क की प्राप्ति का अधिकार भी स्थानान्तरित हो जाता है। किन्त दण्ड शुल्क सामान्य दण्डों के लिए होता है न कि कुछ विशेष दस अपराध। किन्तु दसापराध से यह भी तात्पर्य लिया जाता है कि केवल दस अपराधो के दण्ड शुल्क को प्राप्त करने का अधिकार मिलता है न कि सामान्य अपराधों के दण्ड शुल्क को।

कुमारगाधियानक:

बी0 पी0 मजूमदार[291] यह मत व्यक्त करते है कि यह कुमारगद्यन नामक के सोने के सिक्के पर लगाया जाने वाला कर था। किन्तु इस नामके सिक्के का कोई प्रमाण नही मिलता। आर0 नियोगी[292] इसे दक्षिण भारतीय अभिलेख से प्रेरित बताते है कि पहाडी जनजाति द्वारा कुमारी नामक फसल उगाई जाती थी। गहडवाल के अधीन पहाडी क्षेत्रो में यह कर लिया जाता था। गद्यानक नाप का एक माध्यम भी था और दक्षिण भारतीय सिक्का भी। किन्तु यह कर राज्य की आय का मुख्य साधन था, जबकि ऊपर की मान्यता मानने पर ऐसा संभव नहीं हो सकता है।

12वीं शती की मारवाड से प्राप्त, नानना पत्र[293] से पता चलता है कि एक लेनदारी और थी जो कुमारद्रोण या कुमारद्रोणा के नाम से जानी जाती है। अन्य राज्यों में यह वस्तु के रूप में ली जाती थी जबकि गहड़वाल राजा इसे नकद रूप में लेते थे। मिराशी[294] के अनुसार राजकुमार के जन्म पर एक गदनक का उपहार या नजराना के रूप में यह कर रहा था। यू0एन0 घोषाल[295] के अनुसार प्रति गदनक की दर से शाही राजकुमार की तरफ से लिया जाने वाला कर था। लल्लन जी गोपाल[296] के अनुसार उस पत्र से पता चलता है कि गदनक जो हैं लिये जाने वाले कर के जैसा शब्द है; जोकि राजकुमार लेता है। गहडवालों के अनुदानपत्र से पता चलता है कि गदनक प्रति परिवार से लिया जाने वाला कर है। इससे स्पष्ट है कि कुमार का तात्पर्य राजकुमार से ही है।

कुटक:

वी0पी0 मजूमदार[297] इस कर को प्रत्येक कुटक भार की वस्तु पर लगने वाले कर के रूप में उल्लिखित करते हैं। जबकि लल्लन जी

गोपाल[298] आर0एस0 नियोगी[299] से सहमत होते हुए इसे कृषि पर कर मानते है, उनके अनुसार कुट का अर्थ घर से होता है। किन्तु कुटक[300] का सही अर्थ कृषिकर से लिया जाना चाहिए क्योंकि कुट अर्थात् हल एव कुटक अर्थात् हलकर। यू0एन0 घोषाल[301] इसके लिए एक अभिलेखीय साक्ष्य प्रस्तुत करते है जिसमे हलकर को बलिकाकर कहा गया है।

जलकर:

अनुदान पत्रो में उल्लिखित समत्स्य के अधिकार स्थानान्तरण से आर0एस0 नियोगी[302] ये अर्थ लगाते है कि यह पानी के उत्पाद जैसे मछली इत्यादि पर लगाया जाने वाला कर है। क्योंकि मछली भी राजस्व का एक साधन रही होगी। किन्तु लल्लनजी गोपाल[303] इसे सिंचाई कर के रूप में देखते है जोकि उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि सिंचाई कर भी राजस्व का एक महत्वपूर्ण साधन रहा होगा।

गोकर:

'अर्थशास्त्र' के अनुसार राजा के सकट काल में ऐसे कर लगने चाहिए। इसके अनुसार पशुओं की बिक्री व देखभाल पर यह कर लगता था।[305] आर0 नियोगी[306] के अनुसार यह संभव है कि यह गांव मे पशुओं की बिक्री पर लगने वाला कर था। आर0एस0 त्रिपाठी[307] के अनुसार यह उसके चरागाह के अधिकार को पूर्ण करता है। बी0पी0 मजूमदार[308] ने शुक्रनीति[309] में उल्लिखित है "गाय के दूध और भरणपोषण के लिए चावल पर कर किसी राजा को नहीं लगाना चाहिए," उद्धृत करते हुए कहा है कि संभवत. यह गाय के दूध पर कर था। लल्लन जी गोपाल[310] इसे जानवरो पर लगने वाले सामान्य कर के रूप में देखते हैं जैसा कि चंदेल अभिलेखों में पशु नाम के कर का उल्लेख मिलता है।

इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से कर थे जिनका उल्लेख यहॉ पर करना आवश्यक नहीं है केवल नाम एंव तात्पर्य यहाँ दिये जा रहे है, जैसे क्लाडी कर जो बैलों पर लगता था, लवणकर-व्यक्तिगत रूप से नमक बनाने पर लगता था, पर्णकर-घास, तम्बाकू व लकडी पर लगने वाला कर, दसाबंध अर्थात आय पर लगने वाला कर, अक्षपटलप्रशस्ता, प्रतिहारप्रशस्ता एंव विसत्याथुप्रशस्ता। अक्षपटल एव प्रतिहार संभवत: कार्यालय के साक्ष्य एंव एकाउण्ट के लिए लिया जाता था विसत्यासुप्रशस्ता,

यू0एन0 घोषाल[311] इसे प्रत्येक घरेलू समान पर एक प्रशस्त कर लगाने वाला मानते है। उपरोक्त करो के अतिरिक्त अन्य बहुत से कर थे जैसे विषयदान, यमलिकम्बलि, दसापसादिदीर्घागोविका, अकारा, निधिनिक्षेप इत्यादि। बगाल मे लगने वाले करों मे चौरोद्धारण कर प्रमुख था। उडीसा में लगने वाले करो में वराबलिवर्धा, बालादण्ड इत्यादि प्रमुख थे। चंदेल अभिलेखों[312] से पता चलता है कि राज्य मे भागभोगकर, हिरण्य, पशु और शुल्क नाम के कर थे, जिसका वहन ग्रामवासी करते थे। कलचुरि साम्राज्य में प्रवणिकर, पट्टाकिलादया, विषयी काद्या, घट्टादाय, मार्गनक इत्यादि कर थे। परमार राज्य के अनुदान पत्र में हिरण्य, भागभोग, उपरिकर, दण्ड, अकासोत्पत्ति और पट्ला कल्याणधन इत्यादि कर उल्लिखित थे। चहमान राजवश मे तलारभव्य से लाहयभव्य बलोधपभव्य इत्यादि भाग थे जोकि कर अधिकारियों को मिलते थे। प्रतिहार राजवंश के राजौर अनुदान पत्र (प्रतिहार प्रमुख मथनदेव) में उद्रंग, भोग, भाग, दण्डादसापराध एव दान के अतिरिक्त अनेक नये कर थे जैसे मयूत, खलभिक्षा प्रस्थका, अपुत्रिकाधान, स्कन्धका, मार्गनक इत्यादि कर थे। प्रतिहार वंश का एक अन्य महत्वपूर्ण कर उत्पादमनविस्ती था। जिसका उल्लेख कठियावाड के अभिलेखों[313] मे मिलता है कि अनुदान के साथ उत्पादमनविस्ती का अधिकार भी स्थानान्तरित हो जाता है। चालुक्य राजवंश का भूतावतप्रत्याय कर भी उल्लेखनीय है जिसका अर्थ यू0एन0 घोषाल[314] ने इसका शब्दार्थ करते हुए इसे तत्वों एव हवा पर कर बताया है जबकि अल्तेकर[315] इस कर को उन उत्पादों के लिए बताते हैं कि गांव (भूत) में उत्पादित किये जाते हैं और आयातित (उपात्) किये जाते हैं। यही मत उचित भी जान पड़ता है।

तत्कालीन समाज में राज्य किस-किस रूप में कर लेते थे इससे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि करों का संकलन या एकत्रीकरण कैसे होता था। बी0एन0एस0 यादव[316] ने इन संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य एकत्र किये हैं प्राचीनकाल से ही गांव का प्रमुख भूराजस्व एकत्र करता था।[317] 9वीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र[318] कहते हैं कि परिवार के प्रमुखों से गाँव का प्रधान कर लेता है और इसे विषय के प्रमुख को प्रदान करता था। विषय का प्रमुख इसे सर्वाध्यक्ष नाम के अधिकारी को देता था। जोकि इसे राजा तक पहुँचाता था। कुल्लूकभट्ट[319] मनु के ऊपर टीका करते हुए कहते हैं कि गांव का प्रमुख

अनाजो की पूर्ति के लिए, दूध, जलाने योग्य लकडी अपने मासिक भत्ते के रूप मे लेता है। किन्तु वार्षिक कर, उत्पाद का 1/8 भाग राजा को प्रदान करता है। वस्तुपालचरित[320] और वस्तुपालप्रबन्ध[321] से संकेत मिलता है कि कमजोर शासन में प्रमुख करो का भुगतान बंद कर देते थे और एक कई प्रमुख बन जाते थे। हेमचन्द्र के द्वयाश्रय[322] से पता चलता है कि ग्रामपति (छोटे भूस्वामी या शक्तिशाली ग्राम प्रमुख) राजस्व का एक भाग लेते थे बाकी राजा को प्रदान किया जाता था।

लेखपद्धति[323] के दो उल्लेखो से पता चलता है कि गुजरात एंव उससे लगे क्षेत्रों में, पंचकुला ने ग्रामपट्टक को अनुमति दी थी कि सम्पूर्ण गांव का भूराजस्व नकद रूप में व्यक्तिगत रूप से दे दिया जाये।

कई अभिलेखों से पता चलता है कि शुल्क व्यापार पर कर शुल्कमण्डपिका[324] या कस्टम घर द्वारा एकत्र किया जाता था। कश्मीर में यह कर पुलिस स्टेशनो (उद्रंग)[325] द्वारा वसूला जाता था।

कुछ अभिलेखो में 'अक्षपटल' शब्द के उल्लिखित होने से लेखा विभाग के अस्तित्व का पता चलता है।फ्लीट ने इसे, रिकार्ड ऑफिस कहा है।[326] राजतरंगिणी में अक्षपटल को गणनाधिष्ठान कहा गया है।[327] स्टेम ने इसे महालेखाधिकारी के आफिस के रूप में अनुवादित किया है।[328] इससे प्रतीत होता है कि राज्य में आर्थिक प्रशासन की एक बडी मशीनरी थी जो करों की लेनदारियों एंव लेखा कार्यों का सम्पूर्ण विवरण रखती थी। प्रबंध चिंतामणि[329] से पता चलता है कि सिद्धराज के गर्वनर सज्जन ने तीन वर्ष तक किसी प्रकार के कर का भुगतान नहीं किया है, जब उसे राजधानी में उपस्थित होने की आज्ञा दी गई तब उसने कहा कि उसने सभी भुगतानों का प्रयोग एक मंदिर बनवाने में कर लिया था। इससे पता चलता है कि करों के भुगतान में अनियमितता थी।

इतिहासकारों ने राजस्व का एक पक्षीय अध्ययन ही ज्यादातर प्रस्तुत किया गया है। हाल ही मे श्री ओ0पी0 श्रीवास्तव ने कराधानों में भूराजस्व के अतिरिक्त अन्य वाणिज्यिक करों के विषय में विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यो में उल्लिखित विभिन्न प्रकार के करों को वर्तमान आर्थिक परिभाषाओं के आधार पर विभाजित किया जा सकता है: (1) आयात निर्यातकर (2)सीमा

शुल्क (3) उत्पाद कर (4)बिक्री कर (5) मार्ग शुल्क (6) जल परिवहन शुल्क (7) आवागमन कर (8) मिश्रित कर।[330]

आयात निर्यात कर:

पूर्वमध्यकाल मे आयात एंव निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाने वाले इस कर की वसूली आयात निर्यात घरों में होती थी, जोकि साधारण तौर पर समुद्री मुहाने पर या एक स्वतन्त्र राज्य की सीमा प्रारम्भ पर होते थे। 9वीं शती मे कर्नाटक राज्य में लिखित गुणभद्र की उत्तरपुराण[331] के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि राज्य में आने वाली वस्तुओं एंव जाने वाली वस्तुओं पर आयात-निर्यात शुल्क को कराद्वाय के रूप में जाना जाता था। रासमाला[332] के साक्ष्य से प्राप्त विवरण काफी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसमें उल्लिखित है कि जब जयदेव राख को गंगा नदी में डालने के लिए बैलगाडी से लेकर जा रहे थे तब चहमान वंश की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर उनसे कर की मांग की गई थी। 10वीं शती मे सोमेश्वर लिखित मानसोल्लास[333] से पता चलता है क आयात की जाने वाली वस्तुओं पर वस्तु की कीमत का 10% आयात निर्यात शुल्क लगाया जाता था। 11-12वी शती के मारू गुर्जर क्षेत्र का सामाजिक आर्थिक विवरण प्रस्तुत करने वाली लेखपद्धति[334] में आयात एंव निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर को आगमनिर्गमकर कहा गया। डी0 शर्मा[335] के अनुसार यह आयात निर्यात कर था जबकि डी0सी0 सरकार[336] इसे मार्ग शुल्क के रूप में देखते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आगम निगम कर को आयात निर्यात कर एंव सीमा शुल्क मे रखने में इतिहासकारों में मतभेद हैं।

पूर्वमध्यकाल के अभिलेखीय साक्ष्यों में भी आयात निर्यात कर का उल्लेख मिलता है। वलभी के विष्णुसेन के अभिलेख[337] (592) में प्रवेष्य एंव निर्गमिक कर का उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रवेष्य आयात या आने वाली वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर है जबकि निर्गमिक कर निर्यातित वस्तओं पर लगाया जाने वाला कर है।[338] कोंकण क्षेत्र के तेजोवर्मन के अन्जानेरीकास्यपत्र[339] में लगभग ऐसा ही विचार मिलता है। इसमें उल्लिखित है कि सामागिरि पत्तन पर रहने वाले व्यापारियों को आयात एंव निर्यात शुल्क से मुक्त कर दिया जाता था। मिराशी[340] इसे सीमाशुल्क मानते हैं जबकि सरकार[341]इसे आयात निर्यात कर मानते हैं।

प्रवेश्य निर्गमिक कर का उल्लेख बगाल के विश्वरूपसेन के वंगासाहित्य परिषद पत्र[342] मे भी मिलता है।इस प्रकार सभव है कि कुछ क्षेत्रो मे आयात निर्यात कर को प्रवेष्य निर्गमिक कर के नाम से जाना जाता रहा हो। परवर्ती चालुक्य राजा विक्रमादित्य VI (1076-1126 ई0) के एक सामन्त जयकेशी I के एक अभिलेख[343] से पता चलता है कि प्रत्येक दूसरे देश से आने वाले व्यापारी से एक गदैहा या द्रम शुल्क लिया जाता था। काकतीय वंश के गणपतिदेव के मोतुपल्ली[344] अभिलेख से आयात निर्यात कर के इसी प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं, जो 13वीं शती के मध्य आन्ध्र देश में राज्य कर रहे थे। इस अभिलेख[345] मे आने वाली एंव जाने वाली सामान से भरी व्यापारिक नौकाओ पर लगाये जाने वाले शुल्क की सूची दी गई है जिसकी गणना स्वयं राजा करता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में आयात निर्यात कर अपने पूर्ण अस्तित्व मे था एंव अर्थ व्यवस्था में इसका राजस्व एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा होगा।

सीमाशुल्क:

यह स्थानीय अधिकारियों द्वारा प्रत्येक व्यापारिक वस्तुओं के किसी शहर या कस्बे की सीमा में प्रवेश पर वसूल किया जाने वाला कर था। सोमदेव सूरि (10वीं शती अपने नीतिवाक्यामृतम्[346] में) सीमाशुल्क वसूल करने वाले अधिकारी पिन्थ का उल्लेख करते हैं और लिखते हैं कि इनकी उचित सुरक्षा करनी चाहिए क्योंकि ये राजा के लिए बहुत सम्पदा एकत्र करते हैं जैसेकि कामधेनू। सोमदेवसूरि द्वारा ही रचित यशस्तिलकचम्पू[347] में भी सीमा शुल्क का उल्लेख मिलता है यह बताता है कि एक पुजारी ने बडा बाजारों का कस्बा बनवाया एंव पिन्थ (सीमाशुल्क ग्रहणकर्ता) बनकर शुल्क वसूला था। 12वी शती के भाष्कराचार्य के बीजगणित[348] से पता चलता है कि इसकाल के व्यापारियों को शहर के द्वारों पर शुल्क देना पड़ता था। रासमाला[349] एंव खतरगच्छवृहद गुरवावली[350] से पता चलता है कि अन्हिलपुरपाटन के प्रवेश द्वार पर चुंगी बनाई गई थी।

अभिलेखों में सीमा शुल्क के लिए सानिर्गमप्रवेष्य[351], सुमाई[352], तलाईचुमाई[353] शब्दों का प्रयोग किया गया है। दक्षिण भारत के कुछ अभिलेखों में पेरूसुमकामु[354] शब्द की व्याख्या बैलों पर लदे सामान के

ऊपर लगने वाले कर से की गई है। बयाना से प्राप्त एक अभिलेख[355] (955 ई0) से पता चलता है कि यह कर मण्डपिक में व्यापारियों के प्रत्येक लदे हुये घोडे पर लगाया जाता था। मण्डपिक शब्द उस सीमाशुल्क चुगी के लिए प्रयोग किया गया है जहॉ व्यापारी अपना कर जमा करते थे। सामन्तसिह देव के एक अभिलेख[366] से, जो कि राजस्थान के जोधपुर से प्राप्त है, से पता चलता है कि जूना बाडमेर कस्बे मे प्रवेश करने पर प्रत्येक कारवां को, जो 10 ऊँट एंव 20 बैलों से ज्यादा लेकर चलते थे, 1 पाइला शुल्क देना पडता था।

इस प्रकार साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में सीमाशुल्क लगभग सम्पूर्ण भारत मे लगाया जाता। पूर्वमध्यकाल मे सीमा शुल्क की दर किसी साम्राज्य के कस्बे से कस्बे एव क्षेत्र से क्षेत्र भिन्नता रखी थी, किन्तु जहाँ का आयात निर्यात कर बात है वह लगभग पूरे साम्राज्य में एकसा ही लगाया जाता था।[357]

बिक्रीकर:

बिक्री कर[558] दो प्रकार से प्राप्त होता है बेचने के लिए खरीदी वस्तु पर एंव बिके समानो पर। पहली स्थिति में यह किसी वस्तु के विक्रय से पहले प्राप्त होता है। द्वितीय स्थिति में विक्रय के बाद। यहॉ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस कर का वहनकर्ता उपभोक्ता होता है और उसे अधिकारिक रूप से निर्धारित शुल्क से ज्यादा शुल्क देना पडता है। मृच्छकटिक[359] (5-6 शती) के एक श्लोक से पता चलता है कि बिक्री योग्य वस्तुओं पर बिक्री कर (शुल्क) लगाया जाता था। यशास्तिलक चम्पू[360] (10वी शती) से पता चलता है कि बिक्री कर शहर के बाजार में प्रत्येक बिक्री योग्य वस्तुओं पर लगाया जाता था। हेमचन्द्र (12वीं शती) के कुमारपाल चरित[361] से पता चलता है कि बिक्री-कर विक्रेता से प्रत्येक बिक्री वस्तु पर लिया जाता था। शुक्रनीतिसार[362] के अनुसार बिक्री कर विक्रेता एंव क्रेता दोनों पर लगाना चाहिए।

पूर्वमध्यकाल में बिक्रीकर के कुछ अभिलेखीय प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। हरियाणा राज्य के करनाल जिले से प्राप्त पेहोआ अभिलेख[363] (882-83) से पता चलता है कि प्रत्येक घोड़े की बिक्री के समय दो द्रम विक्रेता से एक एक द्रम क्रेता से लिया जाता था। चह्मान विग्रहराज का

हर्ष प्रस्तर अभिलेख[364] एव चालुक्य नरेश जयसिंहदेव के एक सामंत अश्व के बालि-प्रस्तर अभिलेख[365] मे भी बिक्री कर का यही विवरण मिलता है। गुहिल प्रधान अल्लट के मेवाड अनुदान पत्र[366] से पता चलता है कि पशुओं के विक्रय के समय बिक्रीकर विष्णु मंदिर को स्थानान्तरित कर दिया गया। 10-12 शती के लगभग प्राप्त साक्ष्यों से पता चलता है कि उत्तर भारत में पान, सुपारी, चीनी, गुड, कपडे, सूतीवस्त्र, केसर, तांबा, रेजिन एंव जौ पर बिक्रीकर लगने लगा था। चालुक्य नरेश कुमारपाल के मगलौर अभिलेख[368], (1202 वि0स0), भीम II का कादी अनुदानपत्र[369] (1287 ई0), एव गुजरात के चालुक्य राजवश के सारंगदेव के अन्वदापत्र[370] (1342 वि0स0) में बिक्री कर लगाये जाने वाली वस्तुओं की लम्बी सूची दी हुई है जैसे मजीठ, हंगुल, कर्पूर, कस्तूरी, कुमकुम, अगरू, जायफल, नालीकेरा, पान एव सुपारी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बिक्री कर लगभग प्रत्येक साम्राज्य मे बिक्री योग्य वस्तुओ पर लगाया जाता था और यह राज्य के राजस्व का एक नियमित बड़ा हिस्सा होता होगा।

उत्पाद शुल्क:

यह शुल्क देशी वस्तुओं के निर्माण प्रक्रिया एंव उपभोक्ताओ को उनकी बिक्री के मध्य लगाया जाता है।[371] यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्राचीन काल एव पूर्वमध्यकाल में उत्पाद शुल्क वर्तमान समय की तरह महत्वपूर्ण नहीं था। यद्यपि कौटिल्य[372] के समय में भी उत्पादकर का उल्लेख प्राप्त होता है तथापि उसकाल के साहित्य में इसका बहुत कम साक्ष्य मिलता है। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यों से उन मदों का पता चलता है। जिन पर उत्पादकर लगाया जाता था। साक्ष्यों[373] से पता चलता है कि नमक, चीनी एंव मदिरा ही ऐसे मुख्य उत्पाद थे, जिनपर उत्पाद शुल्क लगाया जाता था। यद्यपि कौटिल्य के समय ही नमक, चीनी एंव मदिरा के उत्पादन पर राज्य का अधिकार रहता था किन्तु पूर्वमध्यकाल के परवर्ती चरणों मे यह दाता या कुछ व्यक्तिगत हाथों में चला गया। उदाहरण के लिए विग्रहराज के हर्ष प्रस्तर अभिलेख[374] (1053 वि0स0) से पता चलता है कि मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए प्रत्येक कुन्तल नमक पर एक विमशोपक कर लगाया गया था। गहडवाल साक्ष्यों

में नमक पर शुल्क ज्यादा दिखाई पडता है। एक साक्ष्य[376] से पता चलता है कि एक अनुदानित गाव के नमक एव लोहे के उत्पाद का शुल्क दूसरे दाता को दे दिया गया। लुहारो के अतिरिक्त, बुनकर, तम्बोलिक, तैलिक इत्यादि को अपने सामान बनाने के लिए उत्पाद शुल्क देना पडता था।[377] लवणकार[378] (व्यक्तिगत रूप से नमक का निर्माण करने वाले) परकर) पर्णकार[379] (पान पर कर) बराजों पर[380] (पान की पत्तियां लगाने वाले) रसावती[381] मदिरा पर कर[382] शाकमुस्ती[383], (सब्जियों पर कर) प्रशास्तका[384] (तिल मिल पर कर, तेल की माप पर कर[385] इत्यादि उत्पाद कर थे। एक परमार अभिलेख[386] से पता चलता है कि शुद्ध मदिरा पर 4 रूपये उत्पाद शुल्क लिया जाता था।

प्रवणिकर:

कमौली[387] से प्राप्त 29 मे से 19 अनुदान पत्रों मे प्रवणिकर राजस्व का बहुत महत्पूर्ण साधन रहा है। गहडवाल राजवंश में इसका कई जगह उल्लेख मिलता है। त्रिकलिगा[386] के एक सोमवंशी राजा के अनुदान पत्र में भी इसका उल्लेख है। त्रिपुरी के कलिचुरि[387] के अनुदान पत्र में प्रवणि का उल्लेख है जो राज्य की आय का एक साधन है जो दाता को स्थानान्तरित हो जाता है।

आर0एस0 त्रिपाठी[390] यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि यह तो चुंगी की तरह का शुल्क है जिससे कि ज्यादा बाहरी लोग गांव में आकर शांति सुरक्षा न भंग करे या फिर मार्गों के रखरखाव का कर है। यू0 एन0 घोषाल[390A] ने इसे ऐसा कर बताया है जिसे प्रवणि पर लगाया जाता था, जिसका उल्लेख उन्होने व्यापारियों के एक वर्ग के रूप में किया है। लेउमन[390B] ने प्रवणि का उल्लेख फुटकर व्यापारी या शायद ऐजेण्ट के रूप में किया है। मिराशी[391] इसे बैंकर (श्रेष्ठिन) के रूप में देखते हैं मथन देव[392] के राजौरी अभिलेख से पता चलता है कि प्रवणि, वणिक (व्यापारी) गांव वासियो की सूची में अनुकरण करते थे। लल्लन जी गोपाल[293] भी यू0एन0 घोषाल के इस मत से सहमत हैं कि प्रवणिकर तकनीकि साहित्य या अभिलेख पर लगाया जाने वाली चुंगी या शुल्क था। लगभग सभी अनुदान पत्रों एंव अभिलेखों में राज्य की आय के साधन में यह प्रथम स्थान पर आता है इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रवणिकर चुंगी जैसा ही कर था।

टोल टैक्स:

यह व्यापारियों से लिया जाने वाला वह कर है, जो उनसे मार्गों में बनी चुगियो एव घाटो पर लिया जाता था। उत्तर भारत के क्षीरस्वामी[394] के भाष्य (12वी शती) एव बगाल के वन्दयघटिय सर्वानन्द[395] (12वीं शती) के साक्ष्यों से पता चलता है कि पूर्वमध्यकाल में टोल कर काफी प्रचलित था। इन साक्ष्यों से पता चलता है कि ये टोल घाटों पर, सैनिक छावनियों पर एंव मार्गों में वसूल किये जाते हैं। 11वीं शती के यादव प्रकाश की वैजयन्ती[396] मे एंव 12वी शती के हेमचन्द्र की अभिधान चिंतामणि[397] में भी टोल को लगभग इसी रूप में वर्णित किया गया है। टोल को वसूल किये जाने वाले स्थानों के आधार पर दो वर्गों में बाटा जा सकता है:-

मार्ग शुल्क:

साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों से इस शुल्क के प्रचलित होने का पता चलता है। दण्डिन के दशकुमार चरित[398] से ज्ञात होता है कि यह कर व्यापारियों से मार्गों पर वसूला जाता था। ह्वेनसांग[399] (629-643) बताता है कि नदियों के पुल एव मार्गों के चौराहों पर यह कह कर वसूला जाता था। शुक्रनीतिसार[400] के अनुसार मार्गों के रखरखाव के लिए व्यापारियो पर यह कर लगाया जाता है। लेखपद्धति में मार्ग शुल्क के लिए पथकीय[401] सगुनीदान[402] एंव दान[403] शब्द का उल्लेख मिलता है। इस काल के अभिलेखीय साक्ष्यों में भी इस मार्ग शुल्क का उल्लेख मिलता है। उड़ीसा के सोमवंश के कुमार सोमेश्वर के केलागन पत्र[404] (1075-1125 ई0) मे इस कर के लिए एक वाणिज्यक शब्द वर्तमादण्ड प्रयोग किया गया। डी0सी0 सरकार[405] इसे एक प्रकार के आयात निर्यात शुल्क के रूप में मानते हैं, जोकि मार्गों में निर्मित चुंगियों पर वसूले जाते हैं। कुछ अभिलेखों[406] से ज्ञात होता है कि उपहार में दान दिये गये गांवों से होकर जाने वाले मार्गो पर व्यापारियों से यह मार्ग शुल्क वसूल किया जाता था।, जिसके लिए मार्गदाय शब्द का प्रयोग किया गया है।[407] इस प्रकार प्राप्त साक्ष्यों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि संभवत: मार्गों के रख रखाव के लिए व्यापारियों की यात्रा की सुविधा के लिए इस कर का निर्धारण किया गया था।

नौकाकर:

यह कर नदियो के विश्रामस्थल पर व्यापारियो से लिये जाते थे। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक[408] एव अभिलेखीय[409] साक्ष्यो मे इसके लिए तरा, तरदाय, तरापण्य, तरामुलाम, अतरक एंव घाटदाय शब्द का प्रयोग किया गया है। पाल[410] एंव कलचुरि[411] साक्ष्यो में नौका कर लेने वाले अधिकारी के लिए तारिक, तरापति एव घाटपति शब्द का प्रयोग किया गया है। लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरू[412] से मालवाहक जहाजों पर लगाये जाने वाले कर की दरों का विवरण मिलता है। मनुस्मृति के एक श्लोक का उद्धरण देते हुए वह कहते हैं- एक बैल गाडी को एक पण, सामान लिए हुए व्यक्ति को एक पण, एक पशु या एक महिला को पौन पण, बिना सामान के व्यक्ति को पण का आठवॉ भाग देना पडता था। वह आगे बताता है कि बैलगाडी को सीमा शुल्क देना चाहिए एंव बिना सामान के व्यक्ति को कुछ कर देना चाहिए।[413] गर्भवती महिला, सन्यासी, वानप्रस्थी एंव वेदों के विद्यार्थी को नौका कर से मुक्त रखा गया था।[414] विज्ञानेश्वर[415], अपरार्क[416] एव कुल्लूकभट्ट[417] ने भी लगभग ऐसी ही नौका कर का विवरण दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में जलयात्राओं के लिए व्यापारियों पर नौकाकर लगाया जाता था।

आवागमनकर:

व्यापारियों के एक साम्राज्य से दूसरे साम्राज्य, एक शहर से दूसरे शहर के आवागमन पर लगाया जाने वाला कर आवागमन कर कहलाता है।[418] रासमाला[419] में इस कर के साक्ष्य मिलते हैं। कभी-कभी भील, मेद, एंव मीना इत्यादि अपने क्षेत्र से गुजरने वाले व्यापारियों से कर वसूल करते थे।[420] पूर्वमध्यकाल की राजनीतिक स्थिति बिखरी हुई थी, सत्ता से भूमि तक आते-आते कई स्तरों मे शासक वर्ग थे, सामतों में भी कई श्रेणियाँ बन गई थी। इस कारण यह बहुत संभव था कि प्रत्येक सामंत अपने क्षेत्र से जाने वाले व्यापारियों से कर लेता रहा हो।

अन्य मिश्रित कर:

कुछ साक्ष्यों[421] से पता चलता है कि दुकानों के ऊपर भी कर लगाया जाता था। अल्तेकर[421 A] बताते हैं कि पाण्डव देश में वार्षिक आय का यह 6% की दर से लगाया जाता था। गुर्जर प्रतिहार के क्षेत्र में एक द्रम

एव पाच विमशोपक[422] की दर से प्रति दुकानो पर लगाया जाता था।[423] कभी-कभी व्यापारिक श्रेणियो एंव कारीगरो को समुदायकर[424] भी देना पडता था।

पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक एव अभिलेखीय साक्ष्यों से इस काल मे समुद्री व्यापारियों पर लगाये जाने वाले करो का पता चलता है।[425] मनु के टीकाकार मेधातिथि[426] बताते है कि एक मालवाही जहाज के कर के निर्धारण के समय कई परिस्थितियो का ध्यान रखा जाता है। जैसे- समुद्री यात्रा की दूरी, यात्रा में व्यतीत समय, मौसम, पानी की गहराई एंव जहाज की यात्रा मे कितने श्रमिक लगे थे। मनु के ही एक अन्य टीकाकार कुल्लूकभट्ट[427] बताते है कि बिक्री हेतु वस्तुओ पर उचित अनुपात में कर लगाने के लिए उपरोक्त परिस्थितियों का ध्यान में रखने का विचार प्रस्तुत किया जाता था। 13-14वी शती की पुस्तक विवादरत्नाकर[428] में वस्तुओं का 10% प्रत्येक जहाज से बन्दरगाह कर के रूप में लेने की बात कही गयी है। गुणभद्र के उत्तरपुराण[429], सोमेश्वर के मानसोल्लास[430] एंव अबू जैद[431] के विवरणो से पता चलता है कि प्रत्येक मालवाहक जहाज, जो बंदरगाह पर आते थे, उनसे बंदरगाह कर लिया जाता था। काकतीय राजवंश के गणपतिदेव के मोतुपल्ली अभिलेख[432] से पता चलता है कि इस राजवंश ने न केवल विदेशी जहाजों के इसके बन्दरगाह पर आने के लिए व्यापारियों के पक्ष में अभयसासन जारी किया था बल्कि पहले के बंदरगाह कर को भी कम कर दिया था।

प्रतिहार अनुदान पत्रों[433] में स्कन्ध नामक एक अन्य कर का साक्ष्य मिलता है जो स्थानीय व्यापारियो के कंधे पर उठाये समानों के ऊपर लगता था। मानसोल्लास[434] में भी पण्यकर, को जो बाजार में खरीदने एंव बेचने वाली वस्तुओं पर लगायी जाती थी, राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत बताया गया है।[435] यशस्तिलक से पता चलता है कि बाजार में आने वाले प्रत्येक व्यापारी को किराया (भाटक) देना पडता था। लेखपद्धति में मदावी नाम के एक कर का उल्लेख है जोकि बाजार में आने पर, बैलगाडियों को खडा करने, पशुओं को पानी पिलाने एंव खराब वस्तुएं नष्ट करने के लिए लगाया जाता था।[437] इसी पुस्तक में अनादियक[438] नाम के कर का उल्लेख है, जोकि बैलगाडियों के खड़े होने

एव अपने सामानो को उतारने पर लगाया जाता था।[439] इस प्रकार स्पष्ट है कि कैसे छोटे बाजारो मे विभिन्न प्रकार के कर लगाये जाते थे।

लेखपद्धति[439 A] मे अश्वो के विक्रय मूल्य पर लगाये जाने वाले कर दसाबन्ध का उल्लेख मिलता है। नादौल अभिलेख[440] गहडवाल वंश के एक अभिलेख[441] में आय के 10 प्रतिशत तक लेने का उल्लेख है। कुछ साक्ष्यों में पानी के सरोवर, तालाब, कुए इत्यादि की देखभाल के लिए नौकरों एंव दासों से उनकी आय का 10 प्रतिशत लेने की बात कही गई है, सिंचाई योग्य भूमि[442] से उत्पाद का 10 प्रतिशत लेने का साक्ष्य मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दसाबन्ध एक विशेष कर के लिए कहा जा सकता है यह परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न था।

तुरूष्कदण्ड:

गहडवाल राजवश के अनुदानों में तुरूष्कदण्ड नाम कई बार मिलता है। यह प्रथम बार चन्द्रदेव द्वारा लगाया गया था, यह इस परिवार के प्रथम भूमि अनुदान पत्र (1090) से पता चलता है और जयचन्द्र ने इसे अंतिम रूप से हटा दिया था।[443]

कुछ इतिहासकारो[444] का मत है कि यह गजनी के सुल्तान को दिया जाने वाला वार्षिक कर था जो कि उत्तर भारत के मुस्लिमों को, जो उन्हें समय-समय पर विजित कर चुके थे, देते थे। किन्तु इस मत को कोई मान्यता नही मिली क्योंकि यह किसी साक्ष्य प्रमाण के बिना प्रस्तुत था। बी0पी0 मजूमदार[445] इस संबंध में महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं कि यदि यह तुर्कों को दिया जाने वाला नजराना था तब फिर भी तुर्क बार-बार आक्रमण क्यों करते रहे थे।

स्मिथ[446] महोदय इसे तुर्कों के आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने वाले कर के रूप में देखते हैं। अल्तेकर[447] इसे उस कर के समान बताते हैं जो चोल राजा वीर राजेन्द्र ने वेंगी के चालुक्य से युद्ध करने के लिए लगाया था।

लल्लन जी गोपाल[448] का मत है कि तुरूष्कदण्ड संभवत: राज्य में बसने वाले तुरूष्कों से लिया जाता रहा है। मूल रूप से यह विचार स्टेन कॉनाउ[449] का है एंव बी0पी0 मजूमदार[450] भी इस मत से सहमत है। आर0 नियोगी जी ने दण्ड शब्द पर आपत्ति की जिससे कर

का अर्थ नही निकलता है। किन्तु ऐसा कई उदाहरण प्राप्त होते है जिससे पता चलता है कि दण्ड शब्द अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त है जैसे सुर्वणदण्ड, अहिदण्ड इत्यादि शब्द[452] राजनीतिरत्नाकार[453] मे दण्ड शब्द का प्रयोग देनदारी एव नजराने के रूप मे हुआ है जोकि एक सामंत अपने स्वामी को देता है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[454] ने एक स्थल पर दण्ड का प्रयोग कर, शुल्क इत्यादि रूप मे किया है।

स्टेन कनॉउ[455] ने तुरूष्कदण्ड की व्याख्या हिन्दू जजिया के रूप में की है। जो उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि यह कर भौगिलिक रूप से केवल उन्हीं क्षेत्रों में लगता था जहा गहडवालों का प्रभुत्व था। आर0 नियोगी[456] ने इसका विरोध यह कहकर किया कि भारत में धर्म के आधार पर हिन्दूओं के कर लगाने का कोई इतिहास नहीं है। लल्लन जी गोपाल[457] इसे पुनः स्पष्ट करते हुए कहते है कि यह केवल धार्मिक स्तर पर नहीं था बल्कि आर्थिक आधार पर था। जैसा कि प्रतिहार राजाओ ने मुस्लिमों के बसने पर रोक लगा दी थी उसी प्रकार गहडवालों ने अपने राज्य मे रहने वाले तुर्कों पर कर लगा दिया था जो कि उनकी आय का एक साधन भी हो गया था।

सामंतवाद एंव कराधान:

तत्कालीन समाज में सांमतवाद का स्वरूप इतना जटिल हो चुका था कि उसका प्रभाव कराधान पर पडना स्वाभाविक ही था। कुछ सामान्य विशेषतायें रखते हुए कर एक राज्य से दूसरे राज्य में एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में मिलते है। लक्ष्मीधर[458] समकालीन लेखक देशधर्म शब्द की व्याख्या करते हुए कहते है कि करों का बटवारा बहुत विभिन्नता दिखता है जितना पहले कभी नहीं था।

धर्मशास्त्रों[459] में यह विधान किया गया है कि जितना परम्परागत रूप से कर लगता है उसे बढ़ाया नहीं जा सकता किन्तु कुछ सहायक आवश्यकताओं के लिए कुछ सहायक कर लिये जा सकते हैं। मानसोल्लास[460] में धर्मशास्त्र के विचार को प्रकट करते हुए कहा गया है कि राजा को केवल उपज का 1/8, 1/4, 1/6 भाग उपज की प्रकृति एंव भूमि की प्रकृति के अनुसार लेना चाहिए। किन्तु व्यवहारिक रूप से यह नियम नहीं लागू हो रहा था। लेखपद्वति[461] के एक उल्लेख से पता चलता है कि कुछ छोटे राजा उपज का 2/3 भाग ले लेते थे।

मनसरा[462] मे करो की एक सूची दी गई है जो आम जनता को विभिन्न श्रेणियो के राजा, सामत एव प्रमुखो को घटते हुए क्रम में देनी पडती थी। इससे पता चलता है कि एक सामान्य नागरिक पर करों का कितना ज्यादा बोझ पड रहा था। यह बताती है कि चक्रवर्ती महाराज या अधिराज, नरेन्द्र, पारसनिक और पट्टहार क्रमश: उपज का 1/10, 1/6, 1/5, 1/4 और 1/3 भाग राजस्व के रूप मे लेते थे। इससे स्पष्ट होता है कि इस कराधान की मशीनरी मे जो राजा सबसे छोटे स्तर का था उसका अंश उतना ही अधिक था क्योंकि उसे तुरन्त अपने से उच्च अधिकारी को उसका भुगतान करना पडता था और उस अगले को अपने से उच्च को।

इन नियमित करो के अतिरिक्त अन्य और भी करों के उदाहरण मिलते हैं जोकि कठोर और अनुचित जान पडते हैं। समकालीन सोढल की उदयसुन्दरीकथा[463] से पता चलता है कि एक राजकीय परिवार का प्रमुख धनी लोगों से पैसे लेने के लिए उन्हें कारागार मे बंद कर देता था। चेदि एंव चंदेलों के सामंतों के अभिलेखों से पता चलता है कि राज्य में कुछ आश्चर्यजनक कर लगाये जाते थे। जैसे अकाशोत्पत्ति(आकाश के उत्पाद पर लगाया गया कर), कल्याणदानम (एक प्रकार का सामंतों को दिया जाने वाला उपहार या नजराना)। जब गुजरात के कुमारपाल ने विशेष माह के विशेष दिन को पशुओं के वध की मनाही कर दी थी तब उसके सामंतों ने इसे भी आय का एक साधन बना दिया था। 84 गाव के प्रमुख ने इसका उल्लंघन करने वाले पर 4 द्रम का दण्ड लगाया जबकि एक दूसरे सामंत ने जिसका नाम अलानादेव[466] था, ने 5 द्रम का दण्ड निश्चित किया था। अलानादेव ने कुम्हारों पर भी ऐसा दण्ड लगाया था, जब वे दिनों में किसी बर्तन का निर्माण करते थे। शंखधारा के लटकमेकल[467] में सामंतों द्वारा आरोपित करों पर एक व्यंग्य मिलता है। एक राउतराजा (राज पुत्र प्रमुख) सग्रमाविसरा, जोकि एक ग्राम पट्टक था, उसने घोषणा कर दी थीकि वह गौरिया (छोटा पक्षी), सूअर के मल, एंव मृत शरीर के कफन से भी पैसे बना सकता है। यंहा पर यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गहडवाल और चंदेलों ने दाता के नियमित अनियमित और उचित अनुचित[468] करों की अनुमति दे दी थी जो कि यह

प्रकट करता है कि वे अनुचित को उचित एव अतिरिक्त करों को अनुमति प्रदान करने के स्तर तक पहुँच गये थे।

शासको एंव स्थानीय अधिकारियों के अतिरिक्त अनेक गैर-अधिकारिक एव सअधिकारिक व्यक्ति भी थे, जिनकी भूमि मे बहुत रूचि थी, यदाकदा इनका उल्लेख अभिलेखो मे भी मिलता है जैसे-अक्षपटलप्रशस्ता और प्रतिहारप्रशस्ता गहडवाल अभिलेखों में, बगाल के अभिलेखों में चौरोद्वारण[469] कलचुरी अनुदान पत्र में दुहसाध्यादाय, गुजरात एंव सीमावर्ती क्षेत्रों मे तलारभव्य[470]। ऐसा प्रतीत होता है कि ये नये और अतिरिक्त कर लगाते हैं जिनका बोझ सामान्य जनता पर पडता होगा।[471]

इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में मध्यमवर्ग विभिन्न प्रकार के करों से बुरी तरह घिरा हुआ था, इसका प्रमुख कारण सामंतवादी व्यवस्था में छिपा हुआ था। यह व्यवस्था जैसे-जैसे जटिल होती जा रही थी शासक एंव व्यक्ति के बीच जैसे मध्यवर्ती वर्ग बढता जा रहा था वैसे-वैसे करो का भार भी बढ रहा था, क्योंकि प्रत्येक मध्यवर्ती वर्ग को अपना हिस्सा चाहिए होता था।

समकालीन साहित्य में इस अनियमित एंव अव्यवस्थित कर व्यवस्था के दमनकारी स्वरूप का उदाहरण मिलता है। 11वीं शती के दरपदलाना में क्षेमेन्द्र[472] बताते हैं कि शासकों द्वारा किसानों का शोषण हो रहा था। सोमप्रभाचार्य के कुमारपालप्रतिबोध[473] में एक ऐसा संदर्भ आता है जिसमें खून चूसने वाली कर व्यवस्था का विवरण मिलता है। मंत्री लोगों की तुलना जोंक से की गई है क्योंकि वह विभिन्न प्रकार से शोषण करके खजाना भरना चाहते थे। अपराजितपृच्छा[774] में भी लगभग ऐसा ही विवरण है कि राजाओं ने अपना महत्व, गलत तथ्य को बचाने एव शोषणकारी कर व्यवस्था एंव वित्त व्यवस्था के कारण, खो दिया है।

कश्मीर के शासक श्रीहर्ष[475] के उद्वरण से पता चलता है कि करों का बोझ इतना बढ गया था कि उन्हे किसानों से जबरदस्ती लिया जाता था। दक्षिण भारत के चोल साम्राज्य में भी करो की उगाही में ऐसी कठोरता के उदाहरण मिलते हैं। 11वीं शती मे कर न देने वाले को पानी में खडे रहने या धूप में खडे रहने का दण्ड मिलता था।[476]

अन्तर्देशीय व्यापार:

पूर्वमध्यकाल में भी अन्तर्देशीय व्यापार होता था। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि दैनिक उपभोग की वस्तुएं जैसे- गेहू, चावल, दाले, मसाले, धातुएं नमक, चीनी इत्यादि की प्रतिदिन प्रत्येक को आवश्यकता होती है, जबकि प्रत्येक वस्तु हर जगह उपलब्ध नहीं होती, इन्हें ही देश में विभिन्न भागों से भिन्न-भिन्न भागो में ले जाया जाता था। इस काल के साहित्य जैसे तिलकमजरी[477], राजतंरगिणी[478] एंव मेधातिथि की टीका[479] में इस तथ्य से संबंधित उदाहरण भरे पडे हैं जिससे पता चलता है कि व्यापारी देश के एक स्थान से दूसरे स्थान वस्तुएँ ले जाते रहते थे। एक स्थल पर मेधातिथि[480] कहते है कि वैश्य अन्तर्देशीय व्यापार कर रहे थे। वह यह भी बताते हैं कि व्यापारी एक स्थान से आवश्यक सामग्रियां दूसरे राज्य को आयात करते थे। वह वैश्यो को सलाह देते हैं कि व्यापारियों को यह जानना चाहिए कि किस राज्य में चावल की ज्यादा खपत है, जौ कब पकता है राज्य के लोकाचार क्या हैं,व्यक्तियों का व्यवहार कैसा है विभिन्न राज्यों से लाभ और हानि क्या है।[481] उन्हें दूसरे राज्यों की भाषा जाननी चाहिए[482]। कथासरित्सागर[483] से पता चलता है कि एक व्यापारी ने अपने पुत्र को व्यापारिक कारणों, से दूसरे प्रदेश में जाने की आज्ञा दी थी। कुवलयमाला में उद्योतनसूरी[484] कहते हैं कि व्यापारी एक ही समय में देश के विभिन्न भागों से व्यापार करते रहते थे। वह बताता है कि लोग हाथी के लिए कोसल, घोडे के लिए उत्तरापथ, याककी पूंछ के लिए पूर्वदिश, जाते थे, जिनके बदले में वे मोती देते थे, द्वारिका के शंख, सीपी, बारबारकुल के हाथी दांत के बदले में कपडे देते थे[485] अहार प्रस्तर लेख (उदयपुर) 1952 ई0 से पता चलता है कि कर्नाटक, मध्यप्रदेश, लाट, राजपूताना, टक्क देश के व्यापारी ताट्टननादपुर आते थे और प्रत्येक वस्तु की बिक्री पर कर देने को सहमत होते थे।[486] पेहोआ (कर्नाल) अभिलेखीय 882-83 ई0 के अभिलेख मे देश के विभिन्न भागों से आने वाले घोड़े के व्यापारियों के समझौते का उल्लेख मिलता है।[487] एक चहमान अभिलेख[488] में शहर के सभी बैलों द्वारा उठाई गई टोकरियों पर कुछ लेवी का उल्लेख है। कठियावाड के गुहिल मुख्य के मंगोल अभिलेख[489] से पता चलता है कि गांव से शहर को जाने वाले प्रत्येक घोड़े, ऊँट एंव गधे पर लदे अनाज, पान के पत्तो से लदे

घोडे पर नकद कर लिया जाता था। परमार चामुण्डराज के अरथुना अभिलेख[490] मे बैलगाडियो पर भरे जौ एव अनाज के बोरो पर कर लगता था। लेखपद्धति[491] मे उल्लिखित है कि दस बैलो, अडतालिस बैलगाडियों पर लदे तिल का शुल्क चार द्रम था जिसमे मार्ग शुल्क एव कर सम्मिलित था। जो व्यापारी अन्तर्देशीय व्यापार में भाग लेते थे वे ज्यादातर कारवॉ जैसे समूह बनाकर यात्रा करते थे। विश्वरूप[492] नैगम व्यापारियों की सहकारिता) की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नैगम कारवॉ के व्यापारियो एंव अन्यों का समूह है।[493] अपरार्क[494], कारवां की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विभिन्न जातियों के व्यापारी, व्यापार के उद्देश्य से दूसरे राज्य में जाने के लिए साथ-साथ यात्रा करते है तब कारवाँ कहलाता है। इसकाल की बृहत्कथाकोष[495] से पता चलता है कि व्यापारी एंव कारवॉ प्रमुख दूसरे राज्य के राजा से व्यापारिक अनुमति लेने के लिए सम्पर्क करता था एव मूल्यवान उपहार भेट करता है।तिलकमंजरी[449] बताती है कि कैसे शहर के बाहरी किनारे पर व्यापारी कैम्प लगाते थे। जिससे राजमार्ग के लुटेरों से बचा जा सके। सुव्रततिलक[497] से पता चलता है कि एक व्यक्ति अपनी शक्ति के घमण्ड में_कारवॉ से हट गया। जिसे लुटेरों का सामना करना पडा। धनपाल की भविष्यकथा[498] से पता चलता है कि धनी व्यापारी अपने व्यापारी के लिए चलने से पहले घोषणा करवा देते थे जो व्यापारी इच्छुक हो साथ मे चले। इस प्रकार के व्यापारी अपनी नागरिकता का प्रमाण अपने पास रखते थे, जिससे दूसरे राज्यों में उन्हे व्यापार करने की अनुमति प्राप्त हो सकें[494]। समराइच्चकहा[500] से पता चलता है कि कारवाँ का प्रमुख सभी व्यापारियों को एकत्रित होकर मार्ग में चलने के लाभ बताता है और उनके निर्देश लेता है एंव उस पर अपनी सलाह देता था। त्रिषष्ठीशलाका पुरूष चरित[501] में एक धनी व्यापारी धना के नेतृत्व में कारवाँ चलने का विस्तृत विवरण किया गया है कि कैसे वह अपने प्रस्थान के समय नगाड़ों के साथ घोषणा करता था कि जो व्यापारी इच्छुक हों साथ में चल सकता है। सवारी के लिए मुख्यत: घोडा, बैलगाडी, ऊँट, भैंस एंव गधे होते थे। गर्मी एंव बरसात के मौसम में रूककर कारवॉ विश्राम करता था। अपने-अपने लक्ष्य तक पहुँचकर व्यापारी अपना समान बेचते थे ऐव पुन: उसके बदले अन्य सामान लेकर वापस लौट आते थे। इसकाल के महत्वपूर्ण नगरों में मुल्तान, जुर्जा

(गुजरात) सिन्डन (देवल के निकट शहर) कानिबया (कम्बोज) मसुर्जन, सैन्दुर, मनसुरा (हैदराबाद के निकट) खबेरिम, असवाल, बनिया (सिन्ध), दरक एंव बनारस और कश्मीर अन्तर्देशीय के साथ-साथ विदेशी व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे।

साधन एंव मार्ग की कठिनाइयाँ:

उपलब्ध साक्ष्यों से पता चलता है कि छोटी-छोटी लकडी की गाडियों से समान एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाया जाता था। जिसे घोडा, बैल, खच्चर, भैंस इत्यादि जानवर खींचते थे।[502] मेधातिथि[503] भी ऐसा ही विचार प्रस्तुत है और साथ ही कहते हैं कि इन जानवरों को साधन के रूप में समझना चाहिए। बृहन्नारदीपुराण[504] से पता चलता है कि इस समय की यह विशेष मान्यता थी कि किसी घर के मालिक को ऊँट की सवारी या ऊँट गाडी पर बैठने की मनाही थी। रथ, घोडे, हाथी एंव डोला भी आवागमन के साधनो मे सम्मिलित था।[505] राजतरंगिणी[506] से पता चलता है कि नावें भी जलमार्ग मे आवागमन का एक साधन थी। लीलावती[507] में गाडी किराये पर लेने की एक गणितीय समस्या की गणना है कि एक विशेष दूरी के लिए लकडी से लदे बैलगाडी का क्या किराया होगा। मेधातिथि[508] ने भी किराये पर पहिये वाले साधन लेने का उल्लेख किया है।

इस काल की सडकों की दशा अच्छी नही थी। जिससे सडक मार्ग से यात्रा करना काफी कठिन था।[509] दामोदरगुप्त अपने कुटटनीमत्तम[510] में मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को चित्रित किया है। उसके अनुसार भूमि उनका बिस्तर, मंदिर उनके घर एंव टूटी ईटें उनके तकिये का कार्य करते थे। इसके विपरीत कथासारित्सागर[511] में उल्लिखित है कि कुछ निश्चित स्थानों पर सराय बनवाई गई थीं जिन में यात्री आराम कर सकें जो अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी उपलब्ध करवाते थे।[512] अब्बूजैद भी ऐसी सराय का उल्लेख करते हैं। इन सरायों में राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी होते थे जो कि यात्रियों की देखभाल करते थे एंव उन्हें भोजन, पानी, बिस्तर, दवा इत्यादि प्रदान करते थे[513]। महत्वपूर्ण सडकों पर मील के पत्थर लगे हुए रहते थे जिससे यात्रियों को मार्ग ढूढँने में कोई कठिनाई न हो।[514] इस काल के साहित्य में विभिन्न प्रकार की सडकों का उल्लेख मिलता है, जैसे बैजन्ती[515] एंव अभिधानरत्नमाला[516] में

भारवाही सडक, छोटी सडक, बडी सडक एव बडे मार्गों का उल्लेख मिलता है। देशीनाममाला में रत्थय[517] (भारवाही सडक) एव लघुरत्थय[518] (छोटी भारवाही सडक) का उल्लेख मिलता है किन्तु इन दोनों मे तकनीकी रूप से क्या अन्तर था यह ज्ञात नहीं हो सका है। अभिधानरत्नमाला[519] मे सडक शब्द को शहर से सबंधित बताया गया है। इससे प्रकट होता है कि गांवों के मार्ग संभवत: कच्चे होते होगें। समरांगणसूत्रधारा[520] से एक शहर की रूप रेखा के संदर्भ में सडकों के प्रकार के बारे में पता चलता है।

राजमार्गों की असुरक्षा :

राजमार्गो की असुरक्षा के कारण पूर्वमध्यकाल में व्यापार की मात्रा कम होती हुई प्रतीत होती है। अशक्त केन्द्रिय शक्ति एंव सामंतों की बढती हुई शक्ति के कारण असमाजिक तत्वों की संख्या बढती जा रही थी। इस काल के साहित्य में मार्ग की असुरक्षा के अनेक उदाहरण मिलते हैं[521]। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि फाह्यान को लुटेरों ने कभी परेशान नहीं किया, वहीं ह्वेनसांग को लुटेरों ने दो बार लूटा।[522] संदेशरासक[523] में एक यात्री रात्रि को खराब सडकों एंव खतरों से भरे होने के कारण कष्टदायक बताता है। त्रिषष्ठीशलाका पुरूषचरित[524] से भी ज्ञात होता है कि कारवॉ का अकसर लुटेरो के खतरे का सामना करना पडता था, शस्त्रधारी पहरेदार ही इन लुटेरों को भगाते थे। उपमितिभवप्रपंचकथा[525] में व्यापारियों के (लुटेरो से) सामान्य डर का उल्लेख किया गया है। कथाकोषप्रकरण[526] एंव उपमितिभवप्रपंच[527] कथा में कई घटनाये ऐसी मिलती हैं कि व्यापारियों एंव उन के कारंवा पर लुटेरों या जंगली जनजातियों ने आक्रमण कर दिया हो। भसुकु[528] ने अपने एक गीत में बताया है कि जब वह पदमा नहर पार करके पूर्वी बंगाल पहुंचा तब लुटेरों ने उससे सबकुछ छीन लिया, जो उसके पास था। राजतरंगिणी[529] एक शक्तिशाली लुटेरे सरदार का उल्लेख करती है जिसका समूह गया के पास था जोकि एक भयानकता की सीमा तक पहुँच गया था।

यात्रियों की सुविधाएँ:

कविकान्तभरण[530] एंव देसीनाममाला[531] में सडकों के किनारे पानी की सार्वजनिक आपूर्ति के सदर्भ मिलते हैं। तिलकमंजरी[532] में यात्रियों के प्रयोग के लिए शहर के किनारे पानी के पोखर का वर्णन किया है।

समयमात्रृक[533] मे एक महिला का उल्लेख है जो कि सराय सचालन करती थी। बाद के एक लेखक हेमाद्रि ने अपनी चतुर्वर्गचितांमणी[534] धनखण्ड मे परोपकार के कार्यों मे रेगिस्तान मे पानी एकत्र करना एंव कुएँ खुदवाना एंव प्यासे यात्री को ठंडे पानी से भरा बर्तन देना सम्मिलित किया है। अब्बूजैदी हसन[535] बताता है कि भारतीयों का परोपकार का एक तरीका यात्रियों के विश्राम के लिए सराय बनवाना भी था। बृहत्कथाकोषसंग्रह[536] में एक सहायतार्थ भवन का उल्लेख है। जिसमें यात्री दाढी मूँछ बनवा सकते थे, मालिश करवा सकते थे। प्रबंधचिंतामणि[537] बताती है कि एक सतर्क एंव सचेत राजा ही ऐसे सहायतार्थभवन का रखरखाव कर सकता था। जॅहा यात्रियों को भोजन मिलता, गर्म पानी एंव तेल जिससे वे पैर धोकर अपनी थकान निकाल लेते एंव एक कमरा जिसने वह रात्रि व्यतीत कर सकते थे। तिलकमंजरी[538] राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी को सूचना देती है जो भोजन, पानी एव रहने की व्यवस्था देखता था।

इस काल के भूमि अनुदान पत्र[539] में अधिकारियों की तालिका में गामागमिका नाम के अधिकारी का उल्लेख मिलता है जो कि संभवत: न केवल गांव के बाहर जोने वाले एंव गांव के अन्दर आने वाले व्यक्तियों पर नजर रखती है। बल्कि उनकी सुविधा का भी ध्यान रखते होगें।

नदीमार्ग:

उत्तरभारत में व्यापारिक उद्देश्यों से सड़क मार्ग की अपेक्षाकृत नदी मार्ग अच्छा एंव सुरक्षित साधन था। उक्तिउक्तप्रकरण[540] से पता चलता है कि उत्तरी उत्तर प्रदेश में नदी मार्ग से यातायात काफी प्रचलित था, नाविकों को विभिन्न नदियों के मार्ग एंव विभिन्न स्थानों पर उनकी गहराई का ज्ञान होता था। राजतरंगिणी[541] में नदियों की यात्राओं के कई संदर्भ मिलते हैं। असम[542] की कुछ नदियॉ यात्रा एंव मालवाहन के लिए प्रयुक्त थीं।

आयात एंव निर्यात:

प्राचीनकाल से ही भारतीय वस्तुओं की विश्व के कोने-कोने में मांग रही है। विशेषतौर पर पूर्वमध्यकाल में पश्चिम में भारत से समान पर्शिया अरब, अफ्रीका के तटों पर और यूरोप के विभिन्न देशों में भेजे जाते

रहे है। भारतीय वस्तुओ को जलमार्ग से चीन, लका, बर्मा, इण्डोनेशिया और भारतीय आर्चीपिलगो मे भेजा जाता रहा है। चाउ-जू-कुआ[543] के अनुसार विभिन्न देशो के व्यापारी पूर्व और पश्चिम से, भारत आते थे और अपने देशो को विभिन्न वस्तुए ले जाते थे, जहाँ उनकी बहुत मांग थी। उस काल के आयात निर्यात की कोई तालिका नहीं प्राप्त है फिर भी उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप से इतना जरूर कहा जा सकता है कि भारत से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का आयात और निर्यात किया जाता था। वस्साफ[545] के अनुसार भारत एक ऐसा देश है जहॉ लोग सोना चांदी एंव वस्तुएॅ निर्यात करते है और उसके बदले में सीच, दवायें, पाउडर, पत्थर के टुकड़े, विभिन्न सुगन्धित जडे ले जाते हैं जिससे कि वस्तुओं को खरीदने मे धन कही नहीं जाता था। इब्न खुर्दादबा[546] द्वारा दी गई तालिका में भारत को निर्यातित वस्तुएं में एलो-लकडी, चंदन की लकडी, कपूर का पानी, जायफल, लौंग, नारियल , सूखी सब्जिया, वेलवटी सूती वस्त्र सम्मिलित थे। अलइद्रसी[547] बताता है कि सायमुर (चौल) की पहाडियों पर विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पौधे पैदा होते थे, जिनका निर्यात किया जाता था। वह इत्र को भी भारत का मुख्य निर्यात बताता है।[548] सूत एंव सूती वस्त्र निर्यात का एक प्रमुख तत्व थे। इब्न खुर्दादबा[549] कहता है कि रहमा के देश मे सूती वस्त्रों का उत्पादन किया जाता था। सुलेमान इन वस्त्रों की विशेषता बताता है कि ये बहुत बारीक और मुलायम थे कि इससे बनी साड़ी को एक अंगूठी के अंदर से निकाला जा सकता था।[550] रहमा के स्थान को विभिन्न विद्वानो में बंगाल के पाल राजवंश से संबंधित किया है।[551] मार्कोपालो[552] और इब्नबतूता[553] ने भी सूती वस्त्र के निर्यात का उल्लेख किया है। सुलेमान एंव मसूदी दोनों ने निर्यात की एक अन्य वस्तु का उल्लेख किया है जो यूनिकोरा नाम के जानवर की सींग से बनता था, यह चीन को निर्यात की जाती थी जँहा इससे फैशनेबल एंव कीमत गीर्डल बनाये जाते थे, यह बहुत मंहगे थे। लियांग शू द्वारा दी गई तालिका में भी यह सम्मिलित है, चाउ-जू- कुआ[555] ने ऐसा उल्लेख किया है। इब्न खुर्दादबा के अनुसार कोस्टस केन और बांस का निर्यात सिन्ध से होता था।[556] एक अन्य स्थल पर वह बताता है कि कोस्टस हिमालय से नील गुजरात से कपूर और रत्नमलय एंव सुमात्रा से सिन्ध के बदंरगाह से निर्यात किये जाते थे।[557] चाउ-जू-कुआ[558] के अनुसार लियांग शू में भारतीय निर्यात की तालिका दी गई है। यह बताती है कि परम्परागत

रूप से भारत से गेडे की सींग, हाथी दांत, चीते की खाल, गिरगिट, कछुए की शेल, सोना, चादी, सोने की कढाई वाले चमडे, बारीक कपडे मुसलिन, बारीक फर वाले कपडे होउत्सी[559] निर्यात किये जाते हैं। चाउ-जू-कुआ[560] ने भारत, गुजरात और मालवा का विवरण देते हुए भारत के अन्य निर्यातों के बारे में जैसे चंदन लकडी अन्य खूश्बूदार लकडी, गन्ने, चीनी, सभी प्रकार के फल इत्यादि बताया है।

गुजरात में पैदा होने वाले पदार्थो में नील, लाल रंग, विदेशी सूती कपडे (सभी रगों के) प्रमुख थे। ये वस्तुयें बेची जाने के लिए अरब भेज दी जाती थी।[561] मार्को पोलो बताता है कि गुजरात में कालीमिर्च, अदरक नील और विभिन्न प्रकार का कपास पैदा होता था। आगे वह लिखता है कि उनके कपास का पेड़ आकार में काफी बडा होता था, यह 20 वर्ष तक टिका रहता था।[562] आगे वह बताता है कि कैम्बे का कपास भी बहुत अच्छा था[563] मार्को पोलो बार-बार मुलायम और सुन्दर बकरम एव सूती वस्त्र के बारे में बताता है जोकि कैम्बे से निर्यात होते थे। राशिद-उद्दीन बताता[564] है कि मालवा से चीनी, बदरू (बाम) और बलाडी गुजरात के तट से समुद्री जहाजों से सभी देशों एंव शहरों को निर्यात किये जाते थे। इब्नबतूता[565] निर्यात की एक तालिका देते हैं जिसमें चावल अन्य अनाज और कपास सम्मिलित थे; जोकि भारत से धोफर (जफर) क्वालहट ओमान का दक्षिण, अन्य भारतीय व्यापारिक वस्तुएं पात्र इत्यादि, होड़मुज और जारवन को तथा अरब, मैसोपोटामिया, खुरासान और शेष ईरान में निर्यात किये जाते थे।

इस प्रकार विभिन्न स्त्रोतो से एकत्र विवरण के अनुसार भारत से निम्नलिखित वस्तुओं का निर्यात किया जाता था- (1) गेडे के सींग (2) हाथीदांत (3) चीते की खाल (4) मारमोट (5) कछुए की शेल (6) सोना (7) चांदी (8) सोने की कढ़ाई के चमडे (9) बारीक कपडे (10) मुसलिन (11) उत्कृष्ट फर के वस्त्र (12) टा-टैंग ?(13) होउत्सी? (14) चंदन की लकडी (15) सुगन्धित लकडी (16) गन्ना (17) चीनी (18) फल (19) नील (20) लाल रंग (21) मायरोबैलेन (22) विभिन्न रंगों के कपास (23) सुगन्धित पेड (24) इत्र (25) बद्रू (बाम) (26) बलाडी (27) बालसमारा (28) कालीमिर्च एंव अदरक (29) एलो लकड़ी

(30) कपूर (31) कपूर का पानी (32) जायफल (33) लौग (34) क्यूबेला (35) नारियल (36) चावल (38) अनाज (39) पात्र इत्यादि।

आयात:

निर्यात की ही तरह आयात के संबध मे, पर्याप्त साक्ष्य न होने के कारण पूर्ण विवरण नही प्राप्त होता है। अबू जैद[566] के एक विवरण से ज्ञात होता है कि सिन्ध की दीनार, मुस्लिम शासन काल में, आमतौर पर भारत में मंगाई जाती थी। मिस्त्र से इमराल्ड (हीरा कीमती पत्थर) मंगाते थे जिसे मुद्रा के रूप में ढालते थे, इसके साथ ही दहनज पत्थर (इमराल्ड के जैसा) भी मंगाते थे। 10 वीं शती तक खलीफाओं के शासनकाल में भारत और मिस्त्र के मध्य व्यापार लगभग समाप्त हो गया था। ऐसा क्रोफड[567] का भी कहना है। अभिधानरत्नमाला[568] में मदिरा के लिए कपिसायाना शब्द से प्रतीत होता है कि इस काल में मदिरा कपिशा से आयात की जाती थी। इब्न सैद[569] नाम के एक अरब लेखक के अनुसार सिन्ध के दायबुल के बसरा से खजूर आयात किया जाता था। इब्न बतूता[570] के अनुसार चीन से एक ऐसा मुर्गा आयात किया जाता था जो शर्तुमुर्ग जैसा देखने में एंव आकार में बडा था। चीन से मिट्टी का भी आयात किया जाता था।[571] ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल की तरह इस काल में भी चीन से रेशम का आयात किया जाता था क्योंकि इस काल के साहित्य में भी चीनांशुक शब्द मिलता है।[572] बसंतविलास महाकाव्य[573] में उल्लिखित है कि आदिनाथ के मंदिर का झंडा चीन में निर्मित वस्त्र का बना हुआ था। इब्नबतूता[574] आगे बताता है कि कालीन का आयात भारत में अक्सरिया, जोकि मैसोपोटामिया में स्थित है से होता था, सिल्क से सिले कपड़े और वेलवेट निशापुर से, आलू बुखार, वाबखाना से आयात किये जाते थे। लंका से हाथी मंगाये जाते थे। उपमितिभवप्रपंचकथा[575] के आधार पर कुछ विद्वान यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दक्षिणपूर्वएशिया से कीमती पत्थर आयात किये जाते थे।इब्न खुर्दादबा[576] के अनुसार एलो लकडी काबुल से आयात की जाती थी और समुद्री रास्ते से कुरा, किलाकन, लुरा और कंजा से भी मगाई जाती थी। पुन: इसका एक विरोधी बयान भी मिलता है यदि अबू जैद और मसूदी[577] के विवरण पर विश्वास करें तो, ये कहते हैं कि मंहगी एलो की लकडी सूर्य के देवता को भेंट की जाती थी। जोकि सुदूर कम्बोडिया से मंगाई जाती थी। 999

ई0 में सग राजवश के वार्षिक विवरण मे विभिन्न वस्तुओ की एक तालिका प्राप्त है, जो या तो भारत से निर्यात होती थी या आयात। इन वस्तुओं के मध्य इस तालिका में स्टील -(पिन ट-ल)[578] को विशेष प्रमुखता दी गई है। कुछ विद्वान इसे दमसीन स्टील मानते हैं, जिनसे तलवार की धार बनती थी। मार्कोपालो[579] इसे कर्मन का उत्पाद बताते है यूले इसे हैडवैनी अर्थात भारतीय स्टील बनाते हैं, जोकि काफी प्रसिद्व भी हुआ। सिन्धुराज के समय में समुद्री व्यापारी, मैदार एक जड जिससे लाल रंग बनाया जाता है आयात किया जाता था।[580] किन्तु सभी व्यापारों में मुख्यतौर पर घोडे का व्यापार ऐसा था, जिसमें हिन्दू मुस्लिम एक साथ काम करते थे। भारत में घोडे कच्छ के रास्ते से होकर अरब से मंगाये जाते थे।[581] सिन्ध मे भी घोडे इसी मार्ग से मंगाये जाते थे[582]। यह व्यापार बाद के काल तक चलता रहा। इब्नबतूता बताता है कि अच्छी नस्ल के घोडे भारत में धोकर, क्वीपच, क्रीमिया, और अजोव से आते थे। दौड में प्रयुक्त होने वाले घोडे यमन, ओमान और पर्शिया से आयात किये जाते थे।[583] युद्ध के औजार सिन्ध के मुहाने से आयात किये जाते थे[584] । साक्षों के अभाव में आयात की तालिका काफी छोटी प्रतीत होती है लेकिन अल इद्रीसी के कथन से लगता है कि उसकाल में भारत का आयात भी भारी मात्रा में था। वह कहता है कि ओमान और चीन के प्रदेशों के सामानों से भरे जहाज भारत में देबल पर उतरते थे और अन्य वस्तुऍ एंव सामग्रियॉ चीन से एंव इत्र और सुगन्धी भारत से ले जाते थे।[585]

गुप्तोत्तर काल के बाद बैजन्टाइन साम्राज्य से सिल्क का व्यापार बंद होते ही इस काल में भारतीय व्यापार आन्तरिक एंव बाह्य रूप से कमजोर होने लगा क्योंकि इस समय कई विरोधी परिस्थितियाँ एक साथ काम कर कर रही थीं जैसे उत्तर भारत की परिस्थिति बहुत अव्यवस्थिजत थीं क्योंकि बार-बार अरबों के आक्रमण हो रहे थे, समुद्री लुटेरों का खतरा बढता जा रहा था। फिर गुप्तोत्तर काल का शासन काल अव्यस्थित होने से राजनीतिक परिस्थितियाँ अधंकारमय हो रही थी। समुद्री व्यापार का कम होना इस काल के साहित्य में वर्णित समुद्री लुटेरों के विवरण से स्पष्ट है। बोधिसत्वदान कल्पलता[586], कथासरित्सागर[587] पुरातन प्रबन्ध संग्रह[588], राजतरंगिणी[589] वस्तुपाल चरित[590], प्रबन्धकोष[591],

उपमिमिभवप्रपच कथा[592], त्रिषष्ठीशलाका पुरूषचरित्र[593] में समुद्री लुटेरों का उद्धरण यत्रतत्र आया है।

किन्तु ठहराव का यह युग बहुत दिनों तक नहीं रहा। 11वी एंव 12वीं शताब्दी मे पुन प्रगति के लक्षण दिखने लगे। कृषि उत्पादन में वृद्धि हो रही थी।[594], उद्योगों की स्थिति में सुधार[595] हो रहा था। 11वीं शती के प्रथमार्ध में सुल्तान महमूद का आक्रमण मंदिरो एंव शहरों को लूटने इत्यादि से व्यापारिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पडा और सामान्य सम्पत्ति भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी। किन्तु बाद मे तुर्क आक्रमणकारी लूटपाट नही कर रहे थे और जब पजाब गजनवी साम्राज्य का स्थाई अंग बन गया तब मुस्लिम व्यापारियों के लिए यह एक अच्छा मार्ग सिद्ध हुआ इससे उत्तरी भारत मे वाणिज्यिक विकास का एक सुन्दर युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत के कुछ नये शहर[596], व्यापारिक केन्द्र के रूप में विकसित हुए और प्राचीन केन्द्र, जैसा कि समकालीन साहित्य से पता चलता है कि धीरे-धीरे सम्पन्न होते हुए प्रतीत होता है[597]। इस काल के कई अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कस्बे एंव गांव के बाजार[598] जोकि स्थानीय, पडोसी एवं अन्य अन्तर्राज्जीय व्यापार के व्यस्त केन्द्र हो गये थे। कुछ देनदारियो को सिक्कों के रूप मे प्रकट करने से पता चलता है कि व्यापारिक लेनदेन में नकद रूपये देने का प्रयोग हो रहा था। जालौर अभिलेख[599] में निश्रानिकसेप हाट शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य है कि यह एक बाजार जिसमें निर्यात के उद्देश्य से वस्तुओं का भण्डारण किया जाता था। लेखपद्धति के एक विवरण[600] में एक विशेष कर का उल्लेख है जो आयात एंव निर्यात की वस्तुओं पर लगाया जाता था (आगन-निगम-दान)।

व्यापारिक मार्ग जलमार्ग:

पूर्वमध्यकाल से पहले समुद्र द्वारा व्यापार में पर्शिया, भारत, इण्डोनेशिया, लंका सम्मिलित थे। सर्वप्रथम फारस ही इस व्यापार में प्रमुख था, किन्तु इस्लाम के उदय के साथ ही उसका स्थान अरब ने ले लिया, प्रारम्भिक काल में अरब केवल लूटमार करते थे[601], किन्तु अरब की विजय के बाद उनका पूर्व का द्वार खुल गया।[602] लगभग इसी समय पश्चिमी देशों में उम्याद खलीफा का नाम आया, इसने एंव चीन के त्यंग राजवंशों

ने व्यापार को काफी प्रोत्साहन दिया।[603] 607 ई0 मे चीनी सम्राट ने व्यापारिक सबधों को मजबूत बनाने के लिए ची-तू (स्याम) में दूतो का एक दल भेजा था काईतान (785-805) द्वारा यात्रा के विवरण से पता चलता है कि चीनवासियों को समुद्री मार्ग की कोई जानकारी नहीं थी कैन्टन एंव फारस की खाडी के मध्य, विशेषतौर पर क्वीलोन के पश्चिम में[604]। चीनी समुद्री व्यापार में भाग लेने में काफी धीमे थे किन्तु चीन द्वारा निर्मित जहाज़ों ने समुद्री व्यापार मे अपना हिस्सा बना लिया था। किन्तु इस व्यापार का अंत 878 में चीन की राजनीतिक उथल पुथल से हुआ अबू जैद इस संबंध में विवरण देते हुए कहते हैं कि चीनी साम्राज्य में राजनीतिक आस्थिरता एंव नाविकों एव व्यापारियों की खराब स्थिति के कारण चीन से व्यापार प्रभावित हुआ।[605]

अब व्यापार का केन्द्र मलय द्वीप के पश्चिम किनारे पर स्थित केदाह बन्दरगाह हो गया, जहॉ चीन एव अरब दोनों जगहों से समुद्री जहाज आते थे। 10वीं शती के अरब लेखकों ने इस व्यापार में इण्डोनेशिया के साम्राज्य की महत्ता की चर्चा की है।[606]

पुन: एक बार फिर चीन ने समुद्री व्यापार में रूचि लेनी प्रारम्भ कर दी। व्यापारिक मिशन विदेशों में भेजे जाने लगे, विदेशियों को विशेष सुविधायें प्रदान की जाने लगी इस सब का प्रभाव बढते हुए व्यापार में दिखाई देने लगा, इसकी मात्रा अब इतनी हो गई कि सरकार इसको संचलित एंव नियत्रिंत करने लगी।[607] 12वीं शताब्दी में चीनीयों ने यह व्यापार अरबों के हाथ में दे दिया।[608] किन्तु बाद में दक्षिणी चीन के संग साम्राज्य ने हंगचाऊ को अपना केन्द्र बनाया, जोकि समुद्री व्यापार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था, जिससे संग साम्राज्य का समुद्री व्यापार की तरफ रूचि का पता चलता है। अब चीन दक्षिण पूर्व एंव भारत के व्यापारिक मार्ग पर नियन्त्रण रख रहा था।[609] कुबलाई खान की अधीनता में चीन के समुद्री व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला, इससे दक्षिणी समुद्र के व्यापार में अरब के एकाधिकार को चोट पहुँची। यह स्थिति इब्न बतूता के समय तक चलती रही, चीनियों ने कालीकट से लेकर मालाबार बदरगाह तक अपने आप को सुदृढ़ कर लिया था।[610]

व्यापारिक गतिविधि में भाग लेने वाले देश

अरब:

9वी शताब्दी के मध्य से लगभग अरबो ने समुद्री व्यापार में अपने को स्थापित कर लिया था। समय-समय पर प्रतिरोधो के खडे होने पर भी अरबों ने अपना पांव सभी क्षेत्रो में जमाये रखा। यद्यपि 10वीं शताब्दी में समुद्री व्यापार विशेषतौर पर इण्डोनेशिया के पश्चिम के देशों, सुमात्रा के सभी बंदरगाहों जावा एव मलाया पर एकाधिकार कर रखा था, किन्तु 12वी शताब्दी में उन्हें चीनियों के कठोर प्रतिरोध का सामन करना पडा, जिन्होंने मालबार के बदरगाहो तक अपना व्यापार स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी।

अरबों के समुद्री व्यापार के इस विस्तार का श्रेय इस्लाम के उदय को देना चाहिए।[611] व्यापारियों के लिए यह प्रतिष्ठा का विषय हो गया था कि मुस्लिम धर्म के संस्थापक मुहम्मद साहब जीवन के आरम्भिक काल में व्यापारी थे।[612] फिर अरबों की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि प्रारम्भ से ही वे पूर्व एंव पश्चिम के समुद्री व्यापार में महत्वपूर्ण स्थिति निभाते थे।[613] अरबों एंव मुस्लिमो के विस्तार के फलस्वरूप पश्चिमी एशिया के राजनीतिक एकीकरण से फारस की खाडी एंव लाल सागर इसके अधिकार में आ गये जिससे इस क्षेत्र के अन्य साम्राज्यों में निराशा की स्थिति आ गई, इससे अरबों के सामुद्रिक व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा।[614] पश्चिमी एशिया एंव मिस्र के एकीकरण से अरबों ने भारत एंव अन्य पूर्वी देशों को जाने वाले समुद्री व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। यद्यपि विस्तृत जानकारी का अभाव है फिर भी इस काल में अरबी जहाजो के निर्माण का पता चलता है में भी आया।[615] चाउ-जू-कुआ के विवरण से पता चलता है कि, "विदेशी जहाज पानी के ऊपर बहुत ऊँचे थे कि इसकी सीढियाँ चौडाई मे कई टन एवं फीट की होती थी[616]।

लंका (सिलोन):

चीनी साक्ष्यों से पता चलता है कि तंग साम्राज्य के समय मध्य में सिलोन के समुद्री जहाज सबसे ज्यादा आते थे।[617] लंका को मानसून की स्थिति (दिशा)के कारण और लाभ था क्योंकि मलाया से सीधा संबंध स्थापित हो सकता था। यहाँ तक कि फाह्यान के समय जब वह

ताम्रलिप्ती से सुमात्रा की यात्रा कर रहा था, तब सिलोन होकर गया था।[618] यह इत्सिग के भारत यात्रा के काल तक चलता रहा।[619] कॉस्मास बताता है कि मूर्व एव पश्चिम के व्यापार के मध्य सिलोन मार्ग में पड़ता था।[619 A] जैन पुस्तक समराइच्चकहा से पता चलता है कि स्वर्ण भूमि में श्रीपुरा से नाव प्रतिदिन सिहलाद्विप जाते थे।[620]

चीन:

समुद्री व्यापार मे चीन ने सबसे अंत में प्रवेश किया, किन्तु धीरे-धीरे उसने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को पीछे छोड दिया। चीनी जहाज अन्य सभी जहाजों से अच्छे, बडे एंव सुरक्षित होते थे। यह स्वाभाविक ही था कि व्यक्ति चीनी जहाजो में ही यात्रा करना पसंद करते थे। इसमें लगभग 600 यात्री यात्रा कर सकते थे, समुद्री डाकूओं से लडने के लिए 400 सैनिक भी रहते थे।[621] 12वीं शती के अत तक चीनवासियों ने समुद्री घडी (प्रकार) का प्रयोग करना सीख लिया था, इससे नाविकों की वायु, सूर्य एंव तारों से दिशा के ज्ञान पर निर्भरता कम हुई[622] चीनियों ने समुद्र पार देशों के बारे में अपना ज्ञान बढाया एंव धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढे।[623] साथ ही चीनी राजा भी चीनी सामुद्रिक व्यापार को प्रोत्साहन एंव संरक्षण दे रहे थे। इस कार्य का प्रारम्भ दक्षिण चीन के सग साम्राज्य ने किया जिसका परिणाम कुबलई खान द्वारा किये गये प्रयासों में परिलक्षित होता है।

इण्डोनेशिया:

भौगोलिक रूप से इसकी स्थिति मध्य में होने का लाभ इण्डोनेशिया को प्राप्त हुआ। विदेशियो के सम्पर्क में बराबर आने से इन्होने अपनी नौका निर्माण कला में सुधार किया। कथाकोष[624] से संकेत मिलता है कि इन्डोनेशिया में नौकायन का कार्य राज्य द्वारा निरीक्षित एंव संरक्षित था।

भारत.

बाशम के अनुसार "जहाज निर्माण की भारतीय तकनीक एंव समुद्र यात्रा इस काल में अरबों एंव चीनियों से पीछे रह गई थी।[625] चीनी एंव अरबी स्रोतों में भारतीय जहाजों के कोई संदर्भ नहीं मिलते[626] जिससे प्रतीत होता है कि भारतीय जहाज चीन के जहाजों से छोटे एंव

कम अच्छे होते थे। मार्कोपालो ने अपनी विवरण में कहा है कि दचीन या मंजी के जहाज भारतीय जहाजो से बडे होते थे।[627]

इसके साथ ही भारतीय जहाजों की गति बहुत ही कम थी। चाऊ जु-कुआ[628] बताता है कि पूर्वी सुमात्रा से मलाबार की यात्रा एक माह से थोडे ज्यादा समय में पूरी हो जाती थी। समराइच्चकहा में पता चलता है कि ताम्रलिप्ति से चले जहाज स्वर्णभूमि पर दो माह में पहुँचते थे।[629] जबकि इन्हीं मार्गों पर चीन एंव अरब के जहाज जल्दी पहुँचते थे। भारतीय जहाजों की गिरती हुई स्थिति का एक कारण राजनीतिक रूप से इसको संरक्षण एंव प्रोत्साहन न मिलना भी था। सामंतवाद के उदय के परिणामस्वरूप राज्यों का आकार एंव शक्ति सीमित हो गये थे, जिनके लिए यह संभव नहीं था कि जल शक्ति की तरफ ध्यान देते। समुद्री लुटेंरों के भय ने इन्हें और सीमित कर दिया था। समुद्री व्यापार से ज्यादा लाभप्रद उन्हे समुद्री लुटेरे बन कर रहना था। दशकुमारचरित[630] से पता चलता है कि ताम्रलिप्ति का एक राजकुमार समुद्री लूटपाट में संलग्न था। जो कि एक बडी जहाज एंव अनेक छोटी नौकाओ के साथ यवन जहाजों को चारो तरफ से घेर लेता था। समय-समय पर गुर्जर राजाओं को इसी संज्ञा से विभूषित किया गया । मोतुपल्ली स्तम्भ लेख[631] से भी लगभग ऐसा उदाहरण मिलता है कि काकतीय राजा गणपति देव दावा करता था कि उसके पहले के राजा दो देशों के मध्य जहाजों के युद्ध में टूटे जहाज को जहाँ चाहते थे वहाँ जबरदस्ती ले जाते थे। प्रबंधचिंतामणि[631 A] में उल्लिखित है कि राजा योगराज के तीन राजकुमारों ने सोमेश्वर के बंदरगाह के निकट किसी अन्य देश के जहाज को लूट लिया था। इब्नबतूत भी ऐसा ही विवरण देता है कि समुद्री लूटपाट को राजकीय समर्थन प्राप्त था। इस काल में बढती समुद्री लूटपाट का उल्लेख प्रबंध चिंतामणी[632] उपमितिभवप्रपंचकथा[633] बोधिसत्ववदानकल्पलता[634] से मिलता है। इन सब तथ्यों के साथ भारतीयों में यह मान्यता थी कि समुद्र पार करते ही उनका धर्म भ्रष्ट हो जायेगा। वृहन्नारदीय पुराण[635] में कहा गया है कि कलियुग में समुद्र यात्रा करने की मनाई होगी क्योंकि यह स्वर्ग की प्राप्ति में बाधा पहुँचाता है।

मनु[636] कहते हैं कि जो व्यक्ति समुद्र -यात्रा में कुशल हो उसके लिए दिया जाने वाला धन सुनिश्चित कर देना चाहिए, जोकि

निश्चित स्थान एव समय पर इससे सबंधित अपने लाभ की गणना कर सकते है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[637] कहते हैं कि समुद्र यात्रा का उल्लेख केवल यात्रा के लिए किया है, किन्तु केवल व्यापारियो के लिए ही धन देने का प्रावधान है, जोकि जल एव स्थल मार्ग जानते हैं, दिया जाने वाला धन निश्चित कर देना चाहिए। लक्ष्मीधर[638] भी ''समुद्र यात्रा में कुशल'' की व्याख्या करते हुए कहते है कि उनका संकेत केवल व्यापारियों की तरफ है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय समुद्री मार्ग से बडी मात्रा में व्यापार करते थे तभी तत्कालीन टीकाकारों ने उनके ऊपर कर जैसा लगाने का प्रावधान किया है, जोकि केवल व्यापारियों पर ही था, न कि सामान्य यात्रियों पर।

(1) स्मिथ, समद्दर, ब्रलोर, शामशास्त्री, हॉपकिन्स, ब्यूलर

(2) वेडेन-पावेल, जायसवाल, आयगर

(3) मैने

(4) शतपथ ब्राह्मण 13 7 7 15

(4A) मीमासासूत्र 6 73

(5) स्प्रौट, सोश्लाजी पृ0 153, सेक्शन ऑन टेनर इन द, मीमासा दर्शन 6 7 3

(6) परमर्दीदेव चंदेल का अभिलेख (वि स 1230) इपि0 इण्डि0 16 2

(7) लेखपद्धति पृ0 8-10

(8) भूमि पर स्वामित्व के विभिन्न विचार के लिए के0वी0आर0 आयंगर, एशिएन्ट इंडियन इकोनॉमिक थॉट 1934

(9) लक्ष्मीधर का राज्यधर्मखण्ड, कात्यायन द्वारा उद्धत पृ0 90

(10) वीरमित्रादेय (राजनीति) बनारस संस्करण पृ0 271

(11) के0पी0 जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी (भाग 2) पृ0 173

(12) यू0एन0 घोषाल, हिन्दू हिस्टिरियोग्राफी एण्ड आदर ऐसे पृ0 164

(13) धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे भाग 3 पृ0 495

(14) असहाय, नारद स्मृति 4 93

(15) भट्टस्वामी, अर्थशास्त्र 2.24

(16) मनुस्मृति 8,39

(17) मेधातिथि मनु पर 8.39

(18) मिताक्षरा, याज्ञ0 4.318

(19) नारदस्मृति व्यवहारखण्ड मे उद्धत पृ0 459

(20) नारद स्मृति '' पृ0 460

(21) सचाउ खण्ड 66 पृ0 149

(22) मानसोल्लास 1.361-62

(23) कात्यायन 16-17

(24) राजनीतिप्रकाश पृ0 271

(25) कृत्यंकल्पतरू पृ0 90

(26) राजतरंगिणी 3 101

(27) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 190, 247

(28A) उपमितिभव प्रपचकथा पृ0 190

(28B) मिताक्षरा याज्ञ0 पर 1 38

(29) इपिग्राफिका इण्डिका 36 प्रकाशित 1965 न0 5

(30) मनुस्मृति 9 44

(31) मेधातिथि मनु पर 8 99

(32) देशोपदेश 2 6

(33) सुभाषितरत्नकोश 5.1175

(34) राजतरगिणी 4 55

(35) सेन, जनरल प्रिन्सिपल ऑफ हिन्दू ज्योरिसप्रूडेन्स पृ0 51

(36) आदिपुराण 17. 164

(37) राजतरंगिणी 4.346, 7. 494.

(38) यू0एन0 घोषाल, इण्डियन हिस्ट्रीयोग्राफी एण्ड ऑदर ऐसे

(39) मेधातिथि मनु पर 8 39

(40) मेधातिथि मनु पर 8. 99

(41) लल्लन जी गोपाल, इकोनॉमिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया पृ0 8-10

(42) मेधातिथि मनु पर 8 39

(43) मनुस्मृति 8.99

(44) अग्निपुराण 1 57 2-5

(45) कर्पूरमंजरी पृ0 189, 288

(46) राम चरित 3 17.19-20, इलियट डाउसन, द हिस्ट्री. . पृ0 67

(47) तत्रैव । पृ0 77

(48) जर्नरल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल

(49) तत्रैव पृ0 113 पृ0 282

(50) इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली 1930 पृ0 739

(51) इण्यिन एण्टिक्वैरी भाग 14 पृ0 209

(52) पुष्पा नियोगी, कन्ट्रीब्यूशन टू द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया पृ 3

(53) इण्डि0 हिस्टा0 क्या0 1930 पृ0 739,

(54) द एकांउट आफ वस्साफ इन ई0डी0 भाग 3 पृ0 31

(55) अर्थशास्त्र अनु0 शामशास्त्री द्वि0 संस्करण पृ0 141

(56) बृह्यसंहिता अनुच्छेद 55

(57) अग्निपुराण, एशियाटिक सोसाइटी आफॅ बंगाल सं0 3 अनु0 281

(58) उपवन विनोद इण्डियन पॉजिटीव साइंसेज सीरिज नं0 I कल0 1935

(59) इण्डि0 हिस्टा0 क्वाट0 1931 पृ0 22-23, लल्लन जी गोपाल (एशिन्एिट हिस्ट्री सेक्शन) 1963-64 पृ0 27-29 वृहत्पराशर (संहिता 5 60)

(60) टी0सी0 देशगुप्ता एस्पैक्टस आफ बंगाली सोसाइटी पृ0 229-30

(61) द्वयाश्रयकाव्य,हेमचन्द 19 पृ0 37

(62) अत्रिसंहिता 218 (चार छ. आठ बैल) पद्मपुराण 5 45, 107

(63) लेन व्हाइट, मडीवल टक्नौलोजी एण्ड सोशल चेंज, पृ0 43

(64) डी0सी0 सेन, बंगाली लैग्वेज एड लिटरेचर पृ0 25

(65) अपराजितपृच्छा पृ0 188

(66) तत्रैव पृ0 214

(67) लालराय प्रस्तर अभिलेख नाददौल के चहमान 11 पृ0 49-50

(68) सेवादि प्रस्तर अभिलेख वि0स0 1167/ 1110-50 इपि0इण्डि0 II पृ0 28-30

(69) राजतरंगिणी 5.74-80

(70) राजतरंगिणी 5 85-117

(71) तत्रैव 7.940

(72) मेरूतुग, प्रबंधचिंतामणि पृ0 78

(73) इपि0 इण्डिका0 II पृ0 325ण्330

(74) तत्रैव I पृ0 132

(75) तत्रैव 14 182

(76) इपि0 इण्डिका 4 पृ0 310

(77) तत्रैव पृ0 183

(78) तत्रैव पृ0 148

(79) तत्रैव अपराजितपृच्छा पृ0 188

(80) शुक्रनीतिसार, अनुवाद बी0के0 सरकार पृ0 148

(81) तत्रैव पृ0 148

(82) इण्डियन एण्टीक्वैरी, भाग 53 पृ0 192

(83) अपराजितपृच्छा पृ0 187

(84) इण्डि0 एण्टि0 भाग 53 पृ0 192

(85) अपराजितपृच्छा पृ0 187

(86) राहुल, हिन्दीकाव्यधारा पृ0 392

(87) बृहन्नारदीय पुराण 1 52, 3 50, 5.7

(88) मेधातिथि 8, 326

(89) मेधातिथि 8 320

(90) द्वयाश्रयकाव्य 3.4

(91) देशीनाममाला I 52, 3.50 5.7

(92) मानसोल्लास 3.1346-48 1358

(93) टी0सी0 देशगुप्ता 2 पृ0 427

(94) राजतरंगिणी 2 पृ0 427

(95) नवगांव कांस्य अभिलेख, जर्नलस ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल LXVI पृ0 285

(96) मानसोल्लास 3 1347 .

(97) अपरार्क याज्ञवक्य पर 1 212

(98) इलियट एंव डाउसन, द हिस्ट्री....... पृ0 38

(99) तत्रैव पृ0 15-16 इपि0 इण्डि0 10 पृ0 57, तत्रैव 2 पृष्ठ 236

(100) इपि0 इ0 10 पृ0 50 तत्रैव 14 पृ0 310 कुट्टनीमतम 228, नरमामला 1, 124

(101) तत्रैव 1 124 कुटटनीमतम पृ0 228-29, इपि0 इण्डि00 2 पृ0 56

(102) मेधातिथि 8. 326

(103) इपि0 इण्डि0 पृ 16 295

(104) काव्यमीमांसा 12. रामचरित 3 17

(105) राजतरंगिणी 2, 60, 7, 1574

(106) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 285, महापुराण I 10 . 44

(107) आर0सी0 मजूमदार, द हिस्ट्री आफ बंगाल 1 पृ0 651 मार्को पालो ट्रैवेल्स 2 पृ0 115 पुष्पा नियोगी इकॉनॉमिक हिस्ट्री इण्डिया पृ0 29

(108) मेधातिथि 8. 321

(109) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 420

(110) जे ओ एस आर एस I .301 राजतरंगिणी 4. 427, 5 365 7.544, 787, 945, 1067

(111) इण्डि0 एण्टी 14. 103 तत्रैव 1 204, इपि0 इण्डि 20 30-36 रामचरित 3.19 पृ0 93 राजतरंगिणी 4,192

(112) महापुराण 3 . 202 नलचम्पू पृ0 79 काव्यमीमांसा पृ0 134

(113) मेधातिथि 8. 2

(114) त्रिषष्ठीशलाकापुरूष-चरित, भाग 2 पृ0 32-133

(115) अभिधानचिंतामणि 4. 233

(116) मेधातिथि मनु पर 8. 320

(117) राजतरंगिणी खण्ड।

(118) सुलेमान का कथन

(119) स्कन्दपुराण पृ0 12

(120) लम्क्ष्मीधर समरांगणसूत्रधार पृ0 84

(121) लक्ष्मीधर का गृहस्थखण्ड 158, 157

(122) अर्थशास्त्र ब्रहमचारीखण्ड || अनुच्छेद ||

(123) पृ0 361 इलियट एण्ड डाउसन, द हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्ट्रॉरियन

(124) तत्रैव

(125) पृ0 14 इलियट एण्ड डाउसन, द हिस्ट्री.. . .1 पृ0 14

(126) राजतरंगिणी 7. 925, 927

(127) मार्कोपालो, यूले 2 115

(128) मानसोल्लास 3. 6 1017-20

(129) मार्को पोलो, सुलेमान 14

(130) इपिग्राफिका इण्डिका no. 21

(131) लेख पद्धति पृ0 32 2.9 10

(132) शांतिस्वरूप, 5000 ई0 आफ आर्ट एण्ड क्राफटस इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान पृ0 217

(133) रसारत्न सामुच्चय पृष्ठ 43-44 बी0पी0 मजूमदार इण्डियन कल्चर भाग 14 (जु0सि0 1947) नं0 1

(134) पी0सी0 रे, हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमेस्ट्री भाग 1 पृ0 156

(135) रर्सानव पृ0 79

(136) बी0 पी0 मजूमदार इण्डियन ग्रेवस, जरनल आफ द आइरन एण्ड स्टील इन्स्टीटयूट 1912 भाग 85 सं0 : 1 पृ0 200-2

(137) इण्डियन कल्चर भाग 14 सं0 1

(138) इलियट एण्ड डाउसन, ए हिस्ट्री.. .... 2 पृ0 33

(138A) युक्तिकल्पतरू 5 पृ0 24

(139) HIED 2 पृ0 227 इलियट डाउसन हिस्ट्री 2 पृ0 227

(140) युक्तिकल्पतरू पृ0 170 24.29

(141) सारंगधारा पद्धति सं0 पीटर्सन 1888 पंक्ति 4672-79

(142) युक्तिकल्परू पृ 170 पंक्ति 26

(143) तत्रैव पृ0 170 पंक्ति 27

(144) सारंगपद्धति पंक्ति 4676

(145) युक्तिकल्पतरू 28-29

(146) 'उत्बी ।। पृ0 44 इलियट एण्ड डाउसन, ए हिस्ट्री ऑफ मे उत्बी -

(147) बी0पी0 मजूमदार इण्डियन कल्चर

(148) रसारत्नसामुच्च 10, 5-6

(149) इलियट एण्ड डाउसन, ए हिस्ट्र . 2 पृ0 309

(150) क्षेमेन्द्र कलाविलास काव्यमाला श्रृखला नं0 1

(151) हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग1 संस्क0 आर0 सी0 मजूमदार खण्ड 1 पृ0 657

(152) खजुराहो जैन मूर्ति अभिलेख (वि0स0 1215/ई0 1157-58), इपिग्राफिका इण्डिका भाग I

(153) परमर्दिदेव से ग्रा अभिलेख, इपिग्राफिका इण्डिका 4 पृ0 153-70

(154) रामचरित, सन्ध्याकरनन्दि 3, 33-34

(155) नैषधचरित I 42

(156) पैरीप्लस, पृ0 36

(157) यूले, मार्को पोलो भाग 2 पृ0 395

(158) यूले, मार्को पोलो भाग 2 पृ0 383

(159) संदेश रासक पंक्ति 141

(160) एन0के0 भट्टसाली आइकनोग्राफी आफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राहमनिकल स्कल्पचर इन द ढाका म्यूजियम पृ0 17-18

(161) अपराजितपृच्छा पृ0 180 भाग पंक्ति 47

(162) बर्गीस एण्ड काउसेन, आर्केलॉलिकल सर्वे आफ वेर्स्टन इण्डिया पृ0 52

(163) एन0के0 भ्ट्टसाली पृ0 21

(164) नैषधचरित 7.75

(165) ए0 घोष एण्ड के0सी0 पाणिग्रही, एशेन्ट इण्डिया नं0 1

(166) ए0 घोष एण्ड के0 सी0 पाणिग्रही इन एन्शेन्ट इण्डिया न0 1 पृ0 37

(167) एन के भट्टसाली पृ0 22

(168) हिस्ट्री ऑफ बगाल, भाग 1 स0 पा0 आर0सी0 मजूमदार पृ0 656

(169) विक्रमांकदवचरित, 9 64,विद्या 1, 34, भावि0 12 9

(170) कुमारपाल प्रतिबोध 69 8

(171) कूल्लूभट्ट 66 3.2 जर्नलस ऑफ बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी 3 (1917) पृ0 226-27

(172) तत्रैव व 3.2 (1917) पृ0 226-27

(173) कुमारपाल प्रतिबोध पुराण 7 34-36 सं0,ए0बी0 एल0 अवस्थी स्टडीज इन स्कन्द पुराण, 312

(174) भोज युक्तिकल्पतरू पृ0 224-229 मजूमदार बी पी, सोश्यो इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया पृ0 204

(175) राजतरंगिणी 5. 84 7. 347, 714

(176) अहमद, एस0 एम0, पृ0 35

(177) युक्तिकल्पतरू,अुन 120-21, पृ0 224-229

(178) कमौली लेख, रामचरित का टीका 2 पृ0 10

(179) विजयसेन, देवपाड़ा अभिलेख 22वीं पंक्ति

(180) इलियट एण्ड डाउसन ए हिस्ट्री आफ... .... .भाग 2 पृ0 478

(181) इपिग्राफिका इण्डिका 19 पृ0 56

(182) इलियट एंव डाउसन ए हिस्ट्री आफ. . . . भाग 2 पृष्ठ 78

(183) महापुराण 2.37,177

(184) स्कन्दपुराण 2.9,5.29 सं0 अवस्थी बी0एल0 स्टडीज इन स्कन्द पुराण पृ0 310-331

(185) महापुराण 2 30-35 देसिनामाला 3 41,45, 8, 9, 6.35, 41, 50

(186) मेधातिथि 11 93, 94

(187) यशोधर की रस प्रकाश सुधाकर, गौडे, भारतीय विद्या 7 (1946) पृ0 148-160

(188) नित्यनाथसिद्ध की रसारत्नकार तत्रैव पृ0 148-160

(189) रसारत्नसामुच्च (9 34-36)

(190) हिन्दू कैमेस्ट्री 11 पृ0 123

(191) अपराजितपृच्छा पृ0 179 आर0सी0 मजूमदार पृ0 658

(192) क्षेमेन्द्र की समयामात्रृका, दशरथशर्मी की राजस्थान थ्रोद एजेज भाग 1 पृ0 490

(193) पुष्पा नियोगी, इको0 लाइफ आफ नार्दन इण्डिया पृ0 247

(194) मेधातिथि 8. 41 इपि0 इण्डि0 24 पृ0 331 मिताक्षरा 3 48

(195) इपि0 इण्डि01 पृ0 160, 167-68 174-75

(196) तत्रैव व पृ0 162, 168, 188,

(197) तत्रैव पृ0 166 168 188

(198) मेधा0 8-219

(199) भटटोत्पल, बहत्सहिता पर 34-19, लल्लन जी गोपाल, द इको0 लाइफ आफ नार्दन इण्डिया, पृ0 82, 83

(200) विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्य 2-30

(201) देवण्णभट्ट स्मृति चन्द्रिका 2 पृ0 223

(202) अलबरूनी सचाउ 1 पृ0 101

(203) इपिग्राफिका इण्डिका 23 पृ0 138 पंक्ति 16-17

(204) तत्रैव इपि0, इण्डि 1 पृ0 154 और 285

(205) देवण्णभट्ट स्मृतिचन्द्रिका 2 223

(206) अपरार्क पृ0 792-93

(207) स्मृतिचन्द्रिका 222 और 23 (नारद समयास्यानपकर्म)

(208) याज्ञवल्क्य 2 92 एवं नारद समायास्यानपकर्म 2

(209) अपरार्क पृ0 794

(210) शुक्रनीतिसार (स0 कलकत्ता) 4 5.30

(211) इपि0 इण्डि 1 पृ0 154 161-162

(212) मेधातिथि 3 पृ0 189

(213) इपि0 इण्डि 1 पृ0 189

(214) मेधातिथि 8.211

(215) राजा का उपज मे अश अर्थशास्त्र मे उल्लिखित भाग स्मृतियों मे बलि, घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 290

(216) अल्तेकर राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स पृ0 214-16

(217) कीलहार्न इपि0 इण्डि 7 पृ0 160

(218) घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 214

(219) फ्लीट कार्पर्स इन्स्क्रिपशन्स इण्डिकारम 3 पृ0 254

(220) अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स पृ0 214-16

(221) परमार भोज का महुदी और बेतमा लेख, इपि0 इण्डि033 217-18, 322-24 देवपाल का मंधाती लेख, इपि0 इण्डि 9 पृ0 108-13, कलचुरिदान पत्र, इपि0 इण्डि0 7 स0 9 ।

(222) प्रतिहार मलयावरम का कुरेथा दान पत्र इपि0 इण्डि 30 148-50

हम्मीरवमदिव औरवीरवर्म्मदिव, चंदेल का चरखारी पत्र, इपि0 इण्डि 20 133-135

(223) यू0एन0 घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 290 डी0सी0 सरकार, सेलेक्टेड इन्स्क्रिपशनस पृ0 372

(224) अमरकोष पर टीका 2.8.28

(225) अर्थशास्त्र की टीका भटटस्वामिन 2.15 जे0वी0ओ0आर0एस0 11 सं0 3 पृ0 83

(226) आर0 एस0 त्रिपाठी इण्डियन हिस्टौरिकल क्वाटर्ली 9 पृ0 128

(227) आर के दीक्षित, जे0 यू0 पी0 एच0 एस0 23.243 जर्नल्स ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्ट्रौरिकल सोसाइटी 23 पृ0 243

(228) ए0के0 मजूमदार, चालुक्या आफ गुजरात पृ0 248

(228A) इपि0 इण्डि 3 123 245 13 . 34 15 15 22 50 400 32 42 इण्यि0 इण्टिक्वैरी 19.244

(229) मनुस्मृति पर 8.307

(230) मेधातिथि, मनु पर टीक 8.307

(231) कुल्लूक भट्ट मनु पर टीका 8.307

(232) वितरण्यकाधिरम यस्यम भागभोगदिकनकरन पृ0 29 समारागण सूत्रधार

(233) मानसोल्लास भाग 1 पृ0 44

(234) गृहस्थ खण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 255

(235) अभिलेख 1236 वि0 स0

(236) द्वयाश्रयकाव्य 3 पृष्ठ 18

(237) मेधातिथि मनु पर 8.307

(238) आर0के0 दीक्षित जे0यू0पी0एच0एस0 22 243

(239) अनुवाद अर्थशास्त्र पृ0 58

(240) राजतंरगिणी 7.265-67 991; 8 170 इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख 1.22

(241) वैजयन्ती पृ0 107, 1 89, अभिधानरत्नमाला V 433

(242) मनु पर 8 307 मेधातिथि

(243) मनु पर 8.307 कुल्लूकभट्ट

(244) अमरकोष पर 2.8 28

(245) प्राणनाथ द्वारा उद्वत इकोनामिक कन्डीशन पृ0 253

(246) इपिग्राफिका इण्डिका 8 पृ0 44

(247) यू0 एन0 घोषाल द्वारा उद्वृत हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 56

(248) सेनार्ट, इपिग्राफिका इण्डिका 7 61

(249) कीलहार्न, इपिग्राफिका इण्डिका 1.7 160

(250) वोगल, एण्टीक्वीटीज ऑफ द चम्बा स्टेट पृ0 167-69

(251) स्टेट इन एन्शिएट इण्डिया पृ0 302 एन0सी0 बेधोवाध्याय

(252) घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 62

(253) डी0सी0 सरकार, सेलेक्टेड इस्क्रिपशन पृ0 372

(254) अलबरूनी सचाउ भाग 1 पृ0 149

(255) मानसोल्लास भाग 1 पृ0 44

(256) हरदत्त, गौतमधर्मसूत्र, चौखम्भा संस्कृत माला 10.25

(257) इपिग्राफिका इण्डिका 3 पृ0 36

(258) इपिग्राफिका इण्डिका पृ0 8; 7 पृ0 6

(259) यू0 एन0 घोषाल हिन्दू रवेन्यू सिस्टम पृ0 243

(260) तत्रैव पृ0 260 कस्टम देवपाल का मंधातापत्र-इपि0 इण्डि0 9 108.-13

(261) डी0सी0 सरकार सेलेक्टेड इन्सिक्रि पृ0 371, यू0एन0 घोषाल हि0 रे0 सि0 पृ0 210

(262) अल्तेकर राष्ट्रक्रूटास एण्ड देअर टाइमसपृ0 214 डी0 शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टी पृ0 211

(263) मिराशी, कार्प0 इन्सि0 इण्डि0 5 पृ0 12

(264) इपि इण्डि0 23 159 एफ0एफ0, मसारूल दानपत्र

(265) मैती- इकनॉमिक लाइफ इन गुप्ता पीरियड पृ0 62

(266) भट्टस्वामिन, अर्थशास्त्र पर 6 15

(267) लल्लन जी गोपाल, दि इकनामिक लाइफ आफ नार्दन इण्डिया पृ0 41

(268) गोविन्द चन्द्र का अनुदान पत्र इपिग्राफिका इण्डिका 2.359-61

(269) मदन लाल के सामंत का अनुदान "इपि0इण्डि0 9 नं0 1

(270) विग्रहपाल III का अनुदान, "इपि0 इण्डि, 15, 295-8

(271) यू0 एन0 घोषाल, हि0 रे0 सि0 पृ0 219

(272) तत्रैव पृ0 264

(273) इपिग्राफिका इण्डिका 30 262-63

(274) पृ0 253, हरिभद्र की टीका कल्पसूत्र, प्राणनाथ द्वारा उद्धृत इकोनॉमिक कंडीशन पृ0 59

(275) इपिग्राफिका इण्डिका 7 पृ0 उ36

(276) कार्प0 इस्क्रि0 इण्डि0 3. नं0 46

(277) धर्मशास्त्र का इतिहास काणे खण्ड 3 पृ0 264-66

(278) इण्डियन एण्टीक्वेरी पृ0 2012

(279) इपि0 इण्डि0 नं0 23

(280) इण्डि0 एण्टी0 पृ0 165

(281) लेखपद्धति पृ0 12-16

(282) इण्डियन एंण्टि 5 पृ0 115

(283) फ्लीट कार्प0 इस्क्रि0 इण्डि0 3 पृ0 189

(284) धर्मसिन्धुसार 2 19

(285) सूत्रशास्त्र अनु01 पंक्ति 21 बम्बई 1880, पृ0 38

(286) बेनी प्रसाद, स्टेट इन एन्शिएन्ट इण्डिया पृ0 303

(287) जाली हिन्दूलॉ एण्ड कस्टम्स पृ0 268-70

(288) नारदस्मृति 1 11

(289) शुक्रनीतिसार 4.5 161-64

(290) बेनी प्रसाद स्टेट, इन एशिएण्ट इण्डिया पृ0 303

(291) बी0पी0 मजूमदार, सोश्यो इकानामिक हिस्ट्री पृ0 237

(292) आर0 नियोगी पृष्ठ 183

(293) इपि0 इण्डि0 33.244-45 (II 2-8,10-16)

(294) मिराशी, जर्नलस आफ द न्यूमिसमैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया 7,29

(295) घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 294

(296) लल्लन जी गोपाल, इको0 हिस्ट्री आफ पृ0 54

(297) बी0पी0 मजूमदार, सोश्यो इकानामिक हिस्ट्री पृ0 233

(298) लल्लन जी गोपाल, इकानामिक हिस्ट्री पृ0 54

(299) आर0 नियोगी, पृ0 183

(300) इला0 संग्रहालय में गोविन्द चन्द इपि0 इण्डि0 33, 178-80 में कुडी को कुटकसे अर्थ ले लिया

(301) यू0 एस0 घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 213

(302) आर0 नियोगी, पृ0 173

(303) लल्लन जी गोपाल, इकानामिक हिस्ट्री पृ0 55

(304) अर्थशास्त्र 5. 2

(305) अर्थशास्त्र 2. 29 30

(306) आर0 नियोगीआई0एच0 क्यू0 पृ0 174

(307) आर0एस0 त्रिपाठी जे एच आर 9 129

(308) बी0पी0 मजूमदार, सोश्यों इकानॉमिक हिस्ट्री पृ0 237

(309) शुक्रनीति 4 2 127

(310) लल्लन जी गोपाल हिन्दू रिवेन्यू सिस्टम पृष्ठ 296

(311) यू0 एन0 घोषाल हिन्दू रि.सि पृ0 226

(312) इपि0 इण्डि0 32. 121-23.20. 129-31. 14. 12&14

(313) इपि0 इण्डि0 9 सं 1

(314) यू0एन0 घोषाल, हि0 रे0 सि0 पृ0 215.217

(315) अल्तेकर, राष्ट्रकूटास एण्ड देअर इम पृ0 228

(316) यादव, सोसाइटी एण्ड इकॉनॉमीइन इन नार्दन इण्डिया 800-1200 ई0 पृ0 290 -97

(317) तत्रैव पृ0 152

(318) सांख्यतत्वकौमुदी द्वारा जी0 एन झा0 पृ0 53 2. 17-21

(319) कुल्लूकभट्ट (मनुपुर) 7. 118

(320) वस्तुपालचरित जामनगर प्रेस संस्करण पृ0 59

(321) वस्तुपालप्रबन्ध, उद्धत बसंतविलास महाकाव्य अनुक्र 1 पृ0 83

(322) द्वयाश्रयकाव्य, हेमचन्द्र 3.5.2

(323) लेखपद्धति पृ0 8-9

(324) उदाहरण देखे कलैक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इस्क्रिपशन्स पृ0 150 पृ0 158

(325) राजतरंगिणी 2 399 7 140 8 2507

(326) फ्लीट (वोगल एण्टीक्स ऑव चम्बा स्टेट पृ0 133

(327) राजतंरगिणी 5 397-98 भाग पृ0 228

(328) स्टेम (राजतंरगिणी 5. 397 98)

(329) प्रबन्धचिन्तामणी अनुवाद तावने पृ0 96

(330) ओ0पी0 श्रीवास्तव कमर्शियल टैक्शसन इन इण्डिया पृ0 19

(331) गुणभद्र की उत्तरपुराण

(332) रासमाला, अनुवाद ए0के0 फोर्बस, नई दिल्ली 1973 पृ0 155

(333) मानसोल्लास जी0के0 श्रीगेंडेस्कर द्वारा संस्कृरित बडौदा 1925–39 28 भाग I 2-3 374–76

(334) लेखपद्धति पृ0 54–55

(335) डी0 शर्मा, राजस्थान थ्रू द एज, बीकानेर 1966 पृ0 324–26 इपि0 इण्डि 35 पृ0 135

(336) डी0सी0 सरकार इण्डियन एपिग्राफी पृ0 400

(337) इपि0 इण्डि 30 पृ0 176 5 52

(338) डी0सी0 सरकार, स्टडी इन द पालिटिकल एडमिनिस्ट्रेटिव इन एन्शिऐन्ट अर्ली मेडिवल इण्डिया 1974 पृ0 195

(339) इपि0 इण्डि 25 पृ0 225 पंक्ति 32

(340) मिराशी, सी0आई0आई0 पृ0 150–157

(341) सरकार स्टडीज इन पृ0 150–172

(342) एन0जी0 मजूमदार इन्स्क्रिप्शन आफ बंगाल भाग 3 1929 पृ0 171– 176 डी0सी0 सरकार इण्डियन इपि0 पृ0 427

(343) जी0एम0 मोरेस, दंकदम्ब कुलएहिस्ट्री आफ एन्शिएट एण्ड मेडिवल कर्नाटक पृष्ठ 381

(344) इपि0 इण्डि, 13 पृ0 195

(345) तत्रैव पृ0 145

(346) नीतिवाक्यामृतम 19.21

(347) यशास्तिलक चम्पू भाग 2 वाराणसी 1971 पृ0 326–27

(348) बीजगणित, संस्करण वी जी आप्टे, पूना 1930 पृ0 122

(349) रासमाला ए0के0 फोंबस पृ0 192

(350) खतरगच्च्वृहद गुरावावला तत्रैव व सं0 जिनविजय मुनि बम्बई 1957 पृ0 2

(351) जबलपुर प्रस्तर अभिलेख 1377 ई0 (यशकर्ण का) सी0आई0आई0 पृ0 636–649

(352) महालिंगम साउथ इण्डियन पॉलिटी पृ0 441

(353) तत्रेव इसे मुख्य मार्ग का टोल कर बताया गया पृ0 441

(354) एस0आई0आई0 भाग 4 स0 20 पृ0 41 , नान्देल अभिलेख 1167ई0, तत्रैव भाग 10, 429

(355) इपि0 इण्डि 22 सं0 20 पृ0 41

(356) सामंतसिह देव का जूना बाडमेर प्रस्तर अभिलेख, इपि0 इण्डि 11पृ04

(357) ओ0पी0 श्रीवास्त "शुल्का इन एंशिएन्ट ----- पृ0 18-22

(358) तत्रैव जे0जी0 जे भाग 37 पृ0 133, 146-407

(359) मृच्छकाटिकम एम0आर0 काले का सस्करण 4.1

(360) लेखपद्धति पृ0 54

(361) कुमारपालचरित अनुवाद एंव संस्करण बी0के0 सरकार झासी पृ0 212-13

(362) शुक्रनीतिसार, अनुच्छेद 3

(363) इपि0 इण्डि भाग 21 पृ0 142

(364) इपि0 इण्डि 2 पृ0 117-125

(365) तत्रैव सं0 5 पृ0 32

(366) इण्डियन एण्टिक्वैरी, भाग पृ0 162

(367) इपि0 इण्डि0 22 स0 20 4 तत्रैव 3 सं036 पृ0 263-267

(368) बिबलोथिका इण्डिका पृ0 158-60

(369) इण्डि0 एण्टि 6 पृ0 201

(370) इण्डियन एण्टिक्वेरी 20 1912 पृ0 23-21, ए0 के0 मजुमदार पृ0 250

(371) इन्साइक्लोपीडिया बिटैनिका भाग 8 लंदन 1960 पृ0 956

(372) अर्थशास्त्र 2,1.28-37

(373) तत्रैव

(374) इपि0 इण्डि II पृ0 124

(375) डी0 सी0 सरकार, हि0 रे0 सि0 141-42,00

(376) - डी0सी0 सरकार सेलेक्टइन्स्क्रिप्शन्स भाग II पृ0 285, 290, 303

(377) इपि0 इण्डि 34 पृ0 225 17 तत्रैव 4 पृ0 100-01

(378) गहडवाल नरेश हरिश्चन्द्र का मछली शहर पत्र 1195 इपि0 इण्डि 10 पृ0 95

(379) गहडवाल साक्ष्यो से उद्धृत घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 57

(380) सेनवंश का लेख, इन्सि0 आफ बगाल 3 सं0 15,
लल्लन जी गोपाल इको----- पृ0 61

(381) कार्प0 इन्स्क्रि0 इण्डि0 04 पृ0 545-662

(382) मिराशी ने इसे मदिरा पर का बताया है, कार्प0 इन्सिक्र इण्डि0 पृ0 629-331

(383) 13वी शती के परमार राजवंश का लेख, इपि0 इण्डि 33 पृ0 148-156

(384) 1161 वि0स0 का बसाही अनुदान पत्र इण्डि एण्टि 14 पृ0 103

(385) घोषाल, हि0 रे0 स0 पृ0 237

(386) इपि0 इण्डि0 भाग 14 सं0 21

(387) कमौली अनुदान पत्र, इपि0 इण्डि 4 सं0 11

(388) त्रिकलिंगा के सोमवंशी राजा का अनुदान पत्र, इपि0 इण्डि 11 स0 14

(389) त्रिपुरी के कलचुरिंका अनुदानपत्र कार्पइन्डिक0 इण्डि0 पृ0 324-31 645-52

(390) आर0 एस0 त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज पृ0 348

(390A) घोषाल हि0 रे0 सि0 पृ0 263

(390B) लेउमन, इपि0 इण्डि 3 एडिशन एण्ड करैक्शन पृ0 8

(391) मिराशी, कार्प0 इन्डिक0 इण्डि0 104 पृ0 324-31

(392) मथनदेव का राजौरी अभिलेख इपि0 इण्डि 3 266-67

(393) लल्लनजी गोपाल, इकॉलाइफ ----- पृ0 48

(394) क्षीरस्वामी का भाष्य अमरकोष पर 2 8 27

(395) अमरकोष त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रंथमाला नं0 51 भाग 3 खण्ड 2 पृ0 6-10

(396) वैजयन्ती, एच0 शास्त्री सस्करण 1971 6 5 89

(397) अभिधानचिंतामणि नेमिचन्द्र शास्त्री संस्करण 1964 3 388 पृ0 178

(398) दशकुमारचरित, एम0आर0 काले सस्करण 1979 पृ0 192

(399) ह्वेनसांग, वार्टस, पृ0 176

(400) शुक्रनीतिसार, अनुसार बी0 के0 सरकार नई दिल्ली 1975 पृ0 149-257-58

(401) लेखपद्धति पृ0 54, यादव सो0क0 इण्डि पृ0 279 पृ0 294

(402) तत्रैव 294 पृ0 14-15

(403) तत्रैव पृ0 14 तत्रैव

(404) इपि0 इण्डि 28 पृ0 323

(405) सरकार, इण्डि इपि0 पृ0 402

(406) इपि0 इण्डि 23 पृ0 131, सरकार इण्डि एपि गॉल0 पृ0 109

(407) तत्रैव पृ0 199

(408) वैजयन्ती 4.2. 18 अभिधानचिंतामणि 3.543 समयमात्रृक 5.85 मेरूतुग की प्रबंधचितांमणि पृ0 51, 2 13-15

(409) इपि0 इण्डि 9 302 इपि0 इ0 30 पृ0 52

(410) इपि0 इण्डि 18 पृ0 304-07 ततैव 15 पृ0 295-98 आर0 आर0 मुखर्जी एवं मैती, कॉपर्स ऑफ बंगाल इन्स्क्रि0, कलकत्ता 1967, पृ0 100 130,183,202

(411) कार्प इस्क्रि0 इण्डि0 4 पृ0 390

(412) व्यवहारखण्ड 12 कृत्यकल्पतरू पृ0 789

(413) के0 वी0 आर् आयंगर, इन्ट्रोडक्शन टु व्यवहार खण्ड आफ कृत्यकल्पतरू, बडौदा 1958 पृ0 123

(414) तत्रैव पृ0 789

(415) विज्ञानेश्वर याज्ञ पर 2. 263

(416) अपरार्क, याज्ञवक्य पर 2.363

(417) कुल्लूकभट्ट, मनु पर 8.404-407

(418) वी0 काकासभाई पिल्लई दतमिल एटीन हड्रैड ईअरस अगो मद्रास 1904 पृ0 112

(419) रासमाला पृ0 155-188

(420) डी0 शर्मा, राजस्थान थ्रू द एजेस पृ0 491-92

(421) इपि0 इण्डि 25 पृ0 232-33 सी0आई0आई0 4 स0 31-32

(421A) अल्तेकर, स्टेट एण्ड गर्वनमेन्ट आफ ऐन्शेन्ट इण्डिया, दिल्ली 1958 पृ0 278

(422) सियादोनी अभिलेख, इपि0 इण्डि I पृ0 175 20-26

(423) इपि0 इण्डि 3 सं0 36

(424) एस0 आई0आई0 8. 851

(425) विस्तृत विवरण के लिए ओ0पी0 श्रीवास्तव शुल्क इन इण्डिया जे0जी0जे0 पृ0 138-139

(426) मेधातिथि, मनु पर 8 406

(427) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8. 406

(428) विवादरत्नाकर कु0 स्मृतितीर्थ संस्करण, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल कलकत्ता 1931 पृ0 305

(429) उत्तरपुराण सस्क पी0 एल0 जैन, वाराणसी 1968 120 पृ0 125-28

(430) श्रीगोडेकर संस्क जी0ओ0एस0 सं0 28 बडौदा भाग 1 पृ0 62-374-77

(431) मी0ई0एच0एन0 आई0 पृ0 145-46

(432) इपि0 इण्डि भाग 12 पृ0 195

(433) इपि0 इण्डि0 भाग 10 पृ0 209

(434) मानसोल्लास भाग 2 पृ0 164

(435) तत्रैव भाग 2 पृ0 326 -27

(436) लेखपद्धति पृ0 10, 54

(437) तत्रैव पृ0 93

(438) तत्रैव पृ0 16

(439) तत्रैव पृ0 107

(440A) लेखपद्धति पृ0 13

(440) एशि0 सो0 आ0 इण्डि 1908-9 पृ0 45

(441) बसाही अभिलेख 1103ई0 इण्डि0 एण्टी0 14 पृ0 103 कमौली अनुदानपर 1104 इ0 इपि0 इण्डि 2 पृ0 260

(442) आई0ई0जी0 पृ0 84-85 इण्डि एण्टि 30 पृ0 107 267 इपि0 इण्डि 16 पृ0 52

(443) आर0 नियोगी पृ0 177-78

(444) जरनलस आफ 111 पृ0 113

(445) बी0 पी0 मजूमदार, सोश्यो इकानॉमिक हिस्ट्री पृ0 127

(446) स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया 4 वां संस्क0 पृ0 400

(447) अल्तेकर, राष्ट्र0 एण्ड देअर टाइम्स पृ0 233

(448) लल्लन जी गोपाल इको लाइफ इन ना0 इण्डि0 पृ0 50

(449) स्टेन कनॉउ इपि0 इण्डिका 9 पृ0 321

(450) बी0पी0 मजुमदार, सोश्यो इका ---- पृ0 126

(451) इण्डि0 एण्टी0 14 पृ0 318

(452) इपि0 इण्डि0 28 पृ0 324-26

(453) राजनीतिरत्नाकर पृ0 4

(454) मेधातिथि मनु पर 19 323

(455) स्टेन कनॉउ इपि0 इण्डि

(456) आर0 नियोगी पृ0 179

(457) लल्लन जी गोपाल, इकॉ ला0 इन नादि0 इण्डि पृ0 52

(458) लक्ष्मीधर, व्यवहारखण्ड पृ0 19

(459) राजतरंगिणी, प्रस्तावना सं0 के0वी0आर0 आयंगर पृ0 93

(460) मानसोल्लास 1 पृ044, 163 154, 165, 166

(461) लेखपद्धति पृ0 19

(462) मनसरा प्रशास्ति पी0के0 आचार्य सस्क0 पृ0 284, 29-6

(463) उदयसुन्दरीकथा पृ0 56

(464) इण्डि० इण्टि० 17 पृ० 244

(465) तत्रैव पृ० 172-73 वि० स० 1209

(466) इपक पृ० 172 73 वि० स० 1209

(467) लटकमेकल, भाग II पृ० 18

(468) तत्रैव ''

(469) तत्रैव ''

(470(सी० पी० एस० आई० पृ० 158 1 19

(471) राजतरंगिणी 172-75

(472) दरपदलाना

(473) कुमारपालप्रतिबोध

(474) अपराजितपृच्छा

(475) श्रीहर्ष

(476) चोल

(477) तिलकमजरी पृ० 117

(478) राजतरंगिणी 7.190-195

(479) मेधातिथि 1 90, 31, इपि० इण्डि० 19 नं० 9 पृ० 56

(480) मेधातिथि मनु पर 1 90, 31

(481) तत्रैव 9.331

(482) तत्रैव 90 332

(483) कथासरित्सागर पृ० 85

(484) कुवलयमाला पृ० 65-66

(485) कुवलयमाला पृ० 65-66

(486) इपि० इण्डि० 19 म० 9 पृ० 56 इण्डि० एण्टि (1929) पृ० 161

(487) इपि० इण्डि 1 186

(488) इपि० इण्डि 11 पृ० 37, डी० शर्मा ई०सी०डी० पृ० 208

(489) सी०पी०एस०आई० पृ० 158

(490) इपि० इण्डि० भाग 14 पृ० 21

(491) सस्क0 ए0के0 मजूमदार, चालुक्या ऑफ गुजरात, 246

(492) याज्ञवल्क्य पर विश्वरूप 2, 192

(493) विश्वरूप पृ0 796

(494) अपरार्क

(495) वृहत्कथाकोष 55 200

(496) तिलकमंजरी पृ0 117

(497) सुव्रततिलक पृ0 11 2. 29

(498) भविष्यकथा पृ0 16

(499) कथासरित्सागर 5 पृ0 199, इलियट एंव डाउसन, ए हिस्ट्री पृ0 78-79

(500) समराइच्चकहा पृ0 476

(501) त्रिपष्ठीशलाकापुरूषचरित भाग 1 पृ0 7

(502) उपमितिभव प्रपंचकथा पृ0 867-868

(503) मेधातिथि 8.290

(504) वृहन्नारदीय पुराण 24.26

(505) एस0एम0 अहमद, पृ0 35

(506) राजतरंगिणी 5 71, 276, 195 7. 347,714

(507) लीलावती पृष्ठ 35

(508) मेधातिथि 8. 156

(509) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 863 मेधातिथि 7. 185

(510) दामोदरगुप्त 218-19

(511) कथासरित्सागर 2 पृ0 109

(512) इलियट एंव डाउसन, विपरी ए हिस्ट्री 1 पृ0 4
समयमात्रक 2 3

(513) तिलक मंजरी पृ0 66

(514) कथासरित्सागर 4 पृ0 192-93 उपमिति0 पृ0 863

(515) वैजन्ती पृ0 160 2. 31-33

(516) अभिधानरत्नमाला 289

(517) देसीनाममाला 3 31, 4 39 7 55 8 6 I 145

(518) तत्रैव 3 31

(519) अभिधानरत्नमाला 5. 289

(520) समरांगणसूत्रधारा 1 पृ0 39 15 पृ0 863

(521) कथासरित्सागर 4 पृ0 192-93 उपमिति पृ0 863

(522) द लाइफ, पृ0 60, 73, 86, 198 इत्सिग पृ0 31-13

(523) संदेशरासक 5 117

(524) त्रिषष्ठीशलाकापुरूषचरित

(525) उपतिभवप्रपंचकथा पृ0 363

(526) कथाकोषप्रकरण पृ0 207

(527) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 633

(528) बौद्धागण-ओ-देएका 49

(529) राजतरंगिणी 7 पृ0 127

(530) कविकांतभरण 5 पृ0 22

(531) देसीनाममाला 8 21

(532) तिलकमंजरी पृ0 117

(533) समयमातृका 2 पृ0 3

(534) हेमाद्रि, चतुर्वगचिंतामणि धनखण्ड पृ0 421

(535) अबूजैद हसन, एशेन्ट एकाउण्ट आफ इण्डिया एण्ड चाइना पृ0 87

(536) वृहत्कथाकोषसंग्रह 18 355-56

(537) प्रबंधचिन्तामणि पृ0 106 2 4-7

(538) तिलकमंजरी पृ0 66

(539) कार्प0 इस्क्रि0 इण्डि0 4 7, 25, 26

(540) युक्तियुक्तप्रकरण पृ0 46 1 2 पृ0 39 1 7

(541) राजतरंगिणी 5.847 347, 714, 1628

(542) पी0सी0 चौधरी, हिस्ट्री आफ सिविलइजेशन आफ असम पृ0 379

(543) चाउ-जू कुआ पृ0 113

(544) एच0आई0डी0, जे0पी0 77

(545) तत्रैव 3 पृ0 30

(546) फेरन्ड 31 ए0आई0 के0 पृ0 402

(547) एच0 आई0 ई0 टी0 पृ 85

(548) तत्रैव पृ0 77

(549) एच0 आई0 ई0 टी0 पृ0 14

(550) तत्रैव पृ0 5आर0ए0एस0 पृ0 17

(551) मजूमदार हिस्ट्री आफ बंगाल पृ0 122

(552) मार्कोपालो, ट्रवैल्स 2 पृ0 115

(553) इब्नबतूता, पृ0 14

(554) फेरन्ड, 44, 105

(555) चाउ-जू कुआ पृ0 113

(556) एच0 आई0 ई0 डी0 पृ0 15 अनु0 पृ0 53

(557) ए0आई0के0 पृ0 402

(558) चाउ जू कुआ पृ0 113

(559) स्मिथ महोदय इसे लेपीस लजूली बताते हैं

(560) चाउ-जू कुआ पृ0 111

(561) तत्रैव पृ0 92

(562) मार्कोपोलो ट्रैलेल्स, भाग 2 पृ0 328

(563) तत्रैव'' '' पृ0 228

(564) एच0आई0ई0 1 पृ0 67

(565) इब्नबतूता पृ0 14

(566) कौउ 2 पृ0 311 इकानामिक कन्डीशन आफ साउर्दन इण्डिया

(567) एच0आई0ई0डी0 1 पृ0 11

(568) अभिधानरत्नमाला 2 174

(569) इब्नसैद, फेरान्ड 48 पृ0 404

(570) इब्नबतूता पृ014

(571) तत्रैव

(572) बसंतविलास महाकाव्य 10-13

(573) तत्रैव '' ''

(574) इब्नबतूता पृ014

(575) उपमितिभवप्रपंचकथा । पृ0 404

(576) इब्नखुर्दादबा, एच0आई0डी0 1 पृ0 अनु0 पृ0 54

(577) अबू जैद एंव मसूदी पृ0 8

(578) ब्रिटस्चनिउर, मैडवल रिसचर्स भाग 1 पृ0 146-47 भाग 2 180,193, 272

(579) मार्कोपोलो ट्रैवेल्स 1 पृ0 90, 93, 125, 212, 215

(580) एफ0 आर0 एम0 पृ0 189

(581) ब्रिग्स भाग 4 पृ0 551

(582) एच0आई0ई0डी0 1 पृ0 468

(583) इब्नबतूता पृ0 14

(584) एच0 आई0 ई0 डी0 पृ0 468

(585) तत्रैव । पृ0 77

(586) बोधिसत्व कल्पलता पृ0 113-114

(587) कथासरित्सागर 9.6.140

(588) पुरातन प्रबंध संग्रह,- दशरथशर्मा पृ0 121 से उद्धत

(589) राजतरंगिणी अनुवाद स्टेन 7.1009

(590) वस्तुपाल चरित पृ0 100

(591) प्रबन्धकोष पृ0 53 2 15-18

(592) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 863

(593) त्रिषष्ठीशलाकापुरूषचरित

(594) तत्रैव ''

(595) तत्रैव ''

(596) तत्रैव अनुछेद 5

(597) तत्रैव " 5 लुइसम्फोर्ड द सिटी इन हिस्ट्री पृ0 255

(598) पुष्पा नियोगी पृ0 158

(599) इपिग्राफिका इण्डिका 111 पृ0 60, पुष्पा नियोगी, पृ0 162

(600) लेखपद्धति पृ0 54, 124, विजमी सवत 1288

(601) हाउरनी, अरब सीफारिग पृ0 53-55

(602) तत्रैव पृ0 63

(603) हाउरनी, 'अरब पृ0 61-62

(604) तत्रैव पृ0 10 9-10

(605) ऐशेन्ट एकॉउट आफ इण्डिया एण्ड चाइनापृ0 40

(606) आर0सी0 मजूमदार स्वर्णद्वीप 2. 30

(607) चाउ जू कुआ पृ0 18-20

(608) तत्रैव पृ0 22

(609) जे0जे0 एल0 द्वेवेन्दक चाइनास डिस्कवरी आफ अफ्रीका पृ0 15

(610) तत्रैव पृ0 53

(611) तत्रैव पृ0 53-54

(612) के0 ए0 एन0 शास्त्री, फारेन नोटिसस पृ0 20

(613) चाउ जू कुआ पृ0 4

(614) तत्रैव पृ0 53

(415) मोती चन्द्र सार्थवाह पृ0 202

(616) चाउजू कुआ पृ0 9

(617) जे0एम0बी0आर0ए0एस0 31 भाग 2 पृ0 106

(618) नेगी पृ0 100

(619) तत्रैव पृ0 25, 34

(619A) क्रिश्चियन टोपोग्राफी पृ0 365

(620) समराइच्चकहा पृ0 327-28

(621) जे0जे0एल0 द्वेवेन्द्रक चाइनास डिसकवरी आफ अफ्रीका पृ0 18
एच0 ए0 आर0 गिब्ब, इब्नबतूता पृ0 235

(622) चाउ जू कुआ पृ0 20-34

(623) तत्रैव प्रस्तावना

(624) कथाकोष अनु0 (तावने) पृ0 28-29

(625) ए0 एल0 बाशम, आर्टस एण्ड लैटरस 23 पृ0 69

(626) मोतीचन्द्र पृ0 207

(627) यूले 2 पृ0 391 बाशम पृ0 69

(628) चाऊ जू कुआ पृ0 87

(629) समराइच्चकहा पृ0 327

(630) दशकुमारचरित अनुवाद रायडर पृ0 164

(631) इपि0 इण्डि0 12.195

(631A) प्रबंधचिंतामणि पृ0 14

(632) प्रबन्धचिंतामणि पृ0 70

(633) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 870-72

(634) बोधिसत्ववदानकल्पलता पृ0 113-114

(635) बृहन्नारदीय पुराण 22 12-16, काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र 3 पृ0 928

(636) मनुस्मृति 8 157

(637) मेधातिथि मनु पर 8.157

(638) लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरू, व्यवहारखण्ड पृ0 284

धार्मिक स्थिति

धर्म का अर्थ:

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। ऋग्वेद में कई स्थलों[1] पर धर्म, 'धार्मिक विधियों' या 'धार्मिक क्रिया सस्कारों' के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। अर्थववेद[2] में धर्म शब्द का प्रयोग 'धार्मिक क्रिया सस्कार करने से अर्जित गुणों' के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय बाह्मण[3] में धर्म शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद[4] में धर्म का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाये मानी गयी हैं (1) यज्ञ, अध्ययन एंव दान अर्थात् गृहस्थधर्म (2) तपस्या अर्थात् तापस धर्म तथा (3) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के घर में अंत तक रहना।'' यहाँ धर्म शब्द आश्रम से संबंधित कर्त्तव्यों की पूर्ति की ओर सकेत करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म शब्द का अर्थ समय-समय पर बदल रहा था। किन्तु अन्त में यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्त्तव्यों, बंधनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार विधि का परिचायक एव वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। तैत्तिरीय उपनिषद[5] में छात्रों के लिए जो धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह इसी अर्थ मे है, यथा, सत्यंवद, धर्मचर भगवत्गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेय:' में भी धर्म शब्द का यही अर्थ है। धर्मशास्त्र साहित्य में भी धर्म शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति[6] के अनुसार मुनियों ने मनु से सभी वर्णों के धर्मों की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की थी। एक अन्य स्थल पर मनु स्मृति में धर्म का मूल, सम्पूर्ण वेद, वेद के जानने वालों की स्मृति और शील, धार्मिकों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता, बताया है।[7] लगभग यही अर्थ याज्ञवल्क्य स्मृति में भी पाया जाता है।[8] तन्त्रावार्तिक[9] के अनुसार धर्मशास्त्रों का कार्य है वर्णों एंव आश्रमों के धर्मों की शिक्षा देना। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि[10] के अनुसार स्मृतिकारों ने धर्म के पांच स्वरूप माने है-

(1) वर्णधर्म (2) आश्रमधर्म (3) वर्णाश्रम धर्म (4) नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित) तथा (5) गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण संबंधी कर्त्तव्य)।

मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज[11] ने भी धर्म के ये पाच प्रकार उपस्थित किये है।

धर्म के उपादान :

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वेदधर्म का मूल है।[12] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[13] के अनुसार जो धर्मज्ञ है, जो वेदो को जानते हैं, उनका मत ही धर्म-प्रमाण है। वशिष्ठधर्मसूत्र[14] का भी यही मत है। मनुस्मृति[15] के अनुसार धर्म के पांच उपादान हैं- सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की परम्परा एंव व्यवहार, साधुओ का आचार तथा आत्मसतुष्टि। याज्ञवल्क्य स्मृति[16] मे भी ऐसी ही बात पायी जाती है- वेद, स्मृति (परम्परा से चला आया ज्ञान) सदाचार (भद्रलोगों के आचार-व्यवहार) जो अपने को प्रिय लगे तथा उचित सकल्प से उत्पन्न अभिकांक्षा या इच्छा; ये ही परम्परा से चले आये हुए धर्मोपादान हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म के मूल उपादान हैं वेद, स्मृतियां तथा परम्परा से चला आया हुआ शिष्टाचार (सदाचार)।

मनुस्मृति में वर्तमानकाल के परम्परागत धर्मों या धार्मिकपंथो वैष्णव, शैव, तांत्रिक, बौद्ध एव जैन का कोई उल्लेख नही मिलता है क्योंकि मनुस्मृति में धर्म को आचार शास्त्र एवं वर्ण, आश्रम धर्म के रूप देखा है, इस कारण से मनुस्मृति के टीकाकारों ने भी किसी धार्मिक पंथ का स्पष्ट रूप से वर्णन नही किया। एक स्थल पर मेधातिथि[17] मनु पर टीका करते हुए कहते हैं कि पांचरात्र, निर्ग्रन्थ एंव पाशुपतलोग आर्यों के समाज से बाहर के हैं।

मेधातिथि के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में ये धार्मिक पंथ, पांचरात्र, निर्ग्रन्थ एंव पाशुपत प्रचलित थे? मेधातिथि का उपर्युक्त विचार उचित नहीं जान पडता है, इस तथ्य का सूक्ष्मता से विश्लेषण करना चाहिए।

वैष्णव धर्म -

हिन्दू धर्म में ज्ञान की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत अवतारवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रधान प्रयोजन धर्म स्थापन और अधर्मविनाशन है। वैदिककाल से ही अवतारवाद का प्रारम्भ हो चुका था। अवतार स्वयं विष्णु ही हैं जिनके अनेक अवतारों की कथा वैदिक युगीन ग्रंथों में तिवृत है। विष्णु के वराह रूप का संकेत ऋग्वेद[18] में मिलता है। वामन की

कथा भी ऋग्वेद मे वर्णित है।[19] शतपथ ब्राह्मण[20] मे जलप्लावन की कथा के साथ मत्स्यावतार का उल्लेख है। प्रजापति द्वारा जल के ऊपर कूर्म रूप मे अवतार लेना ब्राह्मण ग्रथो मे उल्लिखित है।[21] तैत्तिरीय संहिता[22] एंव शतपथ ब्राह्मण ग्रथो मे वराह अवतार उल्लिखित है।[21] तैत्तिरीय संहिता[22] एंव शतपथ ब्राह्मण में वराह अवतार का वर्णन किया गया है। रामायण[23] और महाभारत[24] क्रमश राम और कृष्ण के अवतारों की कथाएं हैं।

वैष्णवधर्म का प्रारम्भिक रूप भागवत धर्म के अन्तर्गत देवकी पुत्र भगवान, वासुदेव कृष्ण के पूजन के रूप में दर्शित होता है जो सभवत: छठी सदी ई0पू0 के पहले स्थापित हो चुका था। वासुदेव, जो कृष्ण का प्रारम्भिक नाम था, पाणिनी के युग में प्रचलित था, उस युग में वासुदेव की उपासना करने वाले 'वासुदेवक कहे जाते थे।[25] वासुदेव के उपासकों के प्रारम्भिक अभिलेख भी मिलते हैं। बेसनगर स्थित द्वितीय शती ई0 पू0 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यूनानी राजदूत तक्षशिला निवासी हेलियोडोरस ने देवाधिदेव वासुदेव के स्मरण में गरूणध्वज स्थापित कराया था।[26] और अपने को भागवत घोषित किया था। इससे स्पष्ट होता है कि भागवत धर्म का समाज में इतना अधिक प्रभाव बढ गया था कि कभी-कभी विदेशी भी उसके अनुयायी बन जाते थे। पहली सदी ई0 पू0 के नानाघाट अभिलेख में संकर्षण (वासुदेव कृष्ण के भाई) बलराम और वासुदेव का उल्लेख हुआ है, जो तद्युगीन वासुदेव पूजन के प्रचलन और वासुदेव धर्म के प्रसार को पुष्ट करता है।[27]

वासुदेव के लिये नारायण का भी उल्लेख मिलता है। नारायण की नाडायन शब्द से व्यंजना की गई है।[28] नर शब्द का व्यवहार वैदिक देवों के लिए भी हुआ है, इसलिए 'नारायण शब्द' देवों का आश्रय अर्थ अभिव्यक्त करता है। मत्स्य[29], वायु[30], ब्राह्मण[31] पुराणों में नारायण को विष्णु का स्वरूप माना गया है। वैदिक युगीन अनेक ऐसे संदर्भ मिलते हैं जिनके अनुसार नारायण के मूल आधार का भान होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि स्वयभू नारायण ने समस्त जीवों को धारण किया था।[32] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नारायण में ही सभी लोक देव, वेद और प्राण प्रतिष्ठित हैं।[33] ऋग्वेद के पुरूषसूक्त[34] में एक ऋषि का नाम नारायण वर्णित किया गया है, जो संभवत: परवर्तीकाल में आकर

वासुदेव अथवा विष्णु से सबंधित किया गया । विष्णु के रूप मे नारायण या वासुदेव का अस्तित्व वैदिक युगीन है। ऋग्वेद मे उनकी स्तुति अनेक सूक्तों में की गई है, उनके विक्रम, पराक्रम और यश मे समस्त जगत समाविष्ट था इसलिए वे विश्व में व्यापनशील थे।[35] तेरहवी चौदहवीं शती में ऋग्वेद पर भाष्य करते हुए सायण भी विष्णु को व्यापनशील बताते हैं।[36] उत्तरवैदिक काल के तत्कालीन समाज में विष्णु का प्रभाव और आयाम बढने लगा, जो महाकाव्य-काल में आकर और अधिक बढ गया, जिसने उन्हें सृष्टिकर्ता और जगन्नियन्ता का पद प्रदान किया। ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु को सर्वोच्च पद प्रदान किया गया है।[37] महाभारत के अनेक स्थलों पर नारायण और विष्णु को परमेश्वर माना गया है तथा वासुदेव भगवान के रूप में वर्णित किया गया है। युधिष्ठिर ने उनकी स्तुति करते हुए उन्हें 'विष्णु' भी कहा है।[38] पुराणों में भी वासुदेव का तादात्म्य विष्णु से किया गया है; विष्णु पुराण में वासुदेव को विष्णु का नामधारी वर्णित किया गया है।[39]

पांचरात्रमत का विकास तीसरी सदी ई0पू0 के लगभग हुआ था, जो वैष्णवधर्म का प्रधान मत था। इस मत के अन्तर्गत वासुदेव और उनके स्वरूपों का पूजन-आराधन सन्निहित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सकल विश्व का बीज, पौरूषी शक्ति (प्रलय) के रूप में भगवान् वासुदेव में समाहित है। उनकी शक्ति इच्छाशक्ति, क्रिया-शक्ति और भूतशक्ति, जो मन, प्राण और भौतिक प्रकृति की क्षमताओं के रूप में हैं, जागृत हुई । ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज उसके छः गुण हैं, जिनमें ज्ञान और बल, ऐश्वर्य और वीर्य तथा शक्ति और तेज तीन युगल हैं। ये युगल व्यूह के नाम से ज्ञात हैं। ये तीनों व्यूह संकर्षण (कृष्ण के भाई बलराम), प्रद्युम्न (उनका पुत्र) और अनिरूद्ध (उनका पौत्र) है। इन तीनों व्यूहो के ऊपर वासुदेव व्यूह है। पाँचरात्र शब्द की उत्पत्ति प्राचीन काल में हुई थी, नारद के अनुसार इसमे परम तत्व, मुक्ति, युक्ति योग और विषय (संसार) जैसे पॉच पदार्थ हैं। इसलिए यह पॉचरात्र कहा गया है। इसका नियमन स्वंय नारायण ने समग्र प्राणियों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने के लिए किया था। इसका आचार पक्ष वैदिक सिद्धान्त पर आश्रित है। पाँचरात्र एकायन मोक्ष प्राप्ति विद्या का भी सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। भागवतमत और सिद्धान्त को व्यंजित करने वाले प्रधान ग्रंथ पाँचरात्र

संहिताएँ है इनमे से कुछ संहिताओं की रचना चौथी और सातवी सदी के बीच कश्मीर मे हुई है। अमरकोश मे पॉचरात्र मत के सभी व्यूहों का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पॉचरात्र का मूल वैदिक संहिताओं से ही प्रारम्भ होता है मेधातिथि इसे अवैदिक मानते है, जोकि सत्य नही प्रतीत होता है।

शैवधर्म:

शिव की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। नवपाषण युग के अनेक स्थलों से लिंग पूजा के प्रमाण सामने आये है। गुडिमल्ल और भीटा से ऐसे लिंग प्राप्त हुए हैं जिन पर मनुष्य की आकृति में देवता अंकित है। कुछ लोगों ने उनकी प्राचीनता की खोज सैंधव सभ्यता में की है और यह कहा है कि वहॉ से प्राप्त मुहरों पर श्रृगधारी मानवाकार बैठे हुए देवता पाशुपत शिव हैं और उनका प्रतीक लिंग भी चित्रित है जिनके चारों ओर शेर, हाथी आदि पशु बैठे हैं किन्तु तारतम्य एंव श्रृखला के अभाव में यह मत स्वीकार करना तर्कसगत नही लगता है। ऋग्वेद में शिव के लिए 'रूद्र' नाम का व्यवहार हुआ है, जो अपनी कठोरता और रूद्रता के लिए ख्यात है। उनकी विध्वंसकारी शक्ति से बचने के लिए ऋग्वैदिक आर्यो ने उनकी स्तुति और वन्दना प्रारम्भ की, जिससे वे प्रसन्न रहे और अपनी विनाशक शक्ति से मनुष्य को कष्ट न दें। वे अपने अस्त्र से मनुष्य और गाय को हत करते है[40]। अत: ऋषियों ने उनकी प्रार्थना की कि वे अपने आयुधों को दूर रखें तथा द्विपदों और चतुष्पदों की रक्षा करें।[41] इस प्रार्थना द्वारा रूद्र के विनाश से लोग बच जाते थे, फलस्वरूप वे उन्हें पशुपति अथवा पशुओं का रक्षक कहते हैं। ऋग्वेद से ज्ञात है कि उनकी उपाधि पशुप थी।[42] उत्तरवैदिक काल में रूद्र का विकास अधिक तीव्र गति से हुआ। उन्हें शतरूद्रिय और शिवातनु: (मंगलमय) कहा गया और साथ ही पर्वत पर शयन करने के कारण उन्हें 'गिरिश' और गिरित्र नाम से अभिहित किया गया।[43] उन्हें पशुओं का स्वामी कहा गया[44] जो पशुपति (पशुनाम् पति) के रूप मे उनका विशिष्ट नाम हो गया। चर्मधारण करने के कारण वे कृर्तिवासन: के रूप में ख्यात थे, उन्हे शर्व-भव भी कहा गया। संभवत: निषाद आदि अनार्यों से सम्बद्ध होने के कारण ही उनको चर्म परिधान धारण करने वाला माना गया था। इस प्रकार इस काल में उन्हें आर्यों के साथ-साथ अनार्यों के देवता के रूप में स्वीकार किया जाने

लगा था। समाज मे रूद्र की महत्ता, विशिष्टता और उत्कृष्टता बढती गई। अर्थववेद[45] एंव शतपथ ब्राह्मण[46] में उन्हे सहस्त्राक्ष कहा गया था। निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थ उन्हीं के थे, साथ ही वे समस्त धनुर्धरो मे श्रेष्ठ थे। उनका आघात सभी देवताओं और मनुष्यो को आहत कर सकता था, अत उनके द्वारा अपनी रक्षा के लिए उनकी आराधना की जाती थी। रूद्र सर्वत्र था जल अग्नि, औषधि, वनस्पति और समस्त भूतों में । आकाश और अंतरिक्ष का वह स्वामी था, वह मूलपति और पशुपति था।[47] सूत्रकाल के ग्रथो में रूद्र की अपनी अलग विशिष्टता है तथा उनके विवरण से यह पता चलता है कि उनका अनार्य तत्वों पर प्रभाव था। उनको प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की व्यवस्था की गई थी जो ग्राम सीमा के बाहर आयोजित की जाती थी तथा अवशिष्ट ग्राम मे नहीं लायी जाती थी।[48] श्वेताश्वतर, अर्थवशिरस जैसे उपनिषदों में शिव के दर्शन और ज्ञान तत्व की मीमांसा की गई है तथा उनका संबंध ईश्वर, जीव और प्रकृति के तत्वों से स्थापित किया गया है। महाभारत में शिव का उल्लेख सर्वोच्च और शक्तिशाली देवता के रूप में हुआ, जिनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पडा था।[49] पाणिनी पर भाष्य करते हुए पंतजलि ने शिव की मूर्ति बनाकर पूजा करने की बात कही है। शक शासक मोग की मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव अंकित है। कुषाण शासक विमकडफिसस के सिक्कों के पृष्ठभाग पर नन्दी और त्रिशूलग्राही, चर्मधारण किए हुए शिव की आकृति उत्कीर्ण है। गुप्तकाल में ही पाशुपत सम्प्रदाय का अत्यधिक विकास हुआ। इसका उल्लेख महाभारत में भी हुआ है।[50] जिसका उपदेश ब्रह्म के पुत्र भूतनाथ, श्रीकृष्ण, उमापति शिव ने शांतचित्त होकर दिया था। पाशुपत मत का विकास क्रमशः हुआ तथा इसका उल्लेख पुराणों और अभिलेखों में मिलता है। वायु पुराण[51] और लिंग पुराण[52] के विवरणों के अनुसार पाशुपत मत का उद्भव लकुलिन अथवा लकुलीश नामक ब्रह्मचारी द्वारा हुआ था, जो शिव का अवतार था, कुषाण शासक हुविष्क (दूसरी सदी ई0) की मुद्रा पर इसी प्रकार का चित्र अंकित है जो इस सम्प्रदाय के विषय में ज्ञान प्रदान करने वाला सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (चौथी सदी) के मथुरा-स्तम्भलेख में उल्लिखित है कि उदिताचार्य नामक एक पाशुपत अनुयायी ने उपमितेश्वर

और कपिलेश्वर नामक दो लिगो की स्थापना की थी।[53] बाण ने पाशुपत सम्प्रदाय को शैवधर्म के रूप मे विवृत किया है, जिसके अनुयायी अपने ललाट पर भस्म लगाते और रूद्राक्ष की माला लिए रहते थे।[54] ह्वेनसांग ने लिखा है कि सिंध और अहिच्छत्र के लोग बौद्ध नहीं थे, भस्म रमाने वाले पाशुपत मत के मानने वाले थे[55]। चाहमान शासक विग्रहपाल के एक अभिलेख में पाशुपत सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है जिसके अनुसार शैव मतावलम्बी अल्लट ने एक शिव मंदिर का निर्माण कराया था जो पाशुपत शिव का सत्यनिष्ठ भक्त था।[56]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पाशुपत मत भी समाज में काफी प्रचलित था। शैवधर्म एंव पाशुपतधर्म में कुछ आधारभूत भिन्नताएँ थी। पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक लकुलीश एक ऐतिहासिक मनुष्य था।[57] वायु पुराण में पाशुपत मत के सिद्धान्तों और उसके योग पक्ष पर विचार किया गया है तथा साधना और उपासना का भी संकेत किया गया है।[58] पाशुपत सूत्रों के भाष्यकार कौडिन्य ने पाशुपत चर्याओं को ब्राह्मण विरोधी बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपत सम्प्रदाय जाति पांति के भेद को नहीं मानता था, इस कारण मेधातिथि को यह भ्रम हो गया होगा कि यह कि अनार्यधर्म है यद्यपि शैवधर्म के लिगोपासकों को अनार्यों से प्रेरित माना गया है किन्तु शैव धर्म मूलत: वैदिक सभ्यता से चला आ रहा है; एंव पाशुपत धर्म जोकि शैव धर्म की एक शाखा है वह सिद्धान्तों एंव दर्शनों पर आधारित है। पाशुपत सिद्धान्त के अर्न्तगत पांच पदार्थों को स्वीकार किया– (1) कार्य (2) कारण (3) योग (4) विधि और (5) दुखांत ।

जैन धर्म या निग्रंथ :

जैन धर्म का विकास छठी सदी ई0 पू0 में हुआ, जब इसके चौबीसवें तीर्थकर महावीर स्वामी ने अपने नये विचारों, सिद्धान्तों और कार्यों से इसे नया जीवन दान दिया। हिन्दू धर्म के प्रतिरोधी धर्म के रूप में जैन धर्म का भी विकास हुआ था, इस धर्म के दर्शन एंव सिद्धान्त हिन्दू धर्म से पूर्णत: पृथक हैं।

जैन धर्मावलम्बियों के अनुसार जैन धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है, उनके अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्तयोगी की मूर्ति इस धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव की है। वेदों में उल्लिखित कतिपय नामो

को जैन तीर्थकरो के नामों के साथ जोडा जाता है। ऋग्वेद[59] के एक स्थल पर ऋषभ शब्द आया है, जिसे ऋषभदेव के साथ समीकृत किया जाता है। यजुर्वेद मे भी उल्लिखित है कि ऋषभ धर्म प्रवर्तकों मे सर्वश्रेष्ठ हैं।[60] अर्थववेद[61] एंव गोपथ ब्राह्मण[62] मे सकेतित स्वंयभू काश्यप का तादात्म्य ऋषभदेव से किया जाता है। ऋषभदेव का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी हुआ है।[63] किन्तु किसी ठोस प्रमाण के अभाव में इन्हें एकदम सत्य नही माना जा सकता था।

जैनधर्म में कुल 24 तीर्थकर हुए, जिन्होने समय समय पर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया तथा अपने नये सिद्धान्तों से लोगों को आकृष्ट किया। ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होने सर्वप्रथम शुद्ध आचरण, पावन चरित्र और पवित्र मन पर बल दिया। जैन धर्म के व्यवस्थित और सुनियोजित ज्ञानतत्व, चिन्तन पक्ष और दर्शन तत्व का स्वरूप ऐतिहासिक पुरूष तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ के निर्देशन में पल्लवित और पुष्पित हुआ। उन्होने अपने उपदेशों से स्त्री पुरूष सभी लोगों को जीवन और जगत् की वास्वतिकता समझायी। साकेत, राजगृह, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि विभिन्न नगरों का भ्रमण कर उन्होने अपने धर्मोपदेश से निस्पृह और सुधी लोगों को अपना अनुयायी बनाया। सांसारिक बंधनों और मोह-स्पृधाओं से अलग होकर उनके निर्देशों पर जो चलते थे, वे अनुयायी निर्ग्रन्थ (अर्थात् बंधनरहित) कहलाते थे । उनके सिद्धान्तों में हिन्दू धर्म के देववाद, कर्मकाण्ड, हिसात्मक यज्ञ, वर्ग और जाति व्यवस्था का विरोध तथा अहिसा और अभेद का समर्थन है। उन्होने कायाक्लेश तपश्चर्या से मोक्ष प्राप्ति का मार्गदर्शन किया।

जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थकर वर्धमान महावीर के नेतृत्व में इस धर्म का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ । उन्होंने अपनी अद्भुद प्रतिभा और बुद्धि से पार्श्वनाथ द्वारा प्रचारित्व सिद्धान्तों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके उन्हें संवर्धित किया तथा उनके प्रचार-प्रसार में उन्होने अविस्मरणीय योग प्रदान किया। जैन धर्म के सिद्धान्तों में निवृत्ति मार्ग का प्रधान स्थान है, जिसके माध्यम से व्यक्ति जगत की नाना प्रकार की व्यााधियों और तृष्णाओं से विमुक्त हो जाता है। प्रवृत्ति और वांछा में लिप्त व्यक्ति सुख और समृद्धि के लिए सर्वदा भोग और तृष्णा में व्यस्त रहता है।

सांसारिक वस्तुओं को अधिकारिक प्राप्त करने से भी उसे सतोष नही मिलता, अत: जगत के समस्त सुख ही दु:ख का कारण हैं। प्रवृत्ति का त्याग करके निवृत्ति का अनुपालन ही वास्तविक और स्थायी सुख का मूल है।[63] परिव्राजक की स्थिति मे ही शांति प्राप्त होती है, जब मनुष्य समस्त सुखोपभोग से अलग होकर निवृत्ति की ओर बढता है।

इस प्रकार जैन धर्म के सिद्धान्तो व दर्शन के मूल मे न जाते हुए भी हम यह कह सकते है कि जैन धर्म ब्राह्मणधर्म के विरोध में उठ खडा हुआ था, संभवत. इसी कारण मेधातिथि इसे अनार्यों का धर्म बताते हैं, किन्तु इससे इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में जैन धर्म का अस्तित्व बना हुआ था तभी मेधातिथि ने इसका उल्लेख किया है।

पातक :

पाप या पातक ऐसा शब्द है जिसका आचार शास्त्र की अपेक्षा धर्म से अधिक सबंध है। सामान्यत: ऐसा कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा कृत्य है जो ईश्वर या उसके द्वारा प्रकाशित किसी व्यवहार (कानून) के उल्लंघन अथवा जान बूझकर उसके विरोध करने से अद्भूत होता है; यह ईश्वर की उस इच्छा का विरोध है जो किसी प्रमाणिक ग्रंथ में अभिव्यक्त रहती है, अथवा यह उस ग्रंथ में पाये जाने वाले नियमों के पालन में असफलता का परिचायक है।[64]

विष्णुधर्म सूत्र[65] ने नौ प्रकार की त्रुटियॉ (दोष या पाप) गिनाये हैं, यथा– अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, जातिभ्रंशकर (जातिच्युत करने वाला) संकरीकरण (जिससे वर्णसंकरता उत्पन्न होती है), अपात्रीकरण (किसी को शुभ कर्म के आयोग्य ठहराना) मलावह (गंदा करना) एंव प्रकीर्णक। विष्णु[66] के अनुसार अतिपातक - माता या पुत्री या पुत्रवधू के साथ संभोग करने वाला है और इसके लिए अग्निप्रवेश ही एकमात्र प्रायश्चित है। कात्यायन ने दुष्कृत्यों को पांच कोटियों में बांटा है– महापाप (प्राणहारी पाप), अतिपाप (जिनसे बढकर कोई अन्य महत्तम पाप न हो) पातक (ऐसे पाप जो महापातक के समान है), प्रासंगिक पाप (जो संग या संसर्ग से उत्पन्न हो), एंव उपपातक (साधारण पाप)। वृद्ध हारीत[67] ने भी पांच प्रकार दिये हैं– यथा– महापाप, पातक, अनुपातक, उपपातक एंव प्रकीर्णक (अन्य नाना प्रकार) और कहा है[68] कि ये पाप जो

महापाप कहे जाते हैं, पातक हैं, अनुपातक से कम गम्भीर हैं, उपपातक अनुपातक से कम गम्भीर है तथा प्रकीर्णक सबसे कम अथवा हल्के पापमय कृत्य है। मनु ने अतिपातक एंव अनुपातक का उल्लेख नहीं किया है और इनमे से अधिकांश को उनकी सज्ञा दी है जो प्रसिद्ध चार महापातको में गिने जाते है। हारीतधर्म सूत्र (मिताक्षरा द्वारा उद्‌धृत) को अनुपातक नामक पातकों की कोटि ज्ञात थी, किन्तु उनके कतिपय पातकों के अनुक्रम से प्रकट होता है कि उन्होने मनु के अतिपातक को महापातक से कम पाप समझा है। वसिष्ठ[69], मनु[70], याज्ञवल्क्य[71], विष्णु[72] एंव वृद्ध हारीत[73] में पातकों को गिनाया गया है, मनु, याज्ञवल्क्य एव विष्णु ने सभी प्रकार के पापों का विस्तृत विवरण उपस्थित किया है। किन्तु इन तीनों में भिन्नता है। जैसे मनु[74] का कथन है कि उक्त बह्मोज्झता (वेदविस्मरण), वेद निंदा, कौट साक्ष्य (गलत गवाही) सुहृदवध (मित्रहत्या), गर्हित एंव न खाने योग्य (अनाद्य) भोजन करना; ऐसे कर्म सुरापान के समान पातक हैं। याज्ञवल्क्य[75] का कथन है कि इसमें प्रथम तीन (वेद निंदा बहमोज्झता एंव मित्रहत्या) एंव असत्य दोषों को मढकर गुरूनिंदा करना ब्रहम हत्या के समान है।

1– ब्रह्महत्या

ब्रह्महत्या या वध शब्द का प्रयोग उस कर्म के लिए होता है जिसके करने से तुरन्त या कुछ समय उपरान्त बिना कोई अन्य कारण उपस्थित हुए जीवन की हानि होती है। अग्निपुराण[76], मिताक्षरा[77] एंव प्रायश्चित विवेक[78] एंव अन्य ग्रन्थों में वध की परिभाषा दी है। ब्राह्मण या किसी की भी मृत्यु के लिए पांच प्रकारों से वध का कारण हो सकता है, यथा– वह स्वयं हत्या कर सकता है कर्ता, वह प्रयोजक हो सकता है (अर्थात् दूसरे को हत्या करने के लिए उकसा सकता है) अनुमंता अर्थात् वह अपने अनुमोदन द्वारा दूसरे को उत्साहित कर हत्या करा सकता है। अनुग्राहक अर्थात् जब हत्यारा हत्या करने से हिचकिचाये तो उसकी सहायता कर सकता है; निमित्त (कारण) होकर वह हत्या करा सकता है।

सामविधान ब्राह्मण[79], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[80], वसिष्ठ[81], मनु[82] एंव याज्ञवल्क्य[83] का कथन है कि वेदज्ञ या सोमयज्ञ के लिए दीक्षित क्षत्रिय एंव वैश्य की हत्या भी हत्यारे को ब्रह्महत्या का अपराध लगाती है, किसी ब्राह्मण के अज्ञातलिंग भ्रूण तथा आत्रेयी (रजस्वला) नारी की हत्या भी

ब्रह्महत्या ही है। याज्ञवल्क्य के ऊपर टीका करते हुए विश्वरूप[84] का कथन है कि किसी स्त्री को जानबूझकर मार डालने पर किसी भी प्रायश्चित से पाप का छुटकारा नही हो सकता।

प्राचीनकाल से ही लेखको एव पूर्वमध्यकाल के लेखकों के दृष्टिकोण में एक बहुत बडा क्रांतिकारी परिवर्तन तब दिखता है जब मिताक्षरा[85] ने आत्मरक्षा केलिए ब्राह्मण की हत्या को उचित ठहराया, राजा उसे (आत्मरक्षार्थी) को नहीं दण्डित करता, उसे केवल हल्का प्रायश्चित करना पडता है, अर्थात् वह ब्राह्महत्या का अपराधी नही होता था। जबकि प्राचीन काल मे कैसे भी ब्राह्मण, चोर, व्यभिचारी किसी को भी मारने की अनुमति नही थी, या मारने पर कठोर दण्ड का विधान था।

2- सुरापान

ऋग्वेद[86] में इसे द्यूत के समान ही पापमय माना गया है। मनु[87] ने सुरापान को महापातकों में गिना है, याज्ञवल्क्य[88] ने मद्यप को पांच महापापियों में गिना है। मनु[89] के मत से सुरा भोजन का मल है और यह तीन प्रकार की होती है- (1) जो गुड या सीरा से बने (2) जो आटे से बने (3) जो महुआ या मधु से बने। विष्णु[90] ने खजूर, पनसफल, नारियल, ईख आदि से बने सभी मद्य प्रकारों का वर्णन किया है। मिताक्षरा[91] ने सुरापान का निषेध उन बच्चों के लिए, जिनका उपनयन संस्कार नही हुआ रहता तथा अविवाहित कन्याओं के लिए माना है, जबकि मनु ने[92] सुरापान के लिए लिंग अन्तर नहीं बताया है और प्रथम तीन उच्च वर्णों के लिए इसे वर्ज्य माना है। भविष्यपुराण में स्पष्ट रूप से ब्राह्मण नारी के लिए सुरापान वर्जित बताया है। वसिष्ठ[93] एंव याज्ञवल्क्य[94] का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य की सुरापान करने वाली पत्नी पति के लोकों को नहीं जाती और इस लोग में कुक्कुरी या शुकरी हो जाती है। मिताक्षरा[95] का कथन है कि यद्यपि शूद्र को मद्यसेवन मना नहीं है, किन्तु उसकी पत्नी को ऐसा नहीं करना चाहिए।

मिताक्षरा के कथन से ऐसा आभास मिलता है कि पूर्वमध्यकाल में पुरूषों के साथ-साथ स्त्रियॉ भी सुरापान का आनन्द लेने लगी थी। यदि ऐसा प्रचलन न होता तो मिताक्षरा में अविवाहित कन्याओं के लिए इसे वर्ज्य न बताया जाता और न ही शूद्रों की पत्नी को

सुरापान न करने का विधान किया जाता अर्थात् इस काल में सुरापान का प्रचलन बढता हुआ सा प्रतीत होता है।

3- स्तेय चोरी

टीकाकारों के अनुसार वही चोरी महापाप के रूप में गिनी जाती है जिसका संबंध ब्राह्मण के किसी भी मात्रा के हिरण्य (सोने) से हो। आपस्तम्ब धर्म सूत्र[96] के अनुसार स्तेय, एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति के लोभ एव बिना स्वामी की अनुमति से उसके लेने से चोर हो जाता है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो । कात्यायन[97] के अनुसार जब कोई व्यक्ति गुप्त या प्रकट रूप से दिन या रात में किसी को उसकी सम्पत्ति से वंचित कर देता है तो चोरी कहलाती है। यद्यपि मनु[98] एंव याज्ञवल्क्य[99] ने केवल स्तेय (चौर्य), स्तेन (चोर) शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु स्तेय के प्रायश्चिम के विषय में लिखते हुए मनु[100] (सुवर्णस्तेयकृत) एंव याज्ञवल्क्य[101] (ब्राह्मणस्वर्णहारी) ने यह विशेषता जोड़ दी है कि उसे सोने के अपराध का चोर होना चाहिए। वसिष्ठ[102] एंव च्यवन[103] ने ब्राह्मण-सुर्वण हरण को महापातक कहा है। संवर्त[104] एंव विश्वामित्र[105] विश्वरूप[106], मिताक्षरा[107] मदनपारिजात[108], प्रायश्चित प्रकरण[109], प्रायश्चित विवेक[110] एंव अन्य टीकाकारों ने एक अन्य विशेषता भी जोड़ दी है कि चुराया हुआ सोना तोल में कम से कम 16 मात्रा में होना चाहिए, नहीं तो महापातक नहीं सिद्ध हो सकता अत: यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण के यहॉ से 16 माशे से कम सोना चुराता है या अब्राह्मण के यहाँ से वह मात्रा में (16 माशे से अधिक भी) सोना चुराता है तो वह साधारण पाप (उपपातक) का अपराधी होता है।

गुरू अंगनागमन

मनु[111] ने गुरू अगंनागमन शब्द का प्रयोग किया है किन्तु याज्ञवल्क्य[112] एंव वसिष्ठ ने अपराधी को गुरूतल्पग (जो गुरू की शैय्या को अपवित्र करता है) एंव वसिष्ठ[113] ने इस पाप को गुरूतल्प (गुरू की शैय्या या पत्नी) की संज्ञा दी है। मनु[114] एंव याज्ञवल्क्य[115] के अनुसार गुरू का मौलिक अर्थ पिता है, जबकि गौतम वेद के गुरू को गुरूओं में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। संवर्त[116] पराशर[117] एवं मिताक्षरा[118] का कथन है कि गुरू का मुख्य अर्थ पिता है । मिताक्षरा ण्वं मदनपारिजात[119] जैसे निबन्धों के

अनुसार गुरू अगना का तात्पर्य स्वय अपनी माता है। प्रायश्चितमयूख[120] ने यह मत प्रकाशित किया है कि वेदाध्यापक गुरू की पत्नी के साथ सम्भोग भी एक महापातक है। इस विषय में इसने याज्ञवल्क्य[181] का सहारा लिया है जहॉ पर (गुरूतल्पगमन नामक पाप गुरूपत्नी, पुत्री एव अन्य सबधी स्त्रियों तक बढाया गया है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि गुरू- अंगनागमन का तात्पर्य गुरू पत्नी एंव अन्य सबंधियों के साथ सभोग से है।

महापाताकी संसर्ग

गौतम[122], वसिष्ठ[123], मनु[124], याज्ञ[125], विष्णु[126] एव अग्निपुराण[127] ने संक्षेप में व्यवस्था दी है कि जो लगातार एक साल तक महापातकियों का अति संसर्ग करता है अथवा उनके साथ रहता है तो वह भी महापातकी हो जाता है, और उन्होने यह भी कहा है कि यह संसर्ग उस अर्थ मे भी प्रयुक्त है जब वह व्यक्ति पातकी के साथ ही वाहन या एक ही शैय्या का सेवन करता है या पातकी के साथ एक ही पंक्ति में खाता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति पातकी से आध्यात्मिक संबंध स्थापित करता है या करती है (यथा-पातकी को वेद की शिक्षा देता है या उससे वेदाध्ययन करता है या उसकी पुरोहिती करता या उसे अपने लिए पुरोहित बनाता है) या उसके साथ सम्भोग संबंध या वैवाहिक संबंध स्थापित करता है तो वह व्यक्ति उसी क्षण महापातक का अपराधी हो जाता है।

मध्यकाल के लेखकों ने ससर्गदोष के क्षेत्र को क्रमशः बहुत आगे बढा दिया है, संभवतः इसका कारण था संस्कार संबंधी शुचिता की भावना पर अत्याधिक बल देना। उदाहरणार्थ- स्मृत्यर्थसार[128] का कहना है कि जो व्यक्ति महापातकी के ससर्ग रखने वाले से संसर्ग रखता है, उसे प्रथम संसर्गकर्ता का आधा प्रायश्चित करना पड़ता है। जबकि मिताक्षरा[129] इससे भी आगे पहुॅच जाती है एंव बताती है कि यद्यपि ऐसा संसर्गकर्त्ता पतित नहीं हो जाता तथापि उसे प्रायश्चित करना पडता है और यहॉ तक कि चौथे एंव पांचवे संसर्गकत्ताओ को भी प्रायश्चित करना पडता है यद्यपि वह अपेक्षाकृत हल्का पडता जाता है। पराशर माधवीय[130] का कथन है कि पराशर ने महापातकियों के संसर्ग में आने वालों के लिए इस भावना से कोई प्रायश्चित की व्यवस्था नही की क्योंकि कलियुग में संसर्गदोष कोई पाप नही है और इसी से कलियुग में कलिवर्ज्यो की संख्या में एक अन्य

स्मृति ने 'पतित के संसर्ग से उत्पन्न आशुचित' एक अन्य कलिवर्ज्य जोड दिया है। निर्णयसिन्धु[131] ने पतित ससर्ग को दोष आवश्य माना है किन्तु संसर्गकर्ता को पतित नही कहा है।

उपपातक (हल्के पाप)

उपपातकों की संख्या विभिन्न युगों एंव स्मृतियों मे भिन्न-भिन्न हैं। वसिष्ठ[132] ने केवल पाच उपपातक गिनाये है:- अग्निहोत्र के आरम्भ के पश्चात उसका परित्याग, गुरू को कुपित करना, नास्तिक होना, नास्तिक से जीविकोपार्जन करना एंव सोमलता की बिक्री करना। गौतम[133] का कथन है कि उनको उपपातक का अपराध लगता है, जो श्राद्ध भोजन के समय पंक्ति में बैठने के आयोग्य घोषित होते हैं जैसे-पशुहन्ता, वेदविस्मरणकर्ता, जो इन के लिए वेदमन्त्रोंच्चारण करते हैं, वे वैदिक ब्रह्मचारी जो ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित करते हैं तथा वे जो उपनयन संस्कार का काल बिता देते हैं। मनुस्मृति[134], याज्ञवल्क्यस्मृति[135], वृद्ध हारीत[136], विष्णु धर्म सूत्र[137], एंव अग्निपुराण[138] में उपपातकों की लम्बी सूचियां हैं। मिताक्षरा[139] का कथन है कि कुछ उपपातकों को बार-बार करने से मनुष्य पतित हो जाता है।[140]

मनु[141] एंव विष्णु[142] ने कुछ दोषों को जातिभ्रंशकर (जिनसे जातिच्युतता प्राप्त होती है) की संज्ञा दी है, यथा ब्राह्मण को (छडी या हाथ से) पीड़ा देना, ऐसी वस्तुओं जैसे लहसुन आदि को सूघना जिसे नही सूघंना चाहिए आसव या मद्य सूंघना, धोखा देना (कहना कुछ करना कुछ) मनुष्य (पशु के साथ भी, विष्णु के मत से) के साथ अस्वाभिक अपराध करना। मनु[143] के मत से बंदर, घोडा, ऊँट, हिरन, हाथी, बकरी, भेंड, मछली या भैंस का हनन संकरीकरण के समान मानना चाहिए। अन्यत्र मनु[144] का कथन है कि निद्यं लोग[145] से दानग्रहण, व्यापार, शूद्र सेवा एंव झूठ बोलने से व्यक्ति धर्म समान के अयोग्य (अपात्रीकरण) हो जाता है। विष्णु[146] ने इसमें ब्याज वृत्ति से जीविकोपार्जन भी जोड दिया है। मनु[147] ने व्यवस्था दी है कि छोटे या बडे कीट पतंगों या पक्षियों का हनन, मद्य के समीप रखे पदार्थों का खाना, फलो ईंधन एंव पुष्पों को चुराना एंव मन की अस्थिरता मलावह (जिससे व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है) कर्म कहे जाते हैं। यही बात विष्णु[148] ने भी कही है। विष्णु[149] का कथन

है कि वे दुष्कृत्य जो विभिन्न प्रकारो मे उल्लिखित नही है, उनकी प्रकीर्णक संज्ञा है। वृद्ध हारीत[150] ने बहुत से प्रकीर्णक दुष्कृत्य गिनाये है।

पापफलों को कम करने के साधन

आत्मापराध- स्वीकृति:

आपस्तम्बधर्मसूत्र[151] में ऐसी व्यवस्था दी गई है कि व्यक्ति को अभिशस्तता के कारण प्रायश्चित करते समय या अन्याय पूर्वक पत्नी त्याग करने पर या विद्वान (वेदज्ञ) ब्राह्मण की हत्या करने पर अपनी जीविका के लिए भिक्षा मांगते समय अपने दुष्कृत्यों की घोषणा करनी चाहिए। मनु[152] एंव गौतम[153] का मत है कि वैदिक विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) को संभोगापराधी होने पर सात घरो मे भिक्षा मांगते समय अपने दोषों की घोषणा करनी चाहिए।

अनुताप (पश्चाताप)

मनु[154], विष्णुधर्मोत्तर पुराण[155] ब्रह्मपुराण[156] का कथन है कि- व्यक्ति का मन जितना ही अपने दुष्कर्म को घृणित समझता है उतना ही उसका शरीर (उसके द्वारा किये गये)पाप से मुक्त होता जाता है। यदि व्यक्ति पाप कृत्य के उपरान्त उसके लिए अनुताप (पश्चाताप) करता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है। उस पाप का त्याग करने के संकल्प एंव यह सोचने से कि, "मै यह पुन: नहीं करूगा'' व्यक्ति पवित्र हो उठता है। पूर्वमध्यकालीन निबन्धों जैसे प्रायश्चित प्रकाश का मत है कि केवल पश्चाताप पापों को दूर करने के लिये पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उससे पापी प्रायश्चित करने के योग्य हो जाता है। अपरार्क[157] द्वारा उल्लिखित यम का वचन है कि अनुताप एंव पापकर्म की पुनरावृत्ति न करना प्रायश्चितों के अंग (सहायक तत्व) मात्र हैं और वे स्वत: (स्वतन्त्र रूप से) प्रायश्चितों का स्थान नहीं प्राप्त कर सकते।

प्राणायाम (श्वासावरोध)-

मनु[158], बौधायन धर्मसूत्र[159] वसिष्ठ[160], अत्रि[161] शंखस्मृति[162] ने कहा है- यदि प्रतिदिन व्याहृतियों एंव प्रणव (आकार) के साथ 16 प्राणायाम किये जायें तो एक मास के उपरान्त भ्रूण हत्या (विद्वान ब्राह्मण

की हत्या) छूट जाती है। यही बात विष्णुधर्मसूत्र[163], मिताक्षरा[164] एंव अग्निपुराण[165] मे कही गई है। याज्ञवल्क्य[166] का कथन है कि उन सभी पापो के लिए तथा उन उपपातको एव पापों के लिए जिनके लिए कोई विशिष्ट प्रायश्चित न निर्धारित हो, एक सौ प्राणायाम नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। शूद्र का भोजन कर लेने से लेकर ब्रह्महत्या तक के विभिन्न पापों के मोचन के लिए बौधायन धर्मसूत्र[167] ने एक दिन से लेकर वर्षभर के लिए विभिन्न संख्याओं वाले प्राणायामों की व्यवस्था दी है।

तप

ऋग्वेद[168] में तप स्वर्ग ले जाने वाला एंव अनाक्रमणीय माना गया है। गौतम[169] का कथन है कि ब्रह्मचर्य, सत्यवचन, प्रतिदिन तीन बार स्नान, गीले वस्त्र धारण एंव उपवास तप में सम्मिलित है। बौधायन[170] ने इसमें अहिंसा, अस्तैन्य (किसी को उसकी सम्पत्ति से वंचित न करना) एंव गुरूशुश्रूषा भी जोड दिये हैं। मनु[171] ने बताया कि जो महापातको एंव अन्य दुष्कर्मों के अपराधी होते है वे सम्यक् तप से पापमुक्त हो जाते हैं तथा विचार, शब्द या शरीर से जो पाप हुए रहते हैं वे तप से जल जाते हैं।

होम

याज्ञवल्क्य[172] के अनुसार यदि कोई द्विज अपने को पापमुक्त करना चाहे तो उसे गायत्री मंत्र द्वारा तिल से होम करना चाहिए। मिताक्षरा[173] ने यम के मत से तिल की एक लाख आहुतियों का उल्लेख किया है। मनु[174] एंव वसिष्ठ[175] के मत से ब्राह्मण व्यक्ति वैदिक मंत्रों के जप एंव होम से सभी विपत्तियों से छुटकारा पा जाता है।मनु[176] एंव याज्ञवल्क्य[177] ने व्यवस्था दी है कि जब कोई साक्षी किसी को मृत्युदण्ड से बचाने के लिए झूठी गवाही देता है तो उसे इस कौटसाक्ष्य के प्रायश्चित के लिए सरस्वती को भातकी आहुतियॉ देनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि होम का परिणाम प्रायश्चित संबंधी एव शुद्धीकरण संबंधी था अर्थात होम करने से पापी शुद्ध हो जाता था।

जप (प्रार्थना या स्तुति के रूप में वैदिक मंत्रों का पाठ)

जप के तीन प्रकार हैं वाचिक (स्पष्ट उच्चरित), उपांशु (अस्पष्ट उच्चरित) एंव मानस (मन से उच्चरित)। इनमें से प्रत्येक आगे

वाला दस गुना अच्छा माना जाता है।[178] जप के लिए तीन बाते आवश्यक है, हृदय (मन) की शुचिता, असगता (निष्कामता या मोहरहितता) एव परमात्मा में आत्मसमर्पण ।

मनु[179] ने व्यवस्था दी है कि बिना जाने किये गये पाप का मार्जन प्रार्थना के रूप में वैदिक वचनो के जप करने से हो जाता है, किन्तु जो पाप जानबूझकर किये जाते हैं उनका मार्जन प्रायश्चितों से ही होता है। मनु[180], वसिष्ठ[181] एव विष्णु[182] ने कहा है- जप का सम्पादन (वेद के) नियमों से व्यवस्थित यज्ञो (दर्शपूर्णमास आदि) से दस गुना लाभकारी है, उपांशु-विधि से किया गया जप (यज्ञों से) सौ गुना अच्छा है और मानस जप सहस्त्र गुना अच्छा है। मनु[183], वसिष्ठ[184], अंगिरा[185] आदि का कथन है कि जिस प्रकार अधिक वेगवती अग्नि हरी घास को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार वेदाध्ययन की अग्नि दुष्कर्मों से प्राप्त अपराध को जला डालती है या वह ब्राह्मण, जो (पढे हुए) ऋग्वेद का स्मरण रखता है, अपराध से अछूता रहता है, भले ही उसने तीनों लोकों का नाश कर दिया हो या उसने किसी का भी दिया हुआ भोजन कर लिया हो ।

दान

गौतम[186] का कथन है कि सोना, गौ, परिधान, घोडा, भूमि, तिल, घृत ऐसे दान है जो पाप का क्षय करते हैं, विकल्प से इनका उपयोग करना चाहिए यदि कोई स्पष्ट उल्लेख न हो। वसिष्ठ[187] का कथन है कि जीविकावृत्ति को लेकर अर्थात् वृत्ति या भरण पोषण से परेशान होकर जब मनुष्य कोई पाप कर बैठता है तो वह गोचर्म के बराबर भूमि भी देकर पवित्र हो सकता है। संवर्त[188] में आया है कि सोने, गाय, भूमि का दान इस जन्म एंव अन्य जन्मों में किये गये पापों को काट देता है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[189] कहते हैं कि हिसा करने से जो पाप होते हैं उनके प्रायश्चितों के लिये व्यवस्थित उपायों में दान प्रमुख है। वृहस्पति[190] ने व्यवस्था दी है कि राजा को भूमि दानपत्रकों में यह लिखित करा देना चाहिए कि उसने यह दान अपने माता पिता के पुण्य के लिए किया है। राजतरंगिणी[191] ने विहारों की स्थापना की ओर संकेत किया है।

उपवास

उपवास करने का वास्तविक अर्थ है अन्न जल का पूर्ण त्याग, किन्तु साधारणत इसका अर्थ है थोडी मात्रा में हल्का भोजन करना। गौतम[192] ने उपवास को पापमोचन की कई विधियों में रखा है उसके अनुसार तप भी एक साधन है। मनु[193] विष्णु[194] का कथन है कि एक दिन का उपवास वेद व्यवस्थित कृत्यों (यथा दशपूर्णमास यज्ञ या सन्ध्या वंदन) से छोड देने एव स्नातक के विशिष्ट कर्मों को प्रमाद से छोड देने पर प्रायश्चित रूप में किया जाता है। देवल[195] एंव स्मृति चन्द्रिका[196] के अनुसार उपवास करते समय कई कर्म छोड़ देने पडते हैं। बार-बार पानी पीने से उपवास का फल जाता रहता है, इसी प्रकार पान (ताम्बूल) खाने, दिन में सोने एंव संभोग से इसका फल नष्ट हो जाता है।

मनु[197] एंव अग्निपुराण[198] के अनुसार घास, ईधन, वृक्ष, सूखे भोज्य पदार्थ (चावल आदि) वस्त्र, खाल एव मांस की चोरी के प्रायश्चितके लिए तीन दिनों का उपवास निर्धारित किया है।

तीर्थयात्रा

ऐसा विश्वास था कि तीर्थयात्रा करने एंव पवित्र नदियों जैसे गंगा में स्नान करने से मनुष्य के पाप कटते हैं। विष्णु[199] में आया है कि महापातकी लोग अश्वमेध से या पृथ्वी पर पवित्र स्थानों की यात्रा करने से पवित्र हो जाते हैं। देवल ने कहा कि यज्ञों के सम्पादन या तीर्थों की यात्रा द्वारा जानबूझकर न की गई ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति मिल सकती है। पराशर[200] का कथन है कि चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की हत्या करने वाले को सेतुबन्ध (रामेश्वर) जाना चाहिए।[201] मत्स्यपुराण[202] ने कहा है- कि मेरू या मन्दर नामक पर्वत से भी भारी पाप की गठरी अविमुक्त (वाराणसी) में पहुचने से कट जाती है। स्मृत्यर्थसार[203] मे आया है कि पुराणों से पता चलता है कि ब्रह्मा, विष्णु एंव शिव जैसे देवों, भृगु, वसिष्ठ एंव विश्वामित्र जैसे महान ऋषियों हरिश्चन्द्र, नल एव सागर जैसे राजाओं ने तीर्थों द्वारा ही इतनी महत्ता प्राप्त की । पाण्डवों, कृष्ण तथा नारद, व्यास आदि ऋषियों ने राज्य प्राप्ति एंव पापमोचन के लिए तीर्थयात्रायें की थी।

2- प्रायश्चित

अधिकाश निबंधो एव टीकाओं ने प्रायश्चित की व्युत्पत्ति प्राय: (अर्थात् तप) एव चित्त (अर्थात संकल्प या दृढ विश्वास) से की है। इसका तात्पर्य यह है कि इसका सबध तप करने के संकल्प से है या इस विश्वास से है कि इससे पाप मोचन होगा।

पराशरमाधवीय[204] ने एक स्मृति का उल्लेख करके कहा है कि वह प्रायश्चित है जिसके द्वारा अनुताप (पश्चाताप) करने वाले पापी का चित्त (मन) सामान्यत: (प्रायश) पार्षद (विद्वान ब्राह्मणों की परिषद या सभा) द्वारा विषम के स्थान पर समकर दिया जाता है अर्थात् साधारण स्थिति में कर दिया जाता है। मिताक्षरा[205] का कथन है प्रायश्चित शब्द रूढ़ रूप से उस कर्म या कृत्य का द्योतक है जिसे नैमित्तिक कहा जाता है, अर्थात् इसका उपयोग तभी होता है जब कि उसके लिए कोई अवसर आता, यह पाप-नाश के लिए भी प्रयुक्त होता है अत: यह काम्य भी है। पराशरमाधवीय[206] बालम्भट्टी[207] एव जाबाल[208] के मत से प्रायश्चित का संबंध नैमित्तिक एंव काम्य दोनों कर्मो से है।

बृहस्पति आदि ने पापों के दो प्रकार दिये हैं कामकृत (अर्थात् जो जानबूझकर किया जाय) तथा अकामकृत (अर्थात् जो यो ही बिना जाने बूझे हो जाय) । कामकृत पापों को प्रायश्चितो द्वारा नष्ट किया जा सकता है कि नहीं, इस विषय में काफी मतभेद हैं। मनु[209] एंव याज्ञवल्क्य[210] ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अनजान में किये गये पापों का नाश प्रायश्चितों अथवा वेदाध्ययन से किया जा सकता है। जानबूझकर किये गये पापों के विषय में गौतम[211] ने दो मत दिये है जिनमें से एक में कहा गया है कि दुष्कृत्यों के लिए प्रायश्चित नही किये जाने चाहिए, क्योकि उनका नाश नहीं होता। किन्तु दूसरे मत में कहा गया है कि पाप के प्रभावों (फलों) को दूर करने के लिए प्रायश्चित का सम्पादन होना चाहिए। दूसरे मत का आधार वैदिक उक्तियों में खोजा गया जैसे कोई व्यक्ति पुन. स्तोम के सम्पादन-उपरान्त पुन: सोमयज्ञ में आ सकता है (अर्थात् वह सामान्य वैदिक कृत्य कर सकता है) एंव जो व्यक्ति अवश्मेध करता है वह सब पापों को पारकर जाता है और ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है। इस सबंध में मनु[212] का कथन अवलोकनीय है कि कुछ लोगो के मतानुसार वेदों के संकेत से जानबूझकर किये गये पापों के शमनार्थ

प्रायश्चित किये जा सकते है। एक स्थल पर याज्ञवल्क्य[213] भी कहते है कि प्रायश्चितों से पाप मोचन होता है। मेधातिथि[214] ने तैत्तिरीय संहिता[215], काठक संहिता[216] एंव ऐतरेय ब्राह्मण[217] मे वर्णित गाथा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है: इन्द्र ने यतियों को शालवृको (कुत्तों या भेडियों) को अर्पित कर दिया और उसे उस पाप से मुक्ति पाने के लिए उपहत्य नामक कृत्य करना पडा । मनु[218] ने अपना मत भी दिया है कि अनजान मे किये गये पापो का शमन वेद वचनो के पाठ से होता है और जानबूझ कर किये गये पाप विभिन्न प्रायश्चितो से ही नष्ट किये जाते हैं।

याज्ञवल्क्य[219] का कथन है कि प्रायश्चित जान-बूझकर किये गये पापों को नष्ट नही करते, किन्तु पापी प्रायश्चित कर लेने से अन्य लोगों के संसर्ग में आ जाने के योग्य हो जाता है यही बात मनु[220] के कथन से भी झलकती है- प्रायश्चित न करने वाले पापियों से सामाजिक संबंध नहीं रखना चाहिए।

स्मृतियों द्वारा उपस्थापित विभिन्न मतों का समाधान मिताक्षरा[281] ने किया है, जो सभी मध्यकाल के लेखकों को मान्य है। उसकी उक्ति है- पापों के फल एंव शक्ति दो प्रकार के हैं । यथा नरक की प्राप्ति एंव पापी का समाज के सदस्यों द्वारा बहिष्कार। अत: यदि प्रायश्चित पापी को नरक से न बचा सके तो भी उसके द्वारा समाज-संसर्ग स्थापन अनुचित नही कहा जा सकता। जो पापकृत्य पतनीय (जातिच्युत करने वाले) नही है वे मनु[222] के कथन द्वारा प्रायश्चित से अवश्य नष्ट हो जाते हैं। वे पाप भी जो पतनीय हैं और जानबूझकर किये गये हैं आपस्तम्ब धर्मसूत्र[223] के कथन से मृत्यु पर्यन्त चलने वाले प्रायश्चितों से दूर हो सकते हैं। मनु[224] याज्ञवल्क्य[225] गौतम[226], ब्राह्मण हत्या के लिए, मनु[227], याज्ञवल्क्य[228] एंव गौतम[229] सुरापान के लिए, गौतम[230], मनु[231] एंव याज्ञवल्क्य[232] गुरू पत्नी से संभोग के लिए, मनु[233], एंव याज्ञवल्क्य[234] ब्राह्मण के सोने की चोरी के लिए। प्रायश्चित्तमुक्तावली जैसे मध्यकाल के निबंधों का कथन है कि ब्राह्मण पापियों के विषय में मृत्यु पर्यन्त चलने वाला प्रायश्चित कलिवर्ज्य के मतानुसार वर्जित है अत: हत्यारे ब्राह्मण के लिए केवल बारह वर्षों का प्रायश्चित ही पर्याप्त है।

मनु[235] एंव विष्णु[236] में आया है कि जो बच्चों की हत्या करता है, जो अच्छा करने पर बुरा करता है, जो शरण में आगत की

हत्या कर डालता है, जो स्त्रियों का हन्ता है, ऐसे व्यक्ति के साथ, भले ही उसने उचित प्रायश्चित कर लिया हो, तब भी संसर्ग नहीं रखना चाहिए। मिताक्षरा एंव विश्वरूप से लेकर आगे के सभी धर्मशास्त्रकारों द्वारा स्मृतिवचनों को न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयास किया गया । चाहे वे तर्कसंगत न हो और अतिश्योक्ति से भरे हों।

प्रायश्चित के योग्य पातकों, एव विद्वानो, ब्राह्मणों की परिषद् द्वारा व्यवस्था प्राप्त राजा द्वारा दण्डित किये जाने वाले अपराधियों के अपराधों में क्या अन्तर है? प्रायश्चित एंव दण्ड की प्रक्रिया पूर्ण करने में राजा का क्या योगदान होता था? आरम्भिक काल से ही न्याय संबंधी कार्यों एंव शासन प्रबंध सम्बंधी कार्यों मे अन्तर विशेष प्रकट कर दिया गया था। बृहस्पति (विवादरत्नाकर में उद्धृत) का कथन है- यदि किसी सच्चरित्र एव वेदाभ्यासी व्यक्ति ने चोरी का अपराध किया है तो उसे बहुत समय तक बंदी गृह में रखना चाहिए और धन को लौटा देने के उपरान्त उससे प्रायश्चित कराना चाहिए।[257]

परिषद प्रायश्चितों के लिए स्वयं अपने नियम निर्धारित करती थी और राजा दण्ड देता था। संभवत: परिषद के धार्मिक न्याय क्षेत्र में राजा दखल नहीं देता था और ब्राह्मण लोग न्यायाधीशों के रूप में एंव दण्ड संबंधी सम्मतियॉ देकर राजा को न्यायशासन में सहायता देते थे। वसिष्ठ[238] गौतम[239] ने शतपथ ब्राह्मण[240] के शब्दों के समान ही कहा है। राजा एंव बहुश्रुत ब्राह्मण संसार की नैतिक व्यवस्था को धारण करने वाले है। देवल[241] का कथन है- राजा कृच्छ्रों का दाता है (अर्थात् व्यवस्थित प्रायश्चितों के वास्तविक सम्पादन में उसकी सम्मति आवश्यक है) विद्वान धर्मपाठक, (धर्मशास्त्रज्ञ) प्रायश्चितों के व्यवस्थापक है, पापी प्रायश्चित-सम्पादन करता है और राज्यकर्मचारी प्रायश्चित सम्पादन की देखरेख करने वाला है । पराशर[242] का कथन है कि राजा की अनुमति ले लेने के उपरान्त परिषद को उचित प्रायश्चित का निर्देश करना चााहिए, बिना राजा को बताये निर्देश स्वंय नही करना चाहिए, किन्तु हल्का प्रायश्चित बिना राजा की अनुमति के भी किया जा सकता है।

विशिष्ट पापों के विशिष्ट प्रायश्चित:

स्मृतियों में एक ही प्रकार के पाप के लिए कई प्रकार के प्रायश्चितों की व्यवस्था है, अत: सभी मतों का समाधान करना दुष्कर है।

टीकाएँ एंव मिताक्षरा तथा प्रायश्चित-विवेक जैसे निबध विशिष्ट प्रायश्चितों की व्यवस्था अन्य परिस्थितियों की जांच करके देते है अर्थात् वे 'विषयव्यवस्था' पर ध्यान देते है। यथा प्रायश्चित के लिए कामत एंव अकामत पर ध्यान देना, स्थान, समय, जाति एव प्रथम बार या कई बार इत्यादि तथ्यो को ध्यान मे रखकर ही प्रायश्चित का निर्धारण करते थे।

महापातकों के लिए प्रायश्चित:

शंख[243], अपरार्क[244] एंव पराशरमाधवीय[245] ने चार महापातकों के लिए निम्न प्रायश्चित निर्धारित किये है- महापातकी को दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए; वन में पर्णकुटी (घास फूस पत्तियों आदि से निर्मित झोपडी) बना लेनी चाहिए; पृथ्वी पर सोना चाहिए; पर्ण, मूल, फल पर ही रहना चाहिए; ग्राम मे भिक्षाटन के लिए प्रवेश करते समय महापातक की घोषणा करनी चाहिए; दिन में केवल एक बार ही खाना चाहिए। जब इस प्रकार 12 वर्ष व्यतीत हो जाते हैं तो सोने का चोर, सुरापान करने वाला, ब्रह्महत्यारा एंव व्यभिचारी (माता, बहिन, पुत्रवधू, गुरू पत्नी आदि से व्यभिचार करने वाला) महापाप से मुक्त हो जाता है। विष्णु[246] ने माता, पुत्री, पुत्रवधू के साथ संभोग करने को अतिपाप कहा है और उसके लिए[247] अग्नि में प्रवेश से बढकर कोई अन्य प्रायश्चित नहीं ठहराया है। किन्तु मनु[248] एंव याज्ञवल्वक्य[249] आदि कुछ स्मृतियों में मातृगमन को महापातक (गुरूतल्पगमन एंव पुत्री तथा पुत्र वधू के साथ गमन) को गुरू शैय्या अपवित्र करने के समान माना है।[250] महापातको में प्रथम स्थान ब्रह्महत्या को दिया गया है। गौतम[251], आपस्तम्बधर्मसूत्र[252], वसिष्ठ[253], विष्णु[254], मनु[255], याज्ञवल्क्य[256], अग्निपुराण[257] संवर्त[258] आदि मे विभिन्न प्रायश्चितों की व्यवस्था दी है। भविष्यपुराण, कुल्लूकभट्ट[259], अपरार्क[260] एंव प्रायश्चित विवेक[261] ने ब्रह्महत्या के विषय में मनु द्वारा स्थापित 13 विभिन्न प्रायश्चित गिनाये हैं। सामान्यत: यह नियम था कि ब्रह्महत्यारों को मृत्युदण्ड मिल जाना चाहिए। प्रायश्चित विवेक की अपनी टीका तत्वार्थकौमुदी में गोविन्दानन्द ने 13 प्रायश्चितों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

1 ब्रह्मघातक को वन में पर्णकुटी बनाकर 12 वर्षों तक रहना चाहिए; उसे भिक्षा पर जीना चाहिए और एक दण्ड पर मृत व्यक्ति के मस्तक अस्थि का एक टुकड़ा सदैव रखकर चलना चाहिए।

मिताक्षरा[262] एव कुल्लकभट्ट[263] का कथन है कि यदि ब्रह्म हत्या अनजान में हुई तो यह व्रत 12 वर्षों तक चलना चाहिए, किन्तु जानबूझकर की गई ब्रह्महत्या के लिए अवधि दूनी अर्थात् 24 वर्षों की होती है। मिताक्षरा[264] ने मनु एव देवल का साक्ष्य देते हुए कहा है कि यदि दो ब्रह्महत्याओं के लिए 24 वर्षों, तीन हत्याओं के लिए 36 वर्षो का व्रत होना चाहिए और चार हत्याओं के लिए केवल मृत्युदण्ड ही प्रायश्चित है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[265]·गौतम[266], मनु[267] एव याज्ञवल्क्य[268] के मत से यदि ब्रह्मघातक क्षत्रिय हो और उसने जानबूझकर हत्या की हो तो वह चाहे तो युद्ध करने चला जाये, उसके साथ युद्ध करने वाले लोग उसे ब्रह्मघातक समझकर मार सकते हैं। यदि हत्यारा मर जाये या घायल होकर संज्ञाशून्य हो जाये और अन्त में बच भी जाये तो वह महापातक से मुक्त हो जाता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[269]·वसिष्ठ[270], गौतम[271], मनु[272] एव याज्ञवल्क्य[273] का कथन है कि हत्यारा किसी कुल्हाडी से अपने बाल, चर्म, रक्त, मांस, मांसपेशियां, वसा, अस्थिया एंव मज्जा काट-काट कर साधरण अग्नि में (उसे मृत्यु देवता समझकर) आहुतियों के रूप में दे दे और अंत में अपने को अग्नि में (मनु[274] के अनुसार तीन बार सिर नीचा करके) झोंक दें। मदनपारिजात एंव भविष्य पुराण[275] के मत से यह प्रायश्चित क्षत्रिय द्वारा की गई ब्रह्महत्या के लिए व्यवस्थित है। ब्रह्मघातक अश्वमेध या गोसव या अभिजित या विश्वजित या तीन प्रकार वाला अग्निष्टुत (मनुस्मृति[276]) यज्ञ कर सकता है। अश्वमेध केवल राजा या सम्राट कर सकता है, अन्य यज्ञ तीन उच्च वर्णों का कोई घातक कर सकता है। ये यज्ञ केवल उसके लिए हैं जो अनजान मे ही ब्रह्महत्या करता है। (कुल्लूकभट्ट)[277], (9) मनु[278] के अनुसार ब्रह्महत्या के महापातक से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति सीमित भोजन करते हुए आत्मनिग्रहपूर्वक चारों में से किसी एक वेद के पाठ के साथ 1000 योजनों की पैदल यात्रा कर सकता है। कुल्लूकभट्ट[279] का कथन है कि प्रायश्चित केवल उसके लिए है जिसने किसी साधारण ब्राह्मण (जो वेदज्ञ या विद्वान आदि न हो) की हत्या अनजान में की है।

(10) मनु[280] के मत से ब्रह्मघातक किसी वेदज्ञ को अपनी सारी सम्पत्ति दान मे देकर छुटकारा पा सकता है। (11) मनु[281] एव याज्ञ0[282] का कथन है कि घातक किसी सदाचारी एंव वेदज्ञ ब्राह्मण को उतनी सम्पत्ति दान दे सकता है जिससे वह ब्राह्मण जीवन भर एक सुसज्जित घर में रहकर जीविका चला सके। मिताक्षरा[283] का मत है कि (10) एंव (11) प्रायश्चित एक ही हैं (स्मृत्यर्थसार[284])। मनु[285], याज्ञवल्क्य[286] के मत से घातक नीवार, दूध या घृत पर जीवन यापन करता हुआ सरस्वती नदी की शाखाओं की यात्रा कर सकता है। भविष्यपुराण एंव कुल्लूक[287] के मत से यह व्रत उस व्यक्ति के लिए जिसने किसी साधारण ब्राह्मण (जिसने विद्यार्जन न किया हो) की हत्या जान बूझकर की हो और जो स्वंय धनवान हो किन्तु वेदज्ञ न हो। (13) मनु[288] एंव याज्ञवल्क्य[289] ने व्यवस्था दी है कि उसको वन मे सीमित भोजन करते हुए वेद की संहिता का तीन बार पाठ करना चाहिए।

यदि कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जानबूझकर स्वंय किसी ब्राह्मण को मार डाले तो उसके लिए मृत्यु ही प्रायश्चित है, किन्तु अज्ञान में हुई ब्रह्महत्या के लिए उसी पाप में ब्राह्मण को जो प्रायश्चित करना पड़ता है उसका उनके लिए क्रम से दूना, तिगुना या चौगुना प्रायश्चित होता है। यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य,या शूद्र को मार डालता है तो केवल उपपातक लगता है, किन्तु यदि क्षत्रिय या वैश्य सोमयज्ञ में लगे हो और उन्हें कोई ब्राह्मण मार डाले तो पाप बड़ा होता है और प्रायश्चित भी भारी होता है (सामविधान ब्राह्मण[290] याज्ञवल्क्य[291] वसिष्ठ[292])। याज्ञवल्क्य[293] मनु[294] एंव आपस्तम्ब धर्म सूत्र के मत से क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को मारने वाले के लिए अन्य प्रायश्चित भी हैं। क्षत्रिय के क्षत्रिय हत्यारे को क्षत्रिय के ब्राह्मण हत्यारें से कुछ कम अर्थात 1/4 भाग कम प्रायश्चित करना पडता है। याज्ञवल्क्य[295] एंव मनु[296] के अनुसार मृत स्त्रियों को क्षत्रिय वैश्य एंव शूद्रों पुरूषों के समान ही माना जाता था किन्तु गौतम[297], आपस्तम्बधर्म सूत्र[298], बौधायनधर्मसूत्र[299] वसिष्ठ[300] एव विष्णु[301] के अनुसार आत्रेयी या गर्भवती स्त्री के विषय में ऐसी बात नही थी, उनके हत्यारे को भारी प्रायश्चित करना पडता था। यदि द्विज पत्नी सोमयज्ञ कर रही हो और उसे कोई मार डाले तो उसके हत्यारे को ब्रह्मघातक के

समान ही प्रायश्चित करना पडता था। व्यभिचारिणी को मारने पर प्रेमी हत्यारे एंव उस स्त्री की जाति के अनुसार ही भारी प्रायश्चित करना पडता था। (गौतम[302], मनु[303] एव याज्ञवल्क्य[304] के अनुसार)।

मनु[305], विष्णु[306] एंव याज्ञवल्क्य[307] के मत से ब्राह्मण को धमकी देने या पीटने पर क्रम से कृच्छ्र या अतिकृच्छ तथा रक्त निकाल देने पर कृच्छ्र एव अतिकृच्छ्र प्रायश्चित करने पडते थे।

सुरापान करने पर ब्राह्मण को अति कठोर प्रायश्चित करने पर ही जीवन रक्षा मिल सकती थी। गौतम[308], आपस्तम्बधर्मसूत्र[309], बौधायनधर्मसूत्र[310] वसिष्ठ[311], मनु[312] एव याज्ञवल्क्य[313] के मत से यदि कोई ब्राह्मण अन्न से बनी सुरा को ज्ञान में केवल एक बार पी ले तो उसका प्रायश्चित मृत्यु ही है, अर्थात् उसे उसी खोलती हुई सुराको, या खोलते हुए गोमूत्र को या खौलते हुए दूध, घी, जल या गीले गोबर को पीना पड़ता था और जब वह पूर्णरूपेण इस प्रकार जल उठता था और उसके फलस्वरूप मर जाता था तो वह सुरापान के महापातक से मुक्त हो जाता था। मिताक्षरा[314], अपरार्क[315], एंव प्रायश्चित प्रकरण[316] का भी यही मत है। हरदत[317] ने कहा है कि यह भयानक प्रायश्चित उसके लिए है जो जानबूझकर लगातार सुरापान करता है।

ऋषियों ने क्षत्रियों एंव वैश्यों के लिए भी सुरापान करने पर यही प्रायश्चित बताया है। मदनपारिजात[318], प्रायश्चित विवेक[319], प्रायश्चित प्रकरण[320], मिताक्षरा[321] आदि के मत से 12 वर्षों का प्रायश्चित उस व्यक्ति के लिए है जो अज्ञानवश या बलवश आटे से बनी हुई सुरा पी लेता है। गौतम[322], याज्ञवल्क्य[323], मनुस्मृति[324] अत्रि[325] के मत से अज्ञान में मद्यों, मानववीर्य, मलमूत्र को पी जाने वाले तीन उच्च वर्णों के व्यक्तियों का तपकृच्छ्र नामक प्रायश्चित करके पुन: उपनयन संस्कार करना पड़ता है।

कोई ब्राह्मण आटे से बनी सुरा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के मद्य का सेवन करता है तो उसके लिए कई प्रकार के हल्के प्रायश्चितों (यथासमुद्रगामिती नदी पर चन्द्रायण व्रत रखना, ब्रह्मभोज देना, एक गाय एंव बैल का दान करना) की व्यवस्था दी हुई हैं। पराशर[326] एंव मिताक्षरा[327] के अनुसार क्षत्रियों एंव वैश्यों को सुरा (पैष्टी, आटे से बनी) के अतिरिक्त अन्य मद्य पीने से कोई पाप नहीं लगता है और शूद्र

पैष्टी सुरा भी पी सकता है। मिताक्षरा[328] का कथन है कि मनु[329] ने यद्यपि ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो के लिए सुरा वर्जित मानी हैं, किन्तु उन बच्चों के लिए जिनका उपनयन कृत्य नहीं हुआ है तथा अविवाहित लडकियों के लिए भी सुरापान वर्जित है।

स्मृतियों ने खानपान के विषय में दोषो के लिये विभिन्न प्रायश्चितो की व्यवस्था दी है, यथा सुरा के लिए प्रयुक्त किसी पात्र में जल पीना, किसी चाण्डाल या धोबी या शूद्र के घर के पात्र मे जल पीना, न पीने योग्य दूध का सेवन आदि (गौतम[330], याज्ञवल्क्य[331], मनु[332])। सामविधान ब्राह्मण[333] मनु[334] आदि ने एक सामान्य नियम प्रतिपादित किया है कि यदि कोई व्यक्ति आंतरिक शुचिता चाहता है तो उसे निषिद्ध भोजन नहीं करना चाहिए, यदि वह अज्ञानवश ऐसा भोजन कर ले तो उसे प्रयास करके वमन कर देना चाहिए और यदि वह ऐसा न कर सके तो उसे शीघ्रता से प्रायश्चित कर लेना चाहिए। (अज्ञान से निषिद्ध भोजन कर लेने पर हल्का प्रायश्चित होता है)

सोने की चोरी

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[335] अनुसार चोर को एक गदा लेकर राजा के पास पहुँचना होता था और राजा उसे एक ही बार में मार डालने का प्रयास करता था एंव विकल्प में[336] अग्नि प्रवेश या कम खाते-खाते मर जाने की व्यवस्था दी है। मनु[337] एंव याज्ञवल्क्य[338] के अनुसार 80 रत्तियों की तोल या इससे अधिक की तोल तक (ब्राह्मण के) सोने की चोरी । सभी वर्णों के लिए चोरों का प्रायश्चित मृत्यु के रूप में था, किन्तु ब्राह्मण को इस महापातक के लिए वन में बारह वर्षों तक चीथडों में लिपटकर प्रायश्चित स्वरूप रहना पडता था, या वही प्रायश्चित करना पडता था जो ब्रह्महत्या (मनु[339]) या सुरापान (याज्ञवल्क्य[340]) के लिए व्यवस्थित था। मिताक्षरा[341] के अनुसार सोने की चोरी में चोर अपने भार के बराबर सोना भी दे सकता था या उसे इतना धन देना पडता था कि किसी ब्राह्मण के कुल का ब्राह्मण के जीवनकाल तक भरण पोषण हो सके।

यदि 80 रत्तियों से कम (ब्राह्मण के भी) सोने की चोरी हुई हो, या किसी क्षत्रिय या किसी अन्य अब्राह्मण का सोना किसी भी

मात्रा में चोरी हो गया हो तो चोर को उपपातक का प्रायश्चित लगता है। मनु[342], मत्स्य[343] एव विष्णु[344] ने कई प्रकार के प्रायश्चितो की व्यवस्था दी है। यथा- अनाज, पके भोजन या धन की चोरी मे एक वर्ष का कृच्छ्र, पुरूषों या स्त्रियो को भगाने या किसी भूमि को हडप लेने या कूपो और जलाशयो के जल का अनुचित प्रयोग करने पर चन्द्रायण प्रायश्चित, विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों, गाडी या शैय्या या आसन या पुष्पों या फल मूलों की चोरी पर पंचगव्य प्राशन का प्रायश्चित; घास, लकडी, पेडों, सूखे भोजन, खॉड, परिधानों, चर्म या (कवच), एंव मांस की चोरी पर तीन दिनों एंव रातों को उपवास, रत्नों, मोतियो, मूगां, ताम्र, चादी, लोहा, कास्य या पत्थरों की चोरी पर कोदो चावलो का 15 दिनों तक भोजन; रूई, रेशम, ऊन, फटे खुरों वाले पशुओं (गाय आदि) की चोरी पर केवल दुग्ध पान। चोर को चोरी की वस्तु लौटाकर ही प्रायश्चित करना पडता था। मनु[345] एंव विष्णु[346] के अनुसार मेधातिथि[347] का कथन है कि यदि चोरी गई वस्तु न लौटाई जा सके तो प्रायश्चित दूना होता है। इसके अतिरिक्त चोरी के कुछ मामलों में यदि राजा द्वारा शारीरिक दण्ड या मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था तो चोरी गई वस्तु का ग्यारह गुना अर्थ दण्ड देना पड़ता था। (मनु[348] एंव विष्णु[349] अनुसार)।

गुरूपत्नी के साथ व्यभिचार करने के विषय में आदिकाल से ही प्रायश्चित की व्यवस्था रही है। गौतम[350] आपस्तम्बधर्मसूत्र[351], बौधायनधर्मसूत्र[352] वसिष्ठ[353] एंव मनु[354] ने व्यवस्था दी है कि अपराधी को अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए और तब उसे तप्तलोह पर शयन करना होगा या नारी की तप्तलौह मूर्ति का आलिंगन करना होगा या उसे अपने लिंग एंव अण्डकोषों को काटकर उन्हें लिए हुए दक्षिण या दक्षिणपूर्व की दिशा मे तब तक सीधे चलते जाना होगा जब तक वह मृत होकर गिर न पड़े और तभी वह (इस प्रकार की मृत्यु से) शुद्ध हो सकेगा। मिताक्षरा[355] के मत से उपर्युक्त तीनों पृथक प्रायश्चित नहीं हैं किन्तु इनमें दो तप्तलौह पर शयन एंव तप्त नारी मूर्ति का आलिंगन एक ही प्रकार का प्रायश्चित है। मेधातिथि[356] ने भी ऐसा ही प्रायश्चित सही माना है।

मनु[357] याज्ञवल्क्य[358], संवर्त[359] ने गुरू पत्नी (आचार्याणी) उच्च जाति की कुमारी, पुत्रवधू, सगोत्र नारी, सहोदरा नारी (बहिन) या अन्त्यज नारी के साथ संभोग करने को गुरूतल्प गमन के समान ही माना है

और प्रायश्चित उससे थोडा ही कम ठहराया है। पराशर[360] ने तीन प्रायश्चितों की व्यवस्था दी है लिग काट लेना, तीन कृच्छ्र या तीन चान्द्रायण, जब कि व्यक्ति-अपनी माता, बहिन या पुत्री से व्यभिचार करता है। मिताक्षरा[361] ने शंख का उद्वरण देकर कहा है कि चारों महापातकों के लिए बारह वर्षों का प्रायश्चित होता है, अत. यह नियम सजातीय गुरू पत्नी के साथ संभोग करने पर भी लागू होता है। मनु[362], विष्णु[363], अग्निपुराण[364], एंव शांतिपर्व[365] का कथन है कि वह पाप, जिसमें द्विज किसी वृषली (चाण्डाल नारी) के साथ एक रात संभोग करता है, तीन वर्षो तक भीख मागकर खाने एंव गायत्री आदि मत्रो के जप से दूर हो जाता है। याज्ञवल्क्य[366] के मत से यदि कोई पुरूष चाची, मामी, पुत्रवधू, मौसी आदि से उनकी सहमति से संभोग करता है तो उस व्यभिचारिणी नारी को मृत्यु का राजदण्ड मिला है और उसे वही प्रायश्चित करना पड़ता है जो पुरूष के लिये व्यवस्थित है। मनु[367], लघुशातातप[368], अग्निपुराण[369] का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण अज्ञान मे चाण्डाल स्त्री या म्लेच्छ स्त्री से संभोग करता है, या चाण्डाल या म्लेच्छ के यहाँ खाता है या दान लेता है तो उसे पतित होने के बाद का प्रायश्चित करना पड़ता है और यदि वह ऐसा ज्ञान में करता है तो उन्हीं के समान हो जाता है। वसिष्ठ[370] एंव विष्णु[371] का भी यही मत है। प्राचीनकाल के व्यवस्थाकारों ने महापातकियों के संसर्ग में आने वाले व्यक्तियो के लिए भी प्रायश्चित की व्यवस्था की है। मनु[372], विष्णु[373] एंव याज्ञवल्क्य[374] का कथन है कि जो भी कोई महापातकियों का संसर्ग (याज्ञवल्क्य के मतानुसार वर्षभर) करता है उसे ससर्ग पाप से मुक्त होने के लिए महापातक वाला ही व्रत (प्रायश्चित) करना पडता है। कुल्लूकभट्ट[375] एंव प्रायश्चितसार[376] का कथन है कि यहां व्रत शब्द प्रयुक्त हुआ अत: केवल 12 वर्षों वाला प्रायश्चित करना पडता है, मृत्यु का आलिंगन नही करना पडता है[377]। यदि संसर्ग अज्ञानवश हो तो प्रायश्चित आधा होता है, व्यास ने ज्ञान में किये गये संसर्ग के लिए 3/4 प्रायश्चित की व्यवस्था दी है।[378] प्रायश्चित विवेक[379] के मत से ब्राह्मण एंव शूद्र के संसर्ग के विषय में प्रत्येक वर्ण के लिए 1/4 छूट दी जाती थी।

मनु[380], याज्ञवल्क्य[381] एंव विष्णु[382] ने व्यवस्था दी है कि सभी उपपातको से शुद्धि (केवल अवकीर्णी को छोडकर) उस प्रायश्चित से जो

गोवध के लिए व्यवस्थित है, या चान्द्रायण से या एक मास तक केवल दुग्ध प्रयोग से या पराक या गोसव से हो जाती है।

श्राद्वकर्म:

आपस्तम्बधर्मसूत्र[383] से सूचना मिलती है कि "पुराने काल में मनुष्य एंव देव इसी लोक में रहते थे। देव लोग यज्ञो के कारण (पुरस्कार स्वरूप) स्वर्ग चले गये किन्तु मनुष्य रह गये। जो मनुष्य देवों के समान यज्ञ करते हैं वे परलोक (स्वर्ग) मे देवों और ब्रह्म के साथ निवास करते हैं तब (मनुष्यों को पीछे रहते देखकर) मनु ने उस कृत्य का आरम्भ किया, जिसे श्राद्ध की सज्ञा मिली है। जो मानव जाति को श्रेय (मुक्ति या आनन्द) की ओर ले जाता है। इस कृत्य में पितरलोग देवता (अधिष्ठाता) हैं, किन्तु ब्राहमण लोग (जिन्हें भोजन दिया जाता है) आहवनीय अग्नि (जिसमे यज्ञों के समय आहुतियां दी जाती हैं) के स्थान पर माने जाते है''। ब्रह्मण्ड पुराण[384] ने मनु को श्राद्ध के कृत्यों का प्रवर्तक एंव विष्णु पुराण[385], वायुपुराण[386] एंव भागवत पुराण[387] ने श्राद्धदेव कहा है। इसी प्रकार शांतिपर्व[388] एंव विष्णुधर्मोत्तर[389] पुराण में आया है कि श्राद्ध-प्रथा का संस्थापन विष्णु के वराहावतार के समय हुआ और विष्णु को पिता, पितामह एव प्रपितामह को दिये गये तीन पिण्डों में अवस्थित मानना चाहिए। इस साक्ष्य एंव आपस्तम्ब धर्मसूत्र के वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की कई शताब्दियों पूर्व श्राद्ध प्रथा का प्रतिष्ठापन हो चुका था एंव यह मानव जाति के पिता मनु के समान ही प्राचीन है।[390] किन्तु यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि श्राद्ध शब्द किसी भी प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता है। कठोपनिषद[391] में श्राद्ध शब्द आया है, इससे स्पष्ट है कि इस काल में पितरों से संबंधित कोई कृत्य नहीं किये जाते थे, किन्तु जब पितरों के सम्मान में किये गये कृत्यों की संख्या में अधिकता हुई तब श्राद्ध शब्द की उत्पित्ति हुई।

श्राद्ध की प्रशंसा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। बौधायनधर्मसूत्र[392] का कथन है कि पितरों के कृत्यों से दीर्घ आयु, स्वर्ग, यश एव पुष्टिकर्म (समृद्धि) का उदय होता है। हरिवंश[393] में आया है कि "श्राद्ध से यह लोक प्रतिष्ठित है और इससे योग (मोक्ष) का उदय होता है। सुमन्तु[394] का कथन है श्राद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर कुछ भी नहीं है।'' वायुपुराण[395] का कथन है कि "यदि कोई श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करता है तो

वह ब्रह्म, इन्द्र, रूद्र एव अन्य देवो, ऋषियो, पक्षियो, मानवो, पशुओं, रेंगने वाले जीवों एव पितरो के समुदाय तथा उन सभी को जो जीव कहे जाते हैं; एंव सम्पूर्ण विश्व को प्रसन्न करता है।'' यम[396] ने कहा है कि पितृपूजन से आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि (समृद्धि), बल, श्री, पशु, सौख्य, धन, धान्य की प्राप्ति होती है।''

श्रद्धासार[397] एंव श्रद्धाप्रकाश[398] द्वारा उद्दत विष्णु धर्मोत्तर में ऐसा कहा गया है कि प्रपितामह को दिया गया पिण्ड स्वंय वासुदेव घोषित करता है, पितामह को दिया गया संकर्षण तथा पिता को दिया गया प्रद्युम्न घोषित है और पिण्डकर्ता स्वंय अनिरूद्ध कहलाता है।

अति प्राचीनकाल में मृत पूर्वजो के लिए केवल तीन कृत्य किये जाते थे (1)पिण्ड पितृयज्ञ (उनके द्वारा किया गया जो श्रौताग्नियों में यज्ञ करते थे) या मासिक श्राद्ध (उनके द्वारा जो श्रौताग्नियों में यज्ञ नही करते थे) आश्वलायन[399], हिरण्यकेशिगृहसूत्र[400], आपस्तम्ब गृहसूत्र[401], विष्णुपुराण[402] आदि। (2) महापितृ यज्ञ एंव (3) अष्टकाश्राद्ध।

श्राद्ध करने का अधिकारी कौन होता है? इस प्रश्न पर भी प्राचीन लेखकों में एक मत नहीं है। कुछ धर्मशास्त्र ग्रंथों (यथा-विष्णुधर्मसूत्र) ने यह व्यवस्था दी है कि जो कोई मृतक की सम्पत्ति लेता है उसे उसके लिए श्राद्ध करना चाहिए, और कुछ ने ऐसा कहा है कि जो भी कोई श्राद्ध करने की योग्यता रखता है अथवा श्राद्ध का अधिकारी है वह मृतक की सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है। वायुपुराण[403] ने म्लेच्छों को पितरों के लिए श्राद्ध करते हुए वर्णित किया है। गोभिलस्मृति[404] ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि पुत्रहीन पत्नी को (मरने पर) पति द्वारा पिण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, पिता द्वारा पुत्र को तथा बडे भाई द्वारा छोटे भाई को पिण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। अपरार्क[405] ने षटत्रिशन्मत का एक श्लोक उदृत कर कहा है कि पिता को पुत्र एवं बडे भाई को छोटे भाई का श्राद्ध नहीं करना चाहिए, किन्तु बृहत्पराशर[406] ने कहा है कि कभी-कभी यह सामान्य नियम भी नहीं माना जाता था। बौधायन[407] एंव वृद्धशतातप[408] ने किसी को स्नेहवश किसी के लिए भी श्राद्ध करने की, विशेषता: गया में, अनुमति दी है। ऐसा कहा गया है कि केवल वही पुत्र कहलाने योग्य है, जो पिता की जीवितावस्था में उसके वचनों का पालन करता है, प्रतिवर्ष (पिता की मृत्यु के उपरान्त) पर्याप्त

भोजन (ब्राह्मणो को) देता है और जो गया मे (पूर्वजों को) पिण्ड देता है[409]। एक सामान्य नियम यह था कि उपनयन विहीन बच्चा शूद्र के समान है और वह वैदिक मत्रो का उच्चारण नहीं कर सकता (आपस्तम्ब-धर्मसूत्र[410], गौतम[411], वसिष्ठ,[412] विष्णु[413] एव मनु[414]) किन्तु इसका एक अपवाद स्वीकृत था, उपनयनविहीन पुत्र अन्त्येष्टि कर्म से संबंधित वैदिक मंत्रों का उच्चारण कर सकता है। इस संबंध में मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[415] ने भी विचार व्यक्त किये हैं; उनके अनुसार अल्पवयस्क पुत्र भी यद्यपि अभी वह उपनयनविहीन होने के कारण वेदाध्ययन रहित है, अपने पिताको जलतर्पण कर सकता है। नवश्राद्ध कर सकता है और शुन्धन्ता पितर: जैसे मत्रों का उच्चारण कर सकता है, किन्तु श्रौताग्नियो या गृहयाग्नि के अभाव में वह पार्वण जैसे श्राद्ध नहीं कर सकता।

इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में उपनयन विहीन बच्चा, जो कि अल्पवयस्क भी हो सकता था, पिता की अन्त्येष्टि में भाग ले सकता था, एव केवल इसी समय के वैदिक मंत्रों का उच्चारण कर सकता था, नवश्राद्ध तो वह कर सकता था किन्तु पार्वण श्राद्ध नही कर सकता था, इस प्रकार वह श्राद्ध में भाग ले सकता था।

श्राद्ध किस काल में की जानी चाहिए ? इस विषय पर भी प्राचीनकाल के विद्वानों से लेकर पूर्वमध्यकाल के लेखकों के मध्य मतवैभिन्य है। शतपथ ब्राह्मण एंव तैत्तिरीय आरण्यक[416] से पता चलता है कि वह आह्निक यज्ञ जिसमें पितरों को स्वधा (भोजन) एंव जल दिया जाता है, पितृयज्ञ कहलाता है, भी एक प्रकार से श्राद्ध है। मनु ने व्यवस्था दी है कि प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन भोजन या जल या दूध, मूल एंव फल के साथ श्राद्ध करना चाहिए और पितरों को संतोष देना चाहिए। गौतम[418] के अनुसार प्रारम्भिक रूप में श्राद्ध पितरों के लिए अमावस्या के दिन किया जाता था। अमावस्या दो प्रकार की होती है सिनीवाली एंव कुहू। आहितग्नि (अग्निहोत्री) सिनीवाली में श्राद्ध करते हैं, तथा इनसे भिन्न एंव शूद्र लोग कुहू अमावस्या में श्राद्ध करते हैं।

श्राद्ध तीन कोटियों में विभाजित किये गये हैं, नित्य, नैमित्तीक एंव काम्य। वह श्राद्ध नित्य कहलाता है जिसके लिए ऐसी व्यवस्था दी हुई हो कि वह किसी निश्चित अवसर पर किया जाये जैसे

आन्हिक, अमावस्या के दिन वाला या अष्टका के दिन वाला। जो ऐसे अवसर पर किया जाय जो अनिश्चित सा हो जैसे- पुत्रोंत्पित्त आदि पर, उसे नैमित्तीक कहा जाता है। जो किसी विशिष्ठ फल के लिए किया जाये उसे काम्य कहते है यथा स्वर्ग, संतति आदि की प्राप्ति के लिए कृत्तिका या रोहिणी पर किया गया श्राद्ध। पचमहायज्ञ कृत्य, जिसमें पितृयज्ञ भी सम्मिलित है, नित्य कहे जाते है, अर्थात् उन्हें बिना किसी फल की आशा से करना चाहिए, उनके न करने से पाप लगता है ऐसा नहीं है कि वे अपरिहार्य नहीं हैं और उनका सम्पादन तभी होता है जब व्यक्ति किसी विशिष्ठ फल की आशा रखता है अर्थात् इन कर्मों का सम्पादन काम्य अथवा इच्छाजनित नहीं है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[419] ने श्राद्ध के लिए निश्चित कालों की व्यवस्था दी है, जैसे इनका सम्पादन प्रत्येक मास के अंतिम पक्ष में हो जाना चाहिए, अपराह्न को श्रेष्ठता मिलनी चाहिए और पक्ष के आरम्भिक दिनों की अपेक्षा अंतिम दिनों को अधिक महत्व देना चाहिए। गौतम[420] एव वसिष्ठ[421] का कथन है कि श्राद्ध प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को छोडकर किसी भी दिन किया जा सकता है एंव गौतम ने पुनः कहा है कि यदि विशिष्ठ रूप में उचित सामग्रियां या पवित्र ब्राह्मण उपलब्ध हों या कर्ता किसी पवित्र स्थान (यथा-गया) में हो तो श्राद्ध किसी भी दिन किया जा सकता है। अग्नि पुराण [422] एंव कूर्मपुराण[423] में भी कहा गया है कि गया में किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है। मनु[424] ने व्यवस्था दी है कि मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को छोडकर दशमी से आरंभ करके किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई चन्द्रसम तिथि (दशमी एंव द्वादशी) और सम नक्षत्रों (भरणी, रोहिणी आदि) में श्राद्ध करें तो उसकी इच्छाओं की पूर्ति होती है, किन्तु जब कोई विषम तिथि (एकदशी, त्रयोदशी आदि) में पितृपूजा करता है और विषम नक्षत्रों (कृत्रिका, मृगशिरा आदि) में ऐसा करता है तो भाग्यशाली संतति प्राप्त करता है। विष्णु धर्मसूत्र[425] के मत से अमावस्या, तीन अष्टकाएं एंव तीन अन्वष्टकांए, भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की त्रियोदशी, जिस दिन चन्द्र मघा नक्षत्र में होता है, शरद् एंव बसत श्राद्ध के लिए नित्य कालों के द्योतक है और जो व्यक्ति इन दिनों श्राद्ध नहीं करता वह नरक में जाता है। विष्णु धर्मसूत्र[425] का कहना है कि जब सूर्य एक राशि से दूसरी में जाता

हैं, दोनों विषुवतीय दिन विशेषत उत्तरायण एंव दक्षिणायन के दिन, व्यतीपात कर्ता के जन्म की राशि, पुत्रोत्पत्ति आदि के उत्सवो का काल-आदि काम्य काल है और इन अवसरो पर किया श्राद्ध (पितरो को) असीम आनन्द देता है।आपस्तम्ब धर्मसूत्र[427], विष्णु धर्मसूत्र[428] कूर्म पुराण[429], ब्रह्माण्ड पुराण[430], भविष्यपुराण[431] एंव मनु[432] ने रात्रि, संध्या (गोधूलि-काल), या जब सूर्य का तुरंत उदय हुआ हो तब ऐसे कालों में श्राद्ध-सम्पादन मना किया है, किन्तु चन्द्रग्रहण के समय छूट दी है। आपस्तम्ब ने इतना जोड दिया है कि यदि श्राद्ध सम्पादन अपराह्न मे आरम्भ हुआ हो और किसी कारण से देर हो जाये तथा सूर्य डूब जाय तो कर्ता को श्राद्ध सम्पादन के शेष कृत्य दूसरे दिन करने चाहिए और उसे दर्भों पर पिण्ड रखने तक उपवास रखना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र का कथन है कि ग्रहण के समय किया गया श्राद्ध पितरों को तब तक सृष्टि करता है जब तक चन्द्र एंव तारों का अस्तित्व है और कर्ता की सभी सुविधाओं एंव सभी इच्छाओं की पूर्ति होती है। कूर्मपुराण का कथन है कि जो व्यक्ति ग्रहण के समय श्राद्ध नहीं करता वह पंक में पड़ी हुई गाय के समान डूब जाता है। याज्ञ0 पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर अपनी मिताक्षर[433] में सावधानीपूर्वक कहते हैं कि यद्यपि ग्रहणों के समय भोजन करना निषिद्ध है, तथापि यह निषिद्धता केवल भोजन करने वाले (उन ब्राह्मणों को जो ग्रहण काल में श्राद्ध भोजन करते) को प्रमाणित करती है किन्तु कर्ता को नहीं, जो उससे अच्छे फलों की प्राप्ति करता है। इस संबंध में मेधातिथि[434] ने एक स्मृतिवचन उद्वत किया है "पूर्वाहने दैविकं कार्यमपराह्नेतु पैतृकम। एकादिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम।

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल से चली आ रही श्राद्ध परम्परा ने पूर्वमध्यकाल में भी अपना स्थान बना रखा था, इस काल में भी श्राद्ध के पूर्वाह्न या अपराह्न में करने से अच्छे फलों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस काल में भी लोग श्राद्ध करके अच्छे फलों को प्राप्त करने का प्रयास करते थे।

श्राद्ध सम्पादन के लिए उपयुक्त स्थल के विषय पर भी मनु[435] ने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार कर्त्ता को प्रयास करके दक्षिण की ओर ढालू भूमि खोजनी चाहिए, जो पवित्र हो और जंहा मनुष्य अधिकतर न जाते हों: उस भूमि को गोबर से लीप देना चाहिए, क्योंकि

पितर लोग वास्तविक स्वच्छ स्थलो नदी-तटो एव उस स्थान पर किये गये श्राद्ध से प्रसन्न होते है जहाॅ लोग बहुधा कम जाते हैं। याज्ञवल्क्य[436] ने संक्षित रूप से कहा है कि श्राद्ध स्थल चतुर्दिक आवृत्त, पवित्र एव दक्षिण की ओर ढालू होना चाहिए। शंख, पराशरमाधवीय[437], श्राद्धप्रकरण[438] एव स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध[439] कथन है- बैलों, हाथियों एंव घोड़ों की पीठ पर, ऊची भूमि या दूसरे की भूमि पर श्राद्ध नही करना चाहिए। ब्रह्मपुराण[440] ने भी नदीतीरों, तालाबों, पर्वतशिखरों एंव पुष्कर जैसे पवित्र स्थलो को श्राद्ध के लिए उचित स्थल माना है। वायुपुराण[441] एवं मत्स्यपुराण[442] में भी श्राद्ध के लिए पूत स्थलों, देशों, पर्वतों की लम्बी सूचियां पायी जाती है।

श्राद्ध करते समय किस प्रकार के व्यक्ति एंव पशु को देखने से श्राद्ध फल नष्ट हो जाता है इसक विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[443] ने कहा है कि विद्वान लोगो ने कुत्तों, पतितों, कोढ़ी, खल्वाट व्यक्ति, परदादा से यौन संबध रखने वाले व्यक्ति, आयुधजीवी ब्राह्मण के पुत्र तथा शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्र द्वारा देखे गये श्राद्ध की भर्त्सना की है- यदि ये लोग श्राद्ध भोजन करते हैं तो वे उस पंक्ति मे बैठकर खाने वाले व्यक्तियों को अशुद्ध कर देते हैं। मनु[444] ने कहा है कि चाण्डाल, गांव के सुअर या मुर्गी, कुत्ता, राजस्वला एंव क्लीव स्त्री को भोजन के समय देखने की अनुमति ब्राह्मणों को नहीं मिलनी चाहिए। इन लोगों द्वारा यदि होम (अग्निहोत्र) दान (गाय एव सोने का) कृत्य देख लिया जाय, या जब ब्राह्मण भोजन कर रहे हों तब या किसी धार्मिक कृत्य (दर्श-पूर्णमास आदि) के समय या श्राद्ध के समय ऐसे लोगों की दृष्टि पड़ जाये तो सबकुछ फलहीन हो जाता है। विष्णुधर्मसूत्रों[445] में श्राद्ध के निकट आने की अनुमति न पाने वाले 30 व्यक्तियो की सूची है। कूर्मपुराण[446] का कथन है कि किसी अंगहीन, पतित, कोढी, पूयव्रण (पके हुए घाव) से ग्रस्त, नास्तिक, मुर्गा, सूअर, कुत्ता आदि को श्राद्ध से दूर रखना चाहिए; घृणास्पद रूप वाले, अपवित्र, वस्त्रहीन, पागल, जुआरी, राजस्वला, नीलरंग या पीतलोहित वस्त्र धारण करने वालों एंव नास्तिकों को श्राद्ध से दूर रखना चाहिए। मार्कण्डेय[447], वायुपुराण[448], विष्णुपुराण[449], एंव अनुशासन पर्व[450] में भी निषिद्ध व्यक्तियों की लम्बी सूची दी हुई है। सदियों बाद लगभग 7-8वीं शती के स्कन्दपुराण में भी श्राद्ध के समय निषिद्धों की सूची पर प्रकाश पड़ता है स्कन्दपुराण[451] में लिखा है कि

कुत्ते, रजस्वला, पतित एव वराह (सूअर) को श्राद्धकृत्य देखने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

इस प्रकार श्राद्ध के समय निषिद्धता की परम्परा प्राचीन काल से पूर्वमध्यकाल तक ज्यो की त्यो चली आ रही थी।

श्राद्ध भोजन के लिए आमंत्रित लोग:

श्राद्धकर्ता चाहे जो भी हो, श्राद्ध भोजन में आमंत्रण पाने के अधिकारी केवल ब्राह्मण होते थे यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गृहसूत्रों मे बहुत कम योग्यताए वर्णित हैं किन्तु स्मृतियों एंव पुराणों के काल मे निमन्त्रित होने वाले लोगों की योग्यताओ की सूची बढती ही चली गई। उदाहरणार्थ आश्वलायन गृहसूत्र[452], शांखायन गृहसूत्र[453], आपस्तम्ब गृहसूत्र[454], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[455], हिरण्यकेशी गृहसूत्र[456], बौधायन गृहसूत्र[457], गौतम[458] ने कहा है कि आमंत्रित ब्राह्मणों को वेदयज्ञ, अत्यन्त संयमी (क्रोध एंव वासनाओं से मुक्त) तथा मन एव इन्द्रियों पर संयम करने वाले एंव शुद्धाचरण वाले, पवित्र होना चाहिए और उन्हें न तो किसी अंग से हीन होना चाहिए और न अधिक अंग (यथा 6 अंगुली) वाले होना चाहिए। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र[459], बौधायनधर्मसूत्र[460], कूर्मपुराण[461] का कथन है कि श्राद्धकर्ता को ऐसे व्यक्ति आमंत्रित नहीं करना चाहिए जो विवाह से संबंधित हो (यथा–मामा) और जो सगोत्र या वेदाध्ययन से संबंधित हो (अर्थात् गुरू या शिष्य), या जो मित्र है या जिससे वह धन की सहायता पाने का इच्छुक हो। मनु[462] ने व्यवस्था दी है कि श्राद्ध भोजन में मित्र को नहीं बुलाना चाहिए, (अन्य अवसरों पर) बहुमूल्य दान देकर व्यक्ति किसी को मित्र बना सकता है। श्राद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण को आमंत्रित करना चाहिए जो न मित्र हो और न शत्रु, जो व्यक्ति केवल मित्र बनाने के लिए श्राद्ध करता है और देवार्पण करता है, वह उन श्राद्धों या अर्पवों द्वारा मृत्यु के उपरान्त कोई फल नहीं पाता। किन्तु मनु[463] एंव कूर्म पुराण[464] ने कहा है विद्वान शत्रु की अपेक्षा मित्र को आमंत्रित किया जा सकता है। मनु[465] ने कहा है कि मुख्य या अत्युत्तम नियम यह है कि श्राद्ध भोजन उनको दिया जाये जो आध्यात्मिक ज्ञान में लीन रहते हों। जिसनें सम्पूर्ण वेद का अध्ययन कर लिया हो किन्तु जिसका पिता श्रोत्रिय न रहा हो और जो स्वयं श्रोत्रिय न हो किन्तु उसका पिता श्रोत्रिय हो इन दोनों में अंतिम अपेक्षाकृत अधिक योग्य है।

मेधातिथि मनु[466] पर टीका करते हुए कहते है कि वैसा विद्वान ब्राह्मण, जिसने वेद का अध्ययन कर लिया हो, जो साधु आचरण वाला है, जो प्रसिद्ध कुल का है, जो श्रोत्रिय पिता का पुत्र है और जो कर्ता का सबंधी नहीं है, उसे अवश्य आमंत्रित करना चाहिए और शेष केवल अर्थवाद (प्रशंसा मात्र) है। मनु[467] का कथन है कि सर्वोत्तम विधि यह है कि जो ब्राह्मण सभी लक्षणों[468] को पूरा करता हो उसे ही आमत्रित करना चाहिए, किन्तु यदि किसी ऐसे ब्राह्मण को पाना असंभव हो तो अनुकल्प (उसके बदले कुछ कम लक्षण वाली विधि) का पालन करना चाहिए, अर्थात् कर्ता अपने ही नाना, मामा, बहिन के पुत्र, श्वसुर, वेदगुरू, दौहित (पुत्री के पुत्र) दामाद, किसी बन्धु (यथा मौसी के पुत्र), साले या सगोत्र या कुल पुरोहित या शिष्य को बुला सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[469] ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि दूसरे लोगो के पास आवश्यक योग्यतायें न हो तो, अपने भाई (सहोदर्य) को, जो सभी गुणों (वेदविद्या एंव अन्य सदाचार आदि) से सम्पन्न हों एंव शिष्यों को श्राद्ध भोजन देना चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र[470] ने सपिण्डों को भी खिलाने की अनुमति दी है।

अन्यत्र मनुस्मृति[471] में आया है कि उस ब्राह्मण को जो केवल गायत्री मंत्र जानता है किन्तु नियमों से युक्त जीवन बिताता है, वरीयता मिलनी चाहिए, किन्तु उसे नही जो तीन वेदों का ज्ञाता है, किन्तु नियम नियंत्रित नही है और जो चाहे (निषिद्ध या वर्जित खाद्य पदार्थ) खा लेता है तथा सभी प्रकार की वस्तुओं का विक्रेता है। कई शताब्दियों बाद स्कन्दपुराण में भी थोडे बहुत परिवर्तन से श्राद्ध में आमंत्रित करने वाले ब्राह्मणों के गुण बताये गये हैं। स्कन्द पुराण[472] मे आया है कि ब्राह्मणों के कुल उनके शील एंव अवस्था को जानना चाहिए और यह देखना चाहिए कि वे किससे विवाह करते हैं या किन्हे अपनी पुत्रियॉ देते हैं।

प्राचीनकाल में शील, विद्या एंव सदाचरण संबंधी योग्यतायें श्राद्धकर्ता को आमंत्रित होने वाले ब्राह्मणों के अतीत जीवन, गुणों एंव दोषों को जानने के लिए स्वाभाविक रूप से प्रेरित करती है। मनु आदि ने आमंत्रित होने वाले ब्राह्मणों की परीक्षा के कुछ नियम दिये हैं। मनुस्मृति[473] एंव विष्णुधर्मसूत्र[474] ने व्यवस्था दी है- देवकर्मों में (आमंत्रित करने के लिए) ब्राह्मण (के गुणों की) परीक्षा नहीं ली जानी चाहिए

किन्तु पितृ श्राद्ध मे (गुणो की) भली भाति छानबीन उचित एंव न्यायसगत घोषित है। अन्यत्र[475] आया है कि भले ही ब्राह्मण वेद का पूर्ण ज्ञाता हो, उसकी (पूर्वजवंश परम्परा) में पूर्ण छानबीन करनी चाहिए।

धीरे-धीरे यह विचार विकसित हुआ कि आमंत्रित अतिथि के गुणों की छानबीन करने को अच्छा नहीं बताया है। यहॉ तक कि पुराणो में इसकी भर्त्सना की गई है। उदाहरणार्थ स्कन्दपुराण[476], अपरार्क[477] कल्पतरू, श्राद्धपर्व[478] मे आया है- वैदिक कथन तो यह है कि (विद्या एंव शील की) छानबीन के उपरान्त ही (किसी ब्राह्मण को) श्राद्धार्पण करना चाहिए। किन्तु छानबीन की अपेक्षा सरल सीधा व्यवहार अच्छा माना जाता है। जब कोई बिना किसी छानबीन के सीधे तौर पर पितरो को श्राद्धार्पण करता है तो वे और देवगण प्रसन्न होते हैं।

कुछ दशाओं में ब्राह्मण लोग अपांक्तेय (पंक्ति में बैठने के अयोग्य या पंक्ति को अपवित्र करने वाले) कहे गये हैं, यथा-शरीरिक एंव मानसिक दोष तथा रोगव्याधि, कुछ विशिष्ट जीवन वृत्तियों (पेशों), नैतिक दोष, अपराधी होने के कारण नास्तिक अथवा पाषण्ड धर्मों का अनुयायी होना, कुछ विशिष्ट देशों का वासी होना। आमंत्रित न होने योग्य ब्राह्मणों और अपांक्तेय या पंक्तिदूषक ब्राह्मणों में अंतर दिखाया गया है। जैसे मित्र या सगोत्र ब्राह्मणों को साधारणतया नहीं बुलाना चाहे वे विद्वान ही क्यों न हों, किन्तु ये लोग अपांक्तेय नहीं है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[479] का कहना है कि धवल या रक्ततदोष-ग्रस्त, खल्वाट, परदादा से संबंध रखने वाला, आयुधजीवी पुत्र, शूद्र समब्राह्मण का पुत्र (शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र) ये पंक्तिदूषक कहलाते हैं। इन्हें श्राद्ध मे आमंत्रित नही करना चाहिए। गौतम[480], मनु[481], याज्ञवल्क्य[482], विष्णुधर्मसूत्र[483], अत्रि[484], गृहद्यम[485], बृहत्पराशर[486], वृद्ध गौतम[487], वायुपुराण[488], मत्स्यपुराण[489], कूर्मपुराण[490], स्कन्दपुराण[491], वराहपुराण[492], ब्रह्मपुराण[493], ब्रह्माण्ड पुराण[494], मार्कण्डेय पुराण[495], विष्णुपुराण[496], नारद पुराण[497], एंव सौर पुराण[498] आदि ग्रंथों में आमंत्रित न किये जाने योग्य ब्राह्मणो की लम्बी सूची दी है।

मनु[499] ने यह संकेत किया है कि किस प्रकार ऐसे अयोग्य ब्राह्मणों को खिलाने से पितरों की सतुष्टि की हानि होती है, और यह भी बताया है कि किस प्रकार ऐसे अयोग्य व्यक्तियों द्वारा खाया गया भोजन अखाद्य वस्तुओं के समान समझा जाना चाहिए।

मनु[500] एंव पद्मपुराण का यह विचार आज भी सर्वमान्य है कि पितर लोग आमंत्रित ब्राह्मणो में प्रविष्ट हो जाते हैं, अतः उन्हें पितरो के प्रतिनिधि के रूप में मानना चाहिए। गरूड पुराण[501] ने कहा है कि यमराज मृतात्माओं एव पितरो को श्राद्ध के समय यमलोक से मृत्युलोक में आने की अनुमति देते है। श्राद्ध में आमंत्रित ब्राह्मणों की संख्या के विषय मे कई मत है। वशिष्ठ[502], मनु[503], बौधायन धर्मसूत्र[504], याज्ञवल्क्य[505], मत्स्यपुराण[506] एंव विष्णुपुराण[507] ने कहा है कि देवकृत्य में दो एंव पितृकृत्य में तीन या दोनों में एक ब्राह्मण को अवश्यमेव खिलाना चाहिए, धनी व्यक्ति को भी चाहिए कि वह अधिक ब्राह्मणों को न खिलाये। इससे प्रकट होता है कि आमंत्रितों की सख्याकर्ता के साधनों पर नही निर्भर होती, प्रत्युत वह आमंत्रित करने वालों की योग्यता पर निर्भर होती है जिस से वह उचित रूप में एंव सुकरता के साथ आमंत्रित का सम्मान कर सके।

यद्यपि इन प्राचीन ग्रथों ने श्राद्ध-कर्म में अधिक व्यय नहीं करने का कहा है तथापि कुछ स्मृतियों ने अधिक परिमाण में सम्पत्ति व्यय की व्यवस्था दी है। जैसे बृहस्पति ने कहा है- उत्तराधिकारी को दाय का आधा भाग मृत के कल्याण के लिए पृथक रख देना चाहिए और उसे मासिक, छमाही एंव वार्षिक श्राद्धो में व्यय करना चाहिए। पूर्वमध्यकाल में आकर जीमूतवाहन[508] की दायभाग में इस दाय का समर्थन मिलता है इससे स्पष्ट होता है कि इस काल तक आते-आते श्राद्धों में आडम्बर, दिखावें एंव अधिक व्यय ने अपना स्थान बना लिया था। अति प्राचीनकाल से श्राद्धों में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों एंव पात्रों तथा उसमें प्रयुक्त न होने वाले पदार्थों के विषय में विस्तृत नियम चले आ रहे हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[509] में आया है-श्राद्ध के द्रव्य ये हैं, तिल, माष, चावल, यव, जल, मूल एंव फल; किन्तुं पितर लोग घृतमिश्रित भोजन से बहुत काल के लिए संतुष्ट हो जाते है; उसी प्रकार वे न्यायपूर्ण विधि से प्राप्त धन से और उसे योग्य व्यक्तियों को दिये जाने से संतुष्ट होते हैं। मनु[510] ने व्यवस्था की है कि जगल में यात्रियों द्वारा खाया जाने वाला भोजन (गाय का दूध) सोमरस, बिना मसालों से बना मास (जो खराब गंध से मुक्त हो) एंव पर्वतीय नमक स्वभावतः यज्ञिय भोजन (हविष्य) है

वायुपुराण[511] ने विभिन्न प्रकार के अन्नो, ईख, घृत एंव दूध से बनाये जाने वाले खाद्य पदार्थों का उल्लेख किया है।

मत्स्यपुराण[512] मे आया है कि दूध एंव दही तथा गाय के घृत एंव शक्कर से मिश्रित भोजन सभी पितरो को केवल एक महीने तक संतुष्टि देता है। ब्रह्मपुराण[513] में कहा गया है कि वह खाद्य पदार्थ जो मीठा एंव तैलिक हो और थोडा खट्टा या तीता हो तो उसे श्राद्ध में देना चाहिए और ऐसे खाद्य पदार्थ जो अति खट्टे या नमकीन या तीते हों त्याज्य हैं, क्योंकि वे आसुर हैं। उडद के विभिन्न व्यंजनों पर अधिक बल दिया गया है। यह परम्परा पूर्वमध्यकाल तक चलती रही। 13वीं शती के देवण्णभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका[514] ने एक स्मृतिवचन उद्दत करते हुए कहा है कि वह श्राद्ध जिसमें माष के व्यंजन नहीं दिये जाते, असम्पादित सा है।

अतिप्राचीनकाल से ही लेखकों के बीच श्राद्ध के समय मांस दिये जाने के विषय मे मतभेद रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[515] ने व्यवस्था दी है कि नैयमिक श्राद्ध (प्रतिमास सम्पादित) में मांसमिश्रित भोजन अवश्य चाहिए, सर्वोत्तम ढंग है घृत और मांस देना, इन दोनों के अभाव में तिल के तेल एंव शाकों का प्रयोग किया जा सकता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[516] यह भी कहता है कि श्राद्ध मे गोमांस खिलाने से पितर लोग एक वर्ष के लिए संतुष्ट हो जाते हैं, भैंस का मास खिलाने से पितृसंतुष्टि एक साल से अधिक की हो जाती है। विष्णुधर्मोत्तर[517] में त्रिपिव, वार्ध्रीणस के मांस खिलाये जाने का उल्लेख है। वार्ध्रीणस को लाल बकरा कहा गया है जो त्रिपिब (जिसके कान इतने लम्बे होते हैं कि जल पीते समय जल स्पर्श करते हैं) कहा गया है। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[518] भी ऐसे ही विचार व्यक्त करते हैं। (त्रिपिब पानी पीते समय मुख एंव दोनों कानों से मानो पानी पिया जाता है। इसी से बकरे का नाम त्रिपिब पडा) ।

मनुस्मृति[519], याज्ञवल्क्य[520], कूर्मपुराण[521], वायुपुराण[522], मत्स्यपुराण[523], विष्णु पुराण[524] पद्मपुराण[525], ब्रह्मण्ड पुराण[526], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[527] ने विस्तार के साथ श्राद्ध भोजन में विभिन्न प्रकार के पशुओं के मांस प्रयोग से पितरों की संतुष्टि का वर्णन किया है। पूर्वमध्यकाल के लेखकों ने भी श्राद्ध के समय मांस का भोजन देने पर बल दिया है। हेमाद्रि[528] ने कहा है कि कालविषयक बातों को यथाश्रुत

शाब्दिक रूप में नही लेना चाहिए, केवल इतना ही स्मरण रखना यथेष्ट है कि मास प्रकार के अर्पण से उसी प्रकार की अधिकतर सतुष्टि होती है। पुलस्त्य[529] ने मिताक्षरा एव अपरार्क से उद्वरण लेकर यही बताया है कि ब्राह्मण द्वारा सामान्यत: श्राद्ध मे यति भोज अर्पण करना चाहिए क्षत्रिय या वैश्य द्वारा मांस अर्पण, शूद्र द्वारा मधु का अर्पण करना चाहिए। चाहे कोई भी कर्ता हो, भोजन करने वाले ब्राह्मण ही होते हैं, इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय या वैश्य द्वारा आमंत्रित ब्राह्मण को मांस खाना पड़ता था। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मिताक्षरा एंव कल्पतरू (1100-1120ई0) ने स्पष्टत. यह नही कहा है कि कलियुग मे कम से कम ब्राह्मणों के लिए मांस प्रयोग सर्वथा वर्जित है। इससे स्पष्ट होता है कि श्राद्ध में मांस अर्पण को अब कम पसंद किया जाने लगा था, आगे चलकर यह वर्जित हो गया।

पिण्डदान किस समय करना चाहिए? इसके उत्तर में कई मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं। शाखायन गृहसूत्र[530] आश्वलायन गृहसूत्र[531], शंख[532], मनु[533], याज्ञवल्क्य[534] आदि के मत से जब श्राद्ध भोजन ब्राह्मण समाप्त कर लेते है तो कर्ता पिण्डदान करता है। यहॉ पर भी दो मत हैं: (1)ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के उपरान्त आचमन करने के पूर्व पिण्डदान होता है[535] (2) ब्राह्मणों द्वारा मुख धो लेने एंव आचमन कर लेने के उपरान्त पिण्डदान होता है। विष्णुधर्मसूत्र[536] ने व्यवस्था दी है कि पितरों को तब पिण्ड देना चाहिए, जब ब्राह्मण खा रहे हों। चौथा मत यह है कि[537] कर्ता को, जब ब्राहमण खाकर जा चुके हों और जब वह उनका अनुसरण कर प्रदक्षिणा करके लौट आया हो, तब पिण्डदान करना चााहिए। पूर्वमध्यकाल तक आते-आते मतभेदों के कारण लेखकों ने समझौतावादी दृष्टिकोण विकसित किया जो कि मध्य का मार्ग प्रस्तुत करता है। हेमाद्रि एंव मदन-पारिजात का कहना है कि लोगों को अपनी शाखा की विधि का पालन करना चाहिए। हेमाद्रि[538] ने आगे जोडा है कि कि यदि किसी के गृहसूत्र में पिण्डदान के काल का उल्लेख न हो तो उसे उस मत के अनुसार चलना चाहिए जो यह व्यवस्थित करता है कि ब्रह्मभोज एंव आचमन के उपरान्त पिण्डदान करना चाहिए। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए अपरार्क[539] का कथन है कि सभी दशाओं में (बिना किसी

अपवाद के) पिण्डों का दान उन पात्रो के पास होना चाहिए, जिनसे ब्राह्मणों को खिलाया जाता है।

अमावास्या को किये जाने वाले श्राद्ध मे किन किन पूर्व पुरूषों को पिण्ड देना चाहिए? इस विषय में भी मतैव्य नहीं है। क्या पिता के साथ माता के पितर भी अपनी पत्नियो के साथ बुलाये जाते थे? वेदो एंव ब्राह्मणों में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। तैत्रिरीय संहिता[540], तैत्रिरीय ब्राह्मण[541], वाजसनेयी संहिता[542], शतपथ ब्राह्मण[543] में केवल पितरों एंव तीन पैतृक पूर्व पुरूषों के नाम ही आये हैं। आगे चलकर लगभग पूर्वमध्यकाल में विचार में परिवर्तन दिखाई पडता है। कात्यायन[544] ने पैतृक पितरो के लिए तीन पिण्डो एंव मातृक पितरों के लिए भी तीन पिण्डों के निर्माण का बात कही है। गोभिलस्मृति[545] ने व्यवस्था दी है कि अन्वष्टका श्राद्ध प्रथम श्राद्ध (11वें दिन), 16 श्राद्धों एंव वार्षिक श्राद्ध को छोड़कर अन्य श्राद्धो में छः पिण्डों का दान होना चाहिए। धौम्य, श्राद्ध प्रकाश[546] एंव स्मृतिचन्द्रिका[547] में आया है कि जहा पैत्रक पूर्वजों को पूजा जा रहा हो, मातामहों (मातृक पूर्व पुरूषों) को भी सम्मानित करना चाहिए, किसी प्रकार का अन्तर प्रदर्शित नहीं करना चाहिए, यदि कर्त्ताविभेदकरता है तो वह नरक में जाता है। विष्णु पुराण[548], ब्रह्माण्ड पुराण[549] एंव वराहपुराण[550] कहते हैं कि कुछ लोगों के मत से मातृक पुरूषों का श्राद्ध पृथक रूप से करना चाहिए, और कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि पैतृक एंव मातृक पूर्वपुरूषों के लिए एक ही समय एंव एक ही श्राद्ध करना चाहिए। बृहस्पति[551] का कथन है कि श्राद्ध के लिए बने भोजन पदार्थों से एंव तिल और मधु से अपनी गृहयसूत्र विधि के नियमों के अनुसार पिण्डों का निर्माण मातृ-पितृ पक्षों के पूर्व-पुरूषों के लिए होना चाहिए। बृहत्पराशर[552] ने इस विषय में कई मत दिये है यह संभव हैं कि जब पुत्रों को गोद लेने की प्रथा कम प्रचलित हुई या सदा के लिए विलीन हो गई तो पार्वणश्राद्ध में मातृ पितर पित्रय पितरों के साथ ही संयुक्त हो गये। वैदिक साहित्य में पितरों की पत्नियों पूर्व पुरूषों के साथ संयुक्त नहीं थी, सूत्रकाल में पत्नियां के सम्मिलित होने के संकेत मिलते हैं। जैसे-हिरण्यकेशि ग्रह्यसूत्र[553] ने कृष्ण पक्ष के मासिक श्राद्ध में माता, मातामही एंव प्रमातामही को उनके पतियों के साथ संबंधित रखा है। इसी प्रकार बौधायन गृहसूत्र[554] ने अष्टका श्राद्ध में न

केवल मातृपक्ष के पितरों को पितृपक्ष के पितरों के साथ रखा है, बल्कि उनकी पत्नियों को भी साथ रखा है। शातातप मे आया है- सपिण्डीकरण के उपरान्त पितरो को जो दिया जाता है उसमें सभी स्थानों पर माता आती है अन्वष्टका कृत्यो, वृद्धि श्राद्ध गया में एंव उसकी वार्षिक श्राद्ध क्रियाओं में माता का अलग से श्राद्ध किया जा सकता है। किन्तु अन्य विषयो में उसके पति के साथ ही उसका श्राद्ध होता है। (श्राद्ध प्रकाश[555], स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध वृहस्पति[556] मे ऐसा आया है कि माता अपने पति (कर्ता के पिता)के साथ श्राद्ध ग्रहण करती है और यही नियम पितामही एंव प्रपितामही के लिए भी लागू है। स्मृतिचन्द्रिका[557], हेमाद्रि[558], श्राद्धप्रकाश[559]) इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भी सूत्रकाल के समान श्राद्ध में माता का पिता के समान स्थान था।

पिण्डदान के संबंधी मंत्रीपाठ के विषय मे भी अति प्राचीन काल से कुछ मतमतान्तर है। कुछ लेखकों के मत से पिण्डदान का रूप यह है-हे पिता, यह तुम्हारे लिए है, नाम---गोत्र---वाले। तैत्रिरीय संहिता[560] एंव आपस्तम्ब[561] मंत्रपाठ आदि ने यह और जोड दिया है और उनके लिए भी जो तुम्हारे पश्चात आते हैं। अपरार्क[562], हेमाद्रि[563], श्राद्धप्रकाश[564] में आया है कि पूर्व पुरूष को पिण्ड नाम, गोत्र एंव कर्ता संबंध कहकर दिया जाता हैं। गोभिलगृहसूत्र[565] हेमाद्रि[566] एंव श्राद्ध प्रकाश[567] ने व्यवस्था दी है कि जब कर्ता अपने पितरों के नाम नहीं जानता तो उसे प्रथम पिण्ड 'पृथ्वी पर रहने वालों पितरों' को स्वधा यह कहकर रखना चाहिए, दूसरा पिण्ड उनको जो वायु में निवास करते है स्वधा कहकर और तीसरा पिण्ड 'स्वर्ग में रहने वाले पितरों की स्वधा' कहकर रखना चाहिए और मद स्वर में उसे यह कहना चाहिए-हे पिता, यंहा आनन्द मनाओ और अपने-अपने भाग्य पर जुट जाओ। मेधातिथि[568] ने आश्वलायन श्रौतसूत्र आदि का अनुसरण करते हुए कहा है कि यदि पितरों के नाम न ज्ञात हों तो केवल ऐसा कहना चाहिए- हे पिता पितामह आदि। यदि गोत्र न ज्ञात हो तो कश्यप का प्रयोग करना चाहिए। यही बात स्मृतिचन्द्रिका[569] में भी कही गई है।

इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे भी प्राचीनकाल के समान ही कर्मकाण्डों सहित श्राद्ध किया जाता था। जिसमें पितृक एंव मातृक दोनों के पितर समान रूप से श्राद्ध पाने के अधिकारी होते थे। प्राचीनकाल से पूर्वमध्य काल के श्राद्ध में एक महत्वपूर्ण अन्तर श्राद्ध में मांस परोसने के

मतों को लेकर है जहॉ प्राचीनकाल के लेखको का मत था कि मांस अर्पण करने से पितर सतुष्ट होते है। वहीं पूर्वमध्यकाल मे श्राद्ध मे केवल क्षत्रिय ही मास अर्पण करते थे, किन्तु ब्राह्मण को खाने की मनाही नहीं थी अर्थात् उसे वर्जित पदार्थ की श्रेणी में रखा जा चुका था, आज भी केवल बंगाल इत्यादि प्रांतों को छोडकर पूरे उत्तर भारत में कहीं भी पितरों को श्राद्ध में मांस नहीं अर्पित किया जाता है।

4- तीर्थस्थल:

पूर्वमध्यकाल के सामाजिक एंव आर्थिक जीवन मे तीर्थ एक महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। ज्यादातर तीर्थस्थल प्राकृतिक सुन्दरता वाले स्थान जैसे पर्वत की चोटियों, पहाडियों, जंगलों, नदियों के उद्गम, समुद्र के मध्य, झरनों, एवं गर्म पानी के स्त्रोतों के पास स्थित है, जोकि सामान्य जनता से लेकर उच्चवर्ग तक के आकर्षण के केन्द्र हैं। सन्यासियों एंव ऋषियों के लिए यह धार्मिक कार्यस्थल एंव ध्यान लगाने की दृष्टि से उपयुक्त थे जबकि सामान्य जनता जीवन मे एकबार इन्हें देखने की इच्छा रखती है। भारतीय हिन्दूओं की जीवन व्यवस्था में तीर्थयात्रा एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है[570], इस परम्परा की प्राचीनता सूत्रकाल तक देखी जा सकती है[571]। पुराणों एंव उपपुराणों के साथ ही इनकी प्रसिद्धि और महत्ता में वृद्धि हुई है[572] जोकि 11वीं शती में अलबरूनी द्वारा ध्यान दी गई थी[573]। वृहस्पत्य अर्थशास्त्र[574] में भारत की लम्बाई एंव चौडाई बताने के लिए तीर्थों का प्रयोग किया गया है कि बंद्रिका से रामेश्वर 1000 योजन एंव द्वारिका से पुरूषोत्तम एंव सालग्राम 700 योजन तक है। तीर्थ स्थलो का प्राचीनतम उल्लेख महाभारत के वनपर्व में मिलता है। पुराणो में भी तीर्थ स्थलों का उल्लेख मिलता है। तीर्थों के संबंध में न केवल अभिलेखीय साक्ष्य, बल्कि 11-12वीं शती में लिखित साहित्य से भी प्रमाण मिलते हैं।

देववमदिव के चरखारी अभिलेख (1108-1051 ई0) से पता चलता है कि चंदेल राजा विद्याधर देव के पौत्र देववर्मा देव ने पूर्णिमा के दिन कोटितीर्थ में स्नान किया था, शिव की पूजा अर्चना की एंव यमुना के किनारे एक गांव एक ब्राह्मण को दान में दिया।[575] काणे[576] बताते हैं कि यहाँ दस से ज्यादा कोटितीर्थ हैं, किन्तु यमुना के किनारे केवल मथुरा ही है। वराहपुराण[577] में भी ऐसा दिया हुआ है। धारा के जयसिंह ने 1055 ई0 में पवित्र अमरेश्वर की देखभाल के लिए एक ब्राह्मण को एक ग्राम

दान मे दिया था। 12वी शती मे लक्ष्मीधर[578] ने कृत्यकल्पतरू नाम की पुस्तक आठ खण्डों मे रचित की, जिसमे तीर्थों का उल्लेख होने के कारण इसका नाम तीर्थ विवेचन खण्ड मिलता है। यह अपनी तरह का प्रथम प्रयास था जिसमे तीर्थस्थल जैसी सस्था का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया गया था। ऐसा विवरण पुराणों, उपनिषदों यहाँ तक कि धर्मशास्त्रो में भी प्राप्त होता है। ऐसा विश्वास था कि तीर्थयात्रा करने से पाप नष्ट होता है, नैतिकता में वृद्धि एंव मानसिक सयम, प्रसन्नता एंव चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त होता है। अलबरूनी[579] के अनुसार सामान्य जनता केवल तीर्थ पर उनके महत्व के बारे में बिना पूछ ताछ किये विश्वास करती थी।

उद्योतकेसरी के राज्यकाल के 18वे वर्ष के ब्रह्मेश्वर मंदिर अभिलेख[580] (1055-1080 ई0) से पता चलता है कि इकाम्रा के सिद्धतीर्थ में एक चार स्तम्भों पर स्थित बादलों को छूता हुआ एक मंदिर बनवाया गया। इससे संभवत: भुवनेश्वर का 11वी शती के मध्य में तीर्थस्थल के रूप में परिचय प्राप्त होता है। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य VI 1082 ई0 के एक अभिलेख में वाराणसी, कुरूक्षेत्र, अर्घतीर्थ, प्रयाग एंव गया जैसे पवित्र स्थानों के विशेष संदर्भ दिये हुए हैं। इन तीर्थ स्थानों में अर्घतीर्थ का लेख कलचुरि नरेश कर्ण (1047) के गोहर्वा उल्लेख से प्राप्त होता है, किन्तु अभी तक इसकी पहचान नहीं हो पायी है, बाकि के चार तीर्थ अपने धार्मिक महत्व के कारण आज भी प्रचलित हैं। अयोध्या की तीर्थ के रूप मे महत्ता चन्द्रवती लेख 1093 से पता चलती है। इस लेख में गहड़वाल नरेश चन्द्रदेव कहते हैं कि उन्होने 23 अक्टूबर 1093 ई0, अश्विन माह में सूर्यग्रहण के दिन सरयू एंव घाघरा नदियों के मध्य स्थित स्वर्ग द्वारतीर्थ में स्थान किया, जिससे कि सभी पाप नष्ट हो जाते हैं यही स्थल अयोध्या एंव उत्तरकोसल कहलाता है[581]। मदनपाल एक अभिलेख 1107 ई0[582] एंव जयचन्द्र अपने बेनारस ताम्र अनुदान पत्र 1175 ई[583]: में दावा करता है कि चन्द्रदेव ने काशी, कुशिका, उत्तरकोशल एंव इन्द्रस्थान को बचाया। तीर्थस्थलों का संरक्षण इस काल में एक बहुत बडा कार्य था क्योंकि जहाँ एक तरफ तुर्कों के आक्रमण का भय था वहीं दूसरी तरफ लुटेरे तीर्थों के समृद्ध होने के कारण इन्हें लूटने के लिए तैयार बैठे रहते थे। पृथ्वीराज विजय[584] से भी ज्ञात होता है कि चाहमानों ने पुष्कर तीर्थ को मंतगों एंव मलेच्छों से बचाया। चहमानों का उत्कर्ष ही पुष्कर तीर्थ

के संरक्षण के लिए हुआ था। सोमेश्वर अपनी कीर्तिकौमुदी[585] में वस्तुपाल के तीर्थस्थल का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यहाँ शांतिप्रिय यात्रियों से अधिक लुटेरो का दल आता है। एक अन्य अभिलेख शक-सवत 1059/1137-38 का मे पुरूषोत्तम नाम के एक अन्य महत्वपूर्ण तीर्थ का उल्लेख है। बिहार के कवि गंगाधर गया जिले के उपजिले नवादा के गोविन्दपुर से यात्रा करते हुए कहता है कि उसके पिता मनोरथ ने पुरी की यात्रा की थी।[586] यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इससे पहले पुरी का तीर्थ के रूप मे उल्लेख कही नही मिल रहा था। महाभारत, बल्लालसेन के धगसागर एव लक्ष्मीधर के तीर्थ विवेचन खण्ड मे इसका उल्लेख नही मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि पुरी प्राचीनकाल से तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध नहीं था। लगभग 12वी शती से इसने महत्व प्राप्त करना शुरू किया जीमूतवाहन के कलाविवेक से भी पुरी तीर्थ के रूप में स्थान प्राप्त करता है। जहाँ पर कहा गया है कि पुरूषोत्तम ज्येष्ठ के माह के पूर्णिमा के दिन विशेष रूप से प्रशंसा प्राप्त करता था।[587]

जबलपुर प्रस्तर अभिलेख 1174 ई0 से पता चलता है कि विमलाशिव, जो कि एक शैव शिक्षक था एंव कलचुरियों के दरबार में रहता था, ने प्रभास, गोकर्ण, गया एंव अन्य तीर्थों में घूम-घूम कर धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये थे।[588] सारंगदेव के राज्य से प्राप्त चिन्त्रा प्रशास्ति 1287 ई0 में शैव सन्यासियों के तीर्थस्थलों का उल्लेख प्राप्त होता है। त्रिपुरान्तक ने केदार में शिव की अराधना की थी, गंगा एंव यमुना के संगम प्रयाग में की एंव श्रीपर्वत पर जाकर भगवान मल्लीनाथ के दर्शन किये, रेवा एंव गोदावरी के जल में स्नान किया, त्रयंबक की यात्रा की एंव रामेश्वरम पहुंचे पुन: प्रभास के दर्शन किये एंव देवपत्तन के रास्ते लौट आये।[589]

इस काल के साहित्यिक साक्ष्यों से भी तीर्थस्थलों के बारे में उल्लेख मिलता है। अलबरूनी ने इस काल के तीर्थस्थलों में मुल्तान[590] थानेश्वर, कश्मीर में स्थित शारदा मंदिर[591], बनारस[592], पुष्कर, मथुरा[593] एंव कश्मीर[594]। सोमदेव की कथासरित्सागर में, जोकि 11वीं शती की पुस्तक है, बद्री[595], विंध्याचल की पहाडियों[596] में दुर्गा मंदिर, पुष्कर[597], प्रयाग[598], बनारस[599] एंव चित्रकूट[600] प्रमुख तीर्थ गिनाये गये है।

लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरू का नाम ही तीर्थ विवेचन खण्ड है, इसमें तीर्थों का विशद विवरण प्राप्त होता है। लक्ष्मीधर[601] ने प्रयाग, गया, मथुरा, कुरूक्षेत्र, पुष्कर, श्रीकर, उज्जैन, हरिद्वार, सालग्राम, स्तुतस्वामिन, द्वारका, केदार, कोकामुख, पृथूदक, मंदरा, लोहरगला, नैमिषा का उल्लेख किया है, किन्तु इनके ग्रंथ में कई प्रमुख तीर्थों का विवरण नहीं मिलता है जैसे- पुरूषोत्तम, भुवनेश्वर, कोणार्क, कांची, चिदाम्बरम, श्रीरंगम, रामेश्वर, कन्याकुमारी एव जालंधर।

जीमूतवाहन के कलाविवेक[602] में भी तीर्थों के विषय में महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। इस ग्रथ में किस तीर्थ में किस माह में जाना चाहिए इसका भी उल्लेख मिलता है। 1169 मे वल्लालसेन[603] द्वारा लिखित दानसागर में भी तीर्थों की सूची का उल्लेख मिलता है। इसमे पवित्र नदियों का भी उल्लेख मिलता है जैसे- जहान्वी, यमुना, नर्मदा, ताप्ती, गोमती या गोदावरी, सरस्वती, बनजारा, भीमरथी या भीमा, कृष्णा, वृहन्नदी (महानदी), मालप्रभा। अन्य तीर्थों में पुष्कर, शुक्लतीर्थ, जोकि भडौच के उत्तरपूर्वी भाग में स्थित है, प्रभास, केदार, प्रयाग एंव वाराणसी प्रमुख हैं[604]। जैन लेखक हेमचन्द्र की द्वयाश्रयकाव्य[605], ब्रह्स्पत्य अर्थशास्त्र में भी तीर्थों की सूची मिलती है।

तीर्थ यात्रा का समाजिक महत्व:

सभवत तीर्थ यात्रा न केवल द्विजों बल्कि शूद्रों एंव चण्डालों के लिए भी संभव थी, क्योंकि किसी भी साक्ष्य से ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है कि तीर्थस्थलों पर शूद्रों या अन्य अस्पृश्यों को जाने की मनाही थी। लक्ष्मीधर[606] मत्स्यपुराण का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि चारों जातियों के लोगों को तीर्थस्थलों पर जाने की अनुमति थी, यहॉ तक कि चण्डालों को भी काशी जैसे तीर्थ पर जाने के योग्य समझा जाता था, ऐसा विश्वास किया जाता था कि यहॉ आने से उनके सभी पाप नष्ट हो जायेगे। ऐसी सामान्य धारणा थीं[607] कि अस्पृश्यता के नियम तीर्थों पर लागू नहीं होते थे, साथ ही तीर्थों तक पहुँचने के मार्ग की यात्रा में भी भेदभाव नहीं होता था। यह स्वाभाविक ही था कि तीर्थयात्राओं से थोड़ी ही देर के लिए सही स्तर का भेदभाव, जातियों का विभेदीकरण एंव सामाजिक वैभिन्न समाप्त हो जाता था। इसके साथही धार्मिक तीर्थस्थलों पर विभिन्न धर्मों

एव क्षेत्रो के लोगों का परस्पर सम्मिलन होता है जिससे के विभिन्न क्षेत्रो मे परस्पर सास्कृतिक सम्पर्क होता था और एव समाज मे धार्मिक एंव नैतिक स्तर उच्च बना रहने मे सहायता मिलती थी।

तीर्थ विभाग

तीर्थों के विभाजन की प्राचीन धारणा[609] ब्रह्मपुराण में दी हुई है, इसी धारणा को लक्ष्मीधर ने भी प्रतिपादित किया है, जो कि आज भी समाज में उसी रूप में प्रचलित है। तीर्थों के चार विभाजन किये गये है- दैव, असुर, आर्ष एव मानुष। दैव तीर्थ वे है जो ब्रह्मा, विष्णु एंव शिव के लिए बनाये गये है। काशी, पुष्कर एव प्रभास, तीन तीर्थ ऐसे थे जो इन तीनों ईश्वरों के लिए प्रमुख थे एंव सबसे पवित्र माने जाते थे। पवित्र नदियॉ जैसे गंगा, यमुना एंव सरस्वती भी दैव तीर्थ मानी जाती है। प्राकृतिक झील इत्यादि को दैवाटक (ईश्वर द्वारा खोदे हुए) कहा जाता है। गया को असुर माना गया है। आर्ष तीर्थ उन्हें कहा जाता है जोकि अपना उद्गम एंव पवित्रता किसी ऋषि से सबंधित रखते हैं। मानुष या मनुष्य तीर्थ सूर्य एंव चन्द्रवंशीय राजाओं के राजवश को कहते हैं[610] लक्ष्मीधर के ग्रथ[611] में मुख्य तीर्थ इस प्रकार दिये गये हैं- कुब्जार्मका (हरिद्वार), कुरूक्षेत्र, केदार, द्वारका, नर्मदा, प्रयाग, बद्रीकाश्रम, मथुरा, वाराणसी[612] सुक्रातीर्थ(आधुनिक गंगा पर स्थित सोरन) एंव पुष्करक्षेत्र।

बौद्धों[613] के अपने तीर्थों के केन्द्र थे, जोकि बुद्ध के जीवन, संघ की कार्यविधियों एंव बुद्ध के अवशेषों से संबंधित थे। जैनों[614] में भी तीर्थ पंथ पनपने लगा था जो महत्वपूर्ण जैन तीर्थ तीर्थकरों के जीवन एंव प्रसिद्ध जैन मंदिरों के स्थलों से संबंधित है। हिन्दूओं में भी तीर्थयात्राओं ने महत्ता प्राप्त कर ली थी। शाक्तधर्म का बढ़ता प्रचलन एंव शक्तिपीठों[615] की स्थापना से पूर्वमध्यकाल में तीर्थ स्थलों की संख्या में वृद्धि हो रही थी।

हिन्दूओं द्वारा तीर्थस्थलों पर किये जाने वाले कृत्य

तीर्थस्थलों पर किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों में व्रत, मुण्डन, पितृपूजा एंव दान प्रमुख है।[616] 12वीं शती में लक्ष्मीधर[617] ने तीर्थों के धार्मिक- कृत्यों को कुछ सरल बना दिया, जैसे व्रत को वैकल्पिक कर मुण्डन को समाप्त कर, पितृ पूजा को केवल धनी लोगों

का कर्मकाण्ड बताकर, एव तीर्थ यात्रा के मार्गों के लिए साधनों का प्रयोग, वैकल्पिक तीर्थों की अनुमति देकर, एव यहॉ एक तीर्थ पर एक दिन में जितना श्राद्ध हो सकते है उतने श्राद्ध करने की अनुमति देकर। उन्होने धार्मिक कृत्यों से ज्यादा महत्व भक्ति एंव मन की शुद्धता को दिया है। आगे चलकर 17वीं शती में वीरमित्रोदय[618] के लेखक जैसे विद्वानों ने कर्मकाण्ड की सरलता को बनाये रखा एंव तीर्थयात्रा में अस्पृश्यों की मनाही को अस्वीकार कर दिया।

किन्तु व्रत एंव मुण्डन की परम्परा चलती रही जैसा कि अलबरूनी[619] ने संकेत किया है कि पूर्वमध्यकाल में ये धार्मिक कृत्य काफी प्रचलित थे। अलबरूनी बताता है कि एक तीर्थस्थान तीर्थ प्रतीक के रूप में जोकि तीर्थ स्थल की तरह के बने होते हैं, पूजे जाते हैं। यहॉ पर अनेक प्रार्थनायें इत्यादि मत्रों का पाठ होता है, व्रत उपवास, ब्राह्मणों, पुजारियों को दान दिये जाते थे और सिर एंव दाढ़ी का मुण्डन करवाये जाते थे।

तीर्थों पर जाकर दान करने की परम्परा न केवल सामान्य जन में प्रचलित थी बल्कि राजा भी इस धार्मिक कृत्य में सम्मिलित होते थे। 7वीं शती में हर्ष का प्रयाग जाकर सब कुछ दान कर देने का उदाहरण इसका प्रमाण है। पूर्वमध्यकाल के कई भूमि अनुदान पत्रों से पता चलता है कि राजा एंव सामंत तीर्थों पर जाकर ब्राह्मण एंव पुजारियों को दान देते थे।

सभी तीर्थों में 'गया' एक ऐसा तीर्थ था जोकि विशेष रूप से श्राद्ध के कारण जाना जाता है[620]। लक्ष्मीधर[621] इसके लिए पौराणिक आधार प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन महाराजा विशाल ने जब गया में श्राद्ध किया, तब उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ, तब से ही गया में श्राद्ध करने का प्रचलन चल पडा। जिस तरह से नैषधचरित में चार्वाक ने गया में श्राद्ध करने की परम्परा की निंदा की है इससे भी यही सिद्व होता है कि 12वीं शती में भी यह परम्परा काफी प्रचलित थी।

आत्महत्या:

गंगा एंव यमुना नदियों के संगम जैसे पवित्र स्थल पर आत्मदाह करने की प्रथा काफी प्राचीनकाल से चली आती प्रतीत होती

है[622]। ह्वेनसांग[623] बताता है कि आम लोगो मे ऐसा विश्वास था कि जो व्यक्ति वटवृक्ष से नदी मे कूद जाता था एव उसी में डूबकर प्राण दे देता था उसके लिए स्वर्ग का सीधा मार्ग खुल जाता था। प्रयाग मे राजकीय आत्महत्या के अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त होते हैं जैसे चंदेल वशीय धग[624] (1000 ई0) चेदिवशीय गांगेयदेव[625] (1042 ई0) चालुक्य वंशी सोमेश्वर[626] (1068 ई0)।

लक्ष्मीधर के ग्रंथ तीर्थ-विवेचनखण्ड के एक अध्याय महापथयात्रा[627] में लेखक ने हिन्दू एंव शाक्त पुराण (जैसे देविपुराण) का उद्वरण देते हुए कहा है कि इस अध्याय मे धार्मिक आत्महत्या के विभिन्न मार्ग बताये गये है, कि एक विशाल अग्निकुण्ड का निर्माण करे, भैरव की प्रतिभा का पूजन कर एव स्वयं को अग्नि की बलि चढाकर भेंट करें।[628] पुराणों मे काशी मे किये जाने वाली आत्महत्या का उल्लेख लक्ष्मीधर करते हैं।[629] अलबरूनी[630] भी वाराणसी को ऐसा स्थान मानते है जहाँ महापुरूष आकर रहते थे एंव जीवन का अंत कर लेते थें। इसके अनुसार इस शहर के अन्दर प्रवेश करने मात्र से सब पाप धुल जाते थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल के समाज में तीर्थो ने एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया था, इसकाल की यह प्रमुख विशेषता थी कि न केवल तीर्थों को, बल्कि तीर्थ के प्रतीकों की भी उपासना की जाती थी जोकि इस से पहले के समाज में कभी भी संभव नहीं था। तीर्थभ्रमण एंव तीर्थ तक पहुँचने के मार्ग अस्पृश्यता का नियम लागू न होना एक बहुत ही विशेष तथ्य है, क्योंकि इसकाल में भी अस्पृश्यता का नियम काफी कठोरता से समाज में लागू होता था। इससे शूद्रों एंव अन्य निम्न जातियों को भी अपने अराध्य की उपासना का स्वतन्त्र अवसर मिलता था, तथा उच्च एंव निम्न तबके के मध्य भेद कम होता था।

मनुस्मृति के टीकाकार पूर्वमध्यकालीन तीर्थों के विषय में मौन हैं, किन्तु इस काल के अन्य साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यों से इस काल के तीर्थों की महत्ता का पता चलता है।

(1) ऋग्वेद 1 22.18, 5.26 6, 7 43 24, 9 64 1

(2) अर्थववेद 9 9 17

(3) ऐतरेय ब्राह्मण 7 17

(4) छान्दोग्य उपनिषद 2 23

(5) तैत्रिरीय उपनिषद 1 11

(6) मनुस्मृति 1 2

(7) मनुस्मृति 2 6

(8) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 1

(9) तन्त्रवार्तिक पृष्ठ 237

(10) मेधातिथि . मनु पर 2..25

(11) गोविन्दराज मनु पर 2 25

(12) गौतमधर्मसूत्र 1 1 2

(13) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.1 2

(14) वशिष्ठधर्मसूत्र 1 4.6

(15) मनुस्मृति 2 6

(16) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 7

(17) मेधातिथि मनु पर 2.6

(18) ऋग्वेद 8.7 10

(19) ऋग्वेद 1.154 1

(20) शतपथ ब्राह्मण 2 8.1.1

(21) तत्रैव 7.5.1.5, जैमिनी ब्राह्मण 3 272

(22) तैत्तिरीय संहिता 7 1.5.1, शतपथ ब्राह्मण 14 1.2 11

(23) रामायण बालकाण्ड 15 15.16

(24) महाभारत शांतिपर्व 43.5

(25) अष्टाध्यायी 4.3.93

(26) लिस्ट आफ ब्रह्मी इन्स्क्रिपशन्स सं0 669

(27) तत्रैव सं0 1112

(28) अष्टाध्यायी 4.1 81

(29) मत्स्यपुराण 132 4

(30) वायुपुराण 23 95

(31) ब्राह्मण पुराण 4 10 34

(32) ऋग्वेद 10 82.56

(33) शतपथ ब्राह्मण 13 3 4 11

(34) ऋग्वेद पुरूषसूक्त

(35) ऋग्वेद 1 154.2

(36) सायण का भाष्य ऋग्वेद पर 1 54 2

(37) ऐतरेय ब्राह्मण 1.1

(38) महाभारत: शांतिपर्व 43 18

(39) विष्णु पुराण 1.2 7-12

(40) ऋग्वेद 1.114 10

(41) तत्रैव 1 114 1

(42) तत्रैव 1 114.9

(43) तैत्तिरीय संहिता 4 5.1 1 वाजनेयी संहिता 16 1

(44) वाजसनेयी संहिता 16 1

(45) अर्थववेद 11.27

(46) शतपथ ब्राह्मण 9 1.1.6

(47) अर्थववेद 6 93.2; 11 2 1,4

(48) आश्वलायन गृहसूत्र 4.9

(49) महाभारत, वनपर्व 38.40

(50) महाभारत, शांतिपर्व 349 64

(51) वायु पुराण अध्याय 33

(52) लिंग पुराण अध्याय 24

(53) इपि० इ० 19, पृ० 8

(54) बाण, कादम्बरी

(55) वाटर्स 2 पृ० 257-62

(56) इपि० इ02 पृ० 123

(57) वायु पुराण, अध्याय 33, लिग पुराण अध्याय 24

(58) वायुपुराण अध्याय 11-45

(59) ऋग्वेद 1 896

(60) अर्थववेद 11 5 24-26

(61) गोपथ ब्राह्मण 2 8

(62) श्रीमद् भागवत 5 28

(63) उत्तराध्ययन 13 6 17,14,13,13.26, जैनसूत्र 2 301-4

(64) सिनएण्ड दि न्यू साइकॉलोजी पृ0 19 बारबोअर

(65) विष्णुधर्म सूत्र 33/3-5

(66) विष्णुधर्मसूत्र 34/1

(67) वृद्ध हारीत 9/215-216

(68) वृद्ध हारीत 9/216-218

(69) वसिष्ठ 1/9-20

(70) मनुस्मृति 11/55 एंव 180

(71) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/227-261

(72) विष्णु 35/1-5

(73) वृद्ध हरित 9/174

(74) मनुस्मृति 11/56

(75) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/288

(76) अग्नि पुराण 173/1

(77) मिताक्षरा, याज्ञ 3/227-243

(78) प्रायश्चित विवेक, पृ0 47

(79) सामविधानब्राह्मण 1/7/5

(80) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/24/6-9

(81) वसिष्ठ 20/34

(82) मनुस्मृति 9/87

(83) याज्ञवल्क्य 3/251

(84) विश्वरूप, याज्ञ0 3/264

(85) मिताक्षरा, याज्ञ 2/21

(86) ऋग्वेद 7/86/6

(87) मनुस्मृति 11/54

(88) याज्ञवल्क्य 3/227

(89) मनुस्मृति 11/93

(90) विष्णु 22/83-84

(91) मिताक्षरा 3/253

(92) मनुस्मृति 11/93

(93) वसिष्ठ 21/11

(94) याज्ञवल्क्य 3/256

(95) मिताक्षरा 3/256

(96) आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/10/28/1

(97) कात्यायन पृ0 810

(98) मनुस्मृति 11/54

(99) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/227

(100) मनुस्मृति 11/99

(101) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/257

(102) वसिष्ठ 20/41

(103) च्यवन (प्रायश्चितविवेक) पृ0 117

(104) संवर्त पृ0 112

(105) विश्वामित्र प्रायश्चित विवेक पृ0 108

(106) विश्वरूप याज्ञवल्क्य 3/252

(107) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 3/257

(108) मदनपारिजात पृ0 827-28

(109) प्रायश्चित प्रकरण पृ0 72

(110) प्रायश्चित विवेक पृ0 111

(111) मनुस्मृति 59/154

(112) याज्ञवल्क्य 3/227

(113) वसिष्ठ 20/13

(114) मनुस्मृति 2/141

(115) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/34 शख 3/2

(116) संवर्त 160

(117) पराशर 10/13, पितृ दाशन समारूह्य

(118) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/259

(119) मदनपारिजात पृ0 835

(120) प्रायश्चितमयूख पृ0 73

(121) याज्ञवल्क्य 3/233

(122) गौतम 21/3

(123) वसिष्ठ 1/21-22

(124) मनुस्मृति 11/180 शांतिपर्व 165/37

(125) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/261

(126) विष्णु पुराण 35/3

(127) अग्पिुराण 170/1-2

(128) स्मृत्यर्थसार पृ0 112

(129) मिताक्षरा, याज्ञ0 3/261

(130) वसिष्ठ 1/23

(131) गौतम 21/11

(132) पराशर माधवीय भाग 2 पृ0 90

(133) निर्णयसिन्धु 3 पृ0 368

(134) मनुस्मृति 11/59-66

(135) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/234-242

(136) वृद्ध हारीत 9/208-210

(137) विष्णुधर्मसूत्र 37

(138) अग्निपुराण 168-29-37

(139) मिताक्षरा, याज्ञ0 3/242

(140) गौतम 21/1

(141) मनुस्मृति 11/67- अग्नि पुराण 168/37-38

(142) विष्णु पुराण 38/1-6

(143) मनुस्मृति 11/68- अग्निपुराण 168/38-39

(144) मनुस्मृति 11/69

(145) मनुस्मृति 4/84

(146) विष्णु पुराण 40/1

(147) मनुस्मृति 11/70

(148) विष्णु पुराण 41/1-4

(149) विष्णु पुराण 42/1

(150) वृद्ध हारीत 9/210-215

(151) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/24/15, 1/10,28/19

(152) मनुस्मृति 11/122

(153) गौतम 23/18

(154) मनुस्मृति 11/229-30

(155) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/73/231-233

(156) ब्रह्मपुराण 218/5

(157) अपरार्क पृ0 1231

(158) मनुस्मृति 11/248

(159) बौधायन धर्मसूत्र 4/1/31

(160) वसिष्ठ 26/4

(161) अत्रि 2/5

(162) शंखस्मृति 12/18-19

(163) विष्णुधर्मसूत्र 55/2

(164) मिताक्षरा, याज्ञ0 3/305

(165) अग्नि पुराण 173/21

(166) याज्ञवल्क्य 3/305

(167) बौधायन धर्मसूत्र 4/1/5-11

(168) ऋग्वेद 10/154/2

(169) गौतम 19/15

(170) बौधायन धर्मसूत्र 3/10/13

(171) मनुस्मृति 11/239-341

(172) याज्ञवल्क्य 3/309

(173) मिताक्षरा 3/309

(174) मनुस्मृति 11/34

(175) वसिष्ठ 26/16

(176) मनुस्मृति 8/105

(177) याज्ञवल्क्य 2/83

(178) लघु हारीत 4 पृ0 186, स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 149

(179) मनुस्मृति 11/46

(180) मनुस्मृति 2/85-87

(181) वसिष्ठ 26/9-11

(182) विष्णु 55/10-21

(183) मनुस्मृति 11/262

(184) वसिष्ठ 27/1-3

(185) अंगिरा 101

(186) गौतम 19/16

(187) वसिष्ठ 29/16

(188) संवर्त 204

(189) मेधातिथि मनु पर 9/139

(190) बृहस्पति मदनरत्न व्यवहार, पृ0 66

(191) राजतरंगिणी (1/143)

(192) गौतम 19/11

(193) मनु 11/203

(194) विष्णु 54/29

(195) देवल, अपरार्क पृ0 199

(196) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 355

(197) मनुस्मृति 11/166

(198) अग्निपुराण 169/31

(199) विष्णु 35/6

(200) पराशर 12/58

(201) अपरार्क पृ0 1061, प्रायश्चित विवेक पृ0 45

(202) मत्स्य पुराण

(203) स्मृत्यर्थसार

(204) पराशरमाधवीय 2 भाग 1 पृ0 3

(205) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/220

(206) पराशरमाधवीय 2, भाग 1, पृ0 7

(207) बालम्भट्टी याज्ञवल्क्य 3/206

(208) जाबाल (प्रायश्चित प्रकरण)

(209) मनुस्मृति 11/45

(210) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/226

(211) गौतम 19/3-6, वसिष्ठ 22/2-5

(212) मनुस्मृति 11/45

(213) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/226

(214) मेधातिथि 11/45

(215) तैत्तिरीय संहिता 6/2/7/5

(216) काठक संहिता 8/5

(217) ऐतरेय ब्राह्मण 35/2

(218) मनुस्मृति 11/46

(219) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/226

(220) मनुस्मृति 11/189

(221) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/226

(222) मनुस्मृति 11/46

(223) आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/9/24-25 एवं 1/10/28/18

(224) मनुस्मृति 11/73

(225) याज्ञवल्क्य 3/247-48

(226) गौतम 22/2-3

(227) मनुस्मृति 11/90-91

(228) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/253

(229) गौतम 23/1

(230) गौतम 23/8-11

(231) मनुस्मृति 11/103-104

(232) याज्ञवल्क्य 3/259

(233) मनुस्मृति 11/99-100

(234) याज्ञवल्क्य 3/257

(235) मनुस्मृति 11/190

(236) विष्णु 54/32

(237) बृहस्पति (विवादरत्नाकर मे उद्धृत) पृ0 331

(238) वसिष्ठ 5/194

(239) गौतम 8/1

(240) शतपथ ब्राह्मण 5/4/4/5

(241) देवल, मदनपारिजात पृ0 277

(242) पराशर 8/28

(243) शंख 17/1-3

(244) अपरार्क पृ0 10-53-54

(245) पराशर माधवीय 2 भाग 1 पृ0 320-321

(246) विष्णु 34/1

(247) तत्रैव 34/2

(248) मनुस्मृति 11/58

(249) याज्ञवल्क्य 3/227

(250) मनु 11/58 एंव याज्ञ0 3/233-234

(251) गौतम 22/2-10

(252) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/24/10-25 एंव 1/9/25/12-13

(253) वसिष्ठ 20/25-28

(254) विष्णु 35/6 एव 50/1-6 एव 15

(255) मनुस्मृति 11/72-82

(256) याज्ञवल्क्य 3/243-250

(257) अग्निपुराण 169/1-4 एव 173/7-8

(258) सवर्तपृ0 110-115

(259) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/72-82

(260) अपरार्क पृ0 1055

(261) प्रायश्चित विवेक पृ0 63

(262) मिताक्षरा याज्ञवल्कय 2/243

(263) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/72

(264) मिताक्षरा याज्ञ 2/243

(265) आपस्तम्ब धर्म सूत्र 1/9/25/12

(266) गौतम 22/3

(267) मनुस्मृति 11/72

(268) याज्ञवल्क्य 3/248

(269) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/13

(270) वसिष्ठ 20/25-26

(271) गौतम 22/8

(272) मनुस्मृति 11/74

(273) याज्ञवल्क्य 3/247

(274) मनुस्मृति 11/73

(275) मदनपारिजात एंव भविष्यपुराण (प्रायश्चित प्रकाश द्वारा उद्धृत)

(276) मनुस्मृति 11/74

(277) कुल्लूक भट्ट मनु पर 11/74

(278) मनुस्मृति 11/75

(279) कुल्लूक भट्ट मनु पर 11/75

(280) मनुस्मृति 11/76

(281) मनुस्मृति 11/76

(282) याज्ञवल्क्य 3/250

(283) मिताक्षरा याज्ञ0 3/250

(284) स्मृत्यर्थसार पृ0 105

(285) मनुस्मृति 11/77

(286) याज्ञवल्क्य 3/249

(287) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/77

(288) मनुस्मृति 11/77

(289) याज्ञवल्क्य 3/249

(290) सामविधान ब्राहमण 1/7/5

(291) याज्ञवल्क्य 3/251

(292) वसिष्ठ 20/34

(293) याज्ञवल्क्य 3/266-67

(294) मनुस्मृति 11/126-130

(295) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/236

(296) मनुस्मृति 11/66

(297) गौतम 22/17

(298) आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/9/24/5 एंव 9

(299) बौधायन धर्मसूत्र 2/1/10, 12-13

(300) वसिष्ठ 20/34

(301) विष्णु 50/7-9

(302) गौतम 22/26-27

(303) मनुस्मृति 11/138

(304) याज्ञवल्क्य स्मृति 11/268-69

(305) मनुस्मृति 11/208

(306) विष्णु पुराण 54/30

(307) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/293

(308) गौतम 23/1

(309) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/3

(310) बौधायन धर्मसूत्र 2/1/21

(311) वसिष्ठ 20/22

(312) मनुस्मृति 11/90-91

(313) याज्ञवल्क्य 3/253

(314) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/253

(315) अपरार्क, पृ0 1071

(316) प्रायश्चित प्रकरण पृ0 43

(317) हरदत्त, गौतम 23/1

(318) मदनपारिजात पृ0 818

(319) प्रायश्चितविवेक पृ0 104

(320) प्रायश्चितप्रकरण पृ0 43

(321) मिताक्षरा याज्ञ 3/24

(322) गौतम 23/2-3

(323) याज्ञवल्क्य 3/255

(324) मनुस्मृति 11/146

(325) अत्रि 75

(326) पराशर 12/75-76

(327) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 3/255

(328) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/243

(329) मनुस्मृति 11/93

(330) गौतम 17/22-26

(331) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/170

(332) मनुस्मृति 5/8-10

(333) समाविधान ब्राहमण 1/5/13

(334) मनुस्मृति 11/160

(335) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/4

(336) तत्रैव 1/9/25/6-7

(337) मनुस्मृति 8/134
(338) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/363
(339) मनुस्मृति 11/101
(340) याज्ञवल्क्य 3/258
(341) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 3/258
(342) मनुस्मृति 11/162-168
(343) मत्स्यपुराण 227/41-47
(344) विष्णुपुराण 52/5-13
(345) मनुस्मृति 11/164
(346) विष्णु पुराण 52/14
(347) मेधातिथि 11/164
(348) मनुस्मृति 8/321,323
(349) विष्णु 5/82
(350) गौतम 23/8-11
(351) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/1-2
(352) बौधायन धर्मसूत्र 2/1/14-16
(353) वसिष्ठ 20/13-14
(354) मनुस्मृति 11/103-104
(355) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/259
(356) मेधातिथि, मनुपर 11/103
(357) मनुस्मृति 11/58 एंव 170-171
(358) याज्ञवल्क्य 3/231
(359) संवर्त 159
(360) पराशर 10/10-11
(361) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/259
(362) मनुस्मृति 11/178
(363) विष्णु 53/9
(364) अग्निपुराण 169/41

(365) शांतिपर्व 165/29
(366) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/233
(367) मनुस्मृति 11/175
(368) लघु शातातप 155
(369) अग्निपुराण 169/38
(370) वसिष्ठ 23/41
(371) विष्णु पुराण 53/5/6
(372) मनुस्मृति 11/181
(373) विष्णुपुराण 54/1
(374) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/261
(375) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/181
(376) प्रायश्चितसार पृ0 61
(377) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 3/261, मदनपारिजात पृ0 853
(378) व्यास (मिताक्षरा, याज्ञ पर 3/261, कुल्लूक मनु पर 11/181
(379) प्रायश्चित विवेक पृ0 171
(380) मनुस्मृति 11/171
(381) याज्ञवल्क्य 3/265
(382) विष्णुपुराण 37/35
(383) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/7/16/1-3
(384) ब्रह्माण्ड पुराण (उपोद्घात पाद 9/14 एंव 10/99)
(385) विष्णुपुराण 3/1/30
(386) वायुपुराण 44/38
(387) भागवतपुराण 3/1/22
(388) शांतिपर्व (345/14-21)
(389) विष्णुधर्मोत्तर पुराण (1/139/14-16)
(390) ऋग्वेद 8/63/1 एंव 8/30/3
(391) कठोपनिषद 1/3/17
(392) बौधायन धर्मसूत्र 2/8/1

(393) हरिवंश 1/21/1
(394) सुमन्तु, स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध पृ0 333
(395) वायुपुराण 3/14/1-4
(396) यम, स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध पृष्ठ 333 एव श्राद्धसार पृ0 5
(397) श्राद्धसार पृ0 6
(398) श्रद्धाप्रकाश पु0 11-12
(399) आश्वलायन गृहसूत्र 2/5/10
(400) हिरण्यकेशि गृह सूत्र 2/10/17
(401) आपस्तम्ब गृहसूत्र 8/21/1
(402) विष्णुपुराण 3/14/3
(403) वायुपुराण 83/112
(404) गोभिलस्मृति 3/70 एंव 2/104
(405) अपरार्क पृ0 588
(406) बृहत्पराशर पृ0 153
(407) बौधायन (स्मृतिचन्द्रिका श्राद्ध)
(408) वृद्ध शतातप पृ0 337
(409) त्रिस्यली सेतु पृ0 (319)
(410) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/6/15/19
(411) गौतम 2/4-5
(412) वशिष्ठ 216
(413) विष्णु पुराण 28/40
(414) मनु 2/172
(415) मेधातिथि मनु पर 2/172
(416) शतपथ ब्राह्मण एंव तैत्तिरीय आरण्यक 2/10
(417) मनुस्मृति 3/83
(418) गौतम 15/1-2
(419) आपस्तम्ब धर्म सूत्र 2/7/16/4-6
(420) गौतम 15/3

(421) वशिष्ठ11/16
(422) अग्निपुराण 115/8
(423) कूर्मपुराण 2/20/23
(424) मनुस्मृति 3/276-278
(425) विष्णु धर्म सूत्र 76/1-2
(426) विष्णुधर्मसूत्र 77/1-7
(427) आपस्तम्ब धर्म सूत्र 7/17/23-25
(428) विष्णु धर्म सूत्र 77/8-9
(429) कूर्मपुराण 2/16/3-4
(430) ब्रह्माण्ड पुराण 3/14/3
(431) भविष्यपुराण 1/188/1
(432) मनुस्मृति 3/280
(433) मिताक्षरा (याज्ञ0 1/217)
(434) मेधातिथि मनु पर 31243
(435) मनुस्मृति 2 (206-207)
(436) याज्ञवल्क्य 1/227
(437) पराशरमाधवीय 1/2 पृ0 303
(438) श्राद्ध प्रकरण प्र0 140
(439) स्मृतिचन्द्रिका श्राद्ध, पृष्ठ 385
(440) ब्रह्मपुराण 220/5-7
(441) वायुपुराण अध्याय 77
(442) मत्स्य पुराण 22
(443) आप0ध0 सूत्र 7/17/23-24
(444) मनुस्मृति 3 (239-242)
(445) विष्णुधर्मसूत्र 82/3
(446) कूर्मपुराण 2/22/34-35
(447) मार्कण्डेय पुराण 32/20-24

(449) विष्णुपुराण 3/16/12-14
(450) अनुशासन पर्व 91/43-44
(451) स्कन्दपुराण 6/217/43
(452) आश्वलायन गृहसूत्र 4/7/2
(453) शांखायन गृहसूत्र 4/1/2
(454) आपस्तम्ब गृहसूत्र 8/21/2
(455) आपस्तम्ब गृहसूत्र 2/7/17/4
(456) हिरण्यकेशि गृहसूत्र 2/10/2
(457) बौधायन गृहसूत्र /2/10/5-6 एव 2/8/2-3
(458) गौतम 15-9
(459) हिरण्यकेशि गृहसूत्र 2/10/2
(460) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/7
(461) कूर्म पुराण 2/21/14
(462) मनुस्मृति 3/138-139
(463) मनुस्मृति 3/144
(464) कूर्मपुराण 2-21-22
(465) मनुस्मृति 3/135-36 एंव 145-147
(466) मेधातिथि 3/147
(467) मनुस्मृति 3/147
(468) मनुस्मृति 3/132-146
(469) आप0 धर्म सूत्र 2/7/17/5-6
(470) बौधायनधर्म सूत्र 2/8/5
(471) मनुस्मृति 2/118
(472) स्कन्दपुराण 6/217/27
(473) मनुस्मृति 3/349

(477) अपरार्क पृ0 455

(478) कल्पतरू, श्राद्ध पर्व पृ0 102

(479) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/7/17/21

(480) गौतम 15/16/19

(481) मनु स्मृति 3/250 126

(482) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/222-224

(483) विष्णुधर्म सूत्र 82/3/29

(484) अत्रि (श्लोक 345-349 एंव 385- 388

(485) बृहद्यम 3/34-38

(486) बृहत्पराशर (पृ0 149-150)

(487) वृद्ध गौतम (पृ0 580-583)

(488) वायु पुराण 83/61-70

(489) मत्स्य पुराण 16/14-17

(490) कूर्मपुराण 2/21/23-47

(491) स्कन्द पुराण 7/1/205/58-72 एंव 6/217/11-20

(492) वराह पुराण 14/4-6

(493) ब्रह्मपुराण 220/127-135

(494) ब्रह्माण्डपुराण (उपोद्घात 15/39-44 एंव 19/30/41

(495) मार्कण्डेय पुराण 28/26-30

(496) विष्णुपुराण 3/15/5-8

(497) नारदपुराण (पूर्वाद्ध 28/11-18)

(498) सौरपुराण (19/7-9

(499) मनुस्मृति 3/170-182

(500) मनुस्मृति 3/189

(501) गरूडपुराण (प्रेतखण्ड, 10,28-29

(502) वशिष्ठ 11/27

(503) मनुस्मृति 3/125

(504) बौधायनधर्म सूत्र 2/8/29

(505) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/228

(506) मत्स्य पुराण 17/13-14

(507) विष्णुपुराण 3/15/14

(508) जीमूतवाहन 11/12

(509) आप0धर्म सू0 2/7/16/22-24

(510) मनुस्मृति 3/257

(511) वायुपुराण 8 /42-48

(512) मत्स्यपुराण 2/48

(513) ब्रह्मपुराण 3/59

(514) स्मृतिचन्द्रिका, देवण भट्ट पृ0 530

(515) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/8/19/13-15

(516) आप0 धर्म सूत्र 2/7/16/25 एवं 2/7/17/3

(517) विष्णुधर्मोत्तर-त्रिपिबमिद्रियक्षीण यूथस्याग्रचर तथा ।
रक्तवर्ण तु राजेन्द्र छांग वार्ध्रीणसं विदुः। (1/141/48)

(518) मेधातिथि मनु पर 3/27

(519) मनुस्मृति 3/267-272

(520) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/258-260

(521) कूर्मपुराण 2/20/40-42 एंव 29/2-8

(522) वायुपुराण 83/3-9

(523) मत्स्यपुराण 17/31-35

(524) विष्णुपुराण 3/16/1-3

(525) पद्मपुराण सृष्टि0 9/158-164

(526) ब्रह्माण्ड पुराण 220/23-29

(527) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 1/141-47

(528) हेमाद्रि, चर्तुवर्ग चिंतामणि, श्राद्ध पृ0 590

(529) पुलस्त्य(मिताक्षरा एंव अपरार्क पृ0 555)

(530) शांखायन गृहसूत्र 4/1/9

(531) आश्वलायन गृहसूत्र 4/8/12

(532) शख 14/11

(533) मनुस्मृति 3/260-261

(534) याज्ञवक्ल्य 1/242

(535) आश्वलायन गृहसूत्र 4/8/12-13, कात्यायनकृत श्राद्ध सूत्र कण्डिका 3

(536) आपस्तम्ब गृहसूत्र 24/9, हिरण्यकेशि गृहसूत्र 2/12/2-3

(537) मदनपारिजात पृ0 600

(538) हेमाद्रि, श्राद्ध, पृ0 1408

(539) अपरार्क, याज्ञ0 1/24

(540) तैत्तिरीय संहिता 1/8/5/1

(541) तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/3/10, 2/6/16

(542) वाजसनेयी संहिता 19/36-37

(543) शतपथ ब्राह्मण 2/4/2/16

(544) कात्यायन, श्राद्धसूत्र, 3

(545) गोभिल स्मृति 3/73

(546) श्राद्ध प्रकाश पृ0 14

(547) स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध, पृ0 337

(548) विष्णु पुराण 3/15/17

(549) ब्रह्माण्डपुराण उपोदघातपाद 11/61

(550) वराहपुराण 14/12

(551) बृहस्पति (कल्पतरू, श्राद्व पृ0 204)

(552) वृहत्पराशर, अध्याय 5 पृ0 153

(553) हिरण्येकेशि गृहंयसूत्र 2/10

(554) बौधायन गृहसूत्र 2/11-34

(555) श्राद्ध प्रकाश पृ0 9

(556) स्मृतिचन्द्रिका,श्राद्ध, पृ0 369

(557) स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध,पृ0 369

(558) हेमाद्रि, श्राद्ध पु0 99

(559) श्राद्ध प्रकाश, पृ0 9

(560) तैत्तिरीय संहिता 1/8/5/1

(561) आपस्तम्ब 2/10/13

(562) अपरार्क पृ0 506

(563) हेमाद्रि, श्राद्ध पृ0 1434

(564) श्राद्ध प्रकाश पृ0 258

(565) गोभिल गृहसूत्र पृ0 4/3/10-11

(566) हेमाद्रि, श्राद्ध पृ0 1443

(567) श्राद्ध प्रकाश पृ0 260

(568) मेधातिथि मनुस्मृति पर 3/194

(569) स्मृतिचन्द्रिका (श्राद्ध पृ0 481)

(570) तीर्थ विवेचन खण्ड, लक्ष्मीधर पृ0 22

(571) कात्यायन श्रोत्र सूत्र, लक्ष्मीधर पृ0 15

(572) तीर्थविवेचन खण्ड, पृ0 61

(573) अलबरूनी, सचाउ भाग 2 पृ0 142

(574) बृहस्पत्य अर्थशास्त्र 379-80

(575) इपि0 इण्डि 20,20,127

(576) काणे, हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र भाग 4 पृ0 770

(577) वराहपुराण अनु0 152, 154, 62, 29

(578) लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरू

(579) अलबरूनी, सचाउ, खण्ड 2 पृ0 146

(580) जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (पत्र) 13

(581) इपि0 इण्डि 14 पृ0 194

(582) जरनल ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्टोरिकल सोसाइटी 14

(583) इण्डि एण्टि 18 130, इपि0 इण्डि 9 304

(584) पृथ्वीराज विजय सर्ग। 2

(585) कीर्तिकौमुदी 9 2

(586) इपि0 इण्डि 2 330-42 पंक्ति 12 पृ0 334

(587) कलाविलास क्षेमेन्द्र पृ0 351

(588) इपि0 इण्डि 25 312-313

(589) इपि0 इण्डि 1 271-287 पंक्ति 23-33

(590) अलबरूनी, सचाउ 1 116

(591) तत्रैव 1, 117

(592) तत्रैव 2, 146

(593) तत्रैव 2, 147

(594) तत्रैव 2, 148

(595) कथासरित्सागर (तावने द्वारा संस्करणकृत) भाग 1 पृ0 31

(596) तत्रैव 1 384, 533

(597) तत्रैव 1 418

(598) तत्रैव 2 195

(599) तत्रैव 234, 293

(600) तत्रैव 335

(601) प्रस्तावना पृ0 18 से तीर्थ विवेचन खण्ड

(602) कलाविवेक, पृ0 323, 351

(603) दानसागर, वल्लासेन पृ0 35, 40

(604) दानसागर पृ0 45

(605) इण्डियन एंटीक्वैरी 4 76

(606) बृहस्पत्य अर्थशास्त्र 3,110-133

(607) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 26

(608) कृत्यकल्पतरू, शुद्धिखण्ड पृ0 169

(609) काणें, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 3 पृ0 567

(610) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 26

(611) तत्रैव अनुक्रमणिका पृष्ठ 226

(612) 300 तीर्थों का उल्लेख वाराणसीक्षेत्र तत्रैव पृ0 268

(613) आर के मुखर्जी, द फन्डामेण्टल यूनिटी आफ इण्डिया पृ0 49

(614) जिनप्रभासूरि, विविध तीर्थकल्प प0 आई0 सिधी जैन ग्रथंमाला न0 10

(615) डी0सी0 सरकार, शक्ति पीठ

(616) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 9, 10, 11 काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 572

(617) तत्रैर्व पृ0 9, 10, 11

(618) वीरमित्रोदय में तीर्थ प्रकाश बनारस 1917 पृ0 26,27,35,41,59

(619) अलबरूनी सचाऊ 2 पृ0 142

(620) काणे, धर्मशास्त्र का इति0 भाग 3 पृ0 654

(621) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0

(622) काणे धर्मशास्त्र का इति0 पृ0 603

(623) बील, भाग एक पृ0 232

(624) इपि0 इण्डि 1 140

(625) इपि0 इण्डि 12 211

(626) इण्डियन कल्चर 2, 136

(627) महापथ अर्थात तीर्थों की सहायता से दुसरी दुनिया में पहुच सकते थें

(628) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 261

(629) तत्रैव पृ0 302

(630) अलबरूनी सचाऊ 2 पृ0 146-147

राजनय/राजनैतिक संगठन का स्वरुप

राजधर्म:

मनुस्मृति मे सातवे अध्याय के आरम्भ में राजधर्म पर चर्चा की गई है। राजधर्म को सभी धर्मों का तत्व या सार कहा गया है।[1] गौतम[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[3], वसिष्ठ[4], विष्णु[5] नारद प्रकीर्णक[6], शांतिपर्व[7], मत्स्यपुराण[8], मार्कण्डेयपुराण[9] में राजा के कर्त्तव्यों की ओर संकेत मिलता है। इन ग्रंथों के अवलोकन से पता चलता है कि राजधर्म विश्व का सबसे बडा उददेश्य था और इसके अन्तर्गत आचार, व्यवहार, प्रायश्चित आदि के सभी नियम आते हैं। ऐसा उल्लेख उद्योगपर्व[10], शांतिपर्व[11] एंव शुक्रनीतिसार[12] में भी मिलता है।

शासन-शास्त्र के लिए कपितय अन्य शब्दों एंव नामों का प्रयोग हुआ है। महाभारत में इसे राजशास्त्र कहा गया है। नीतिप्रकाशिका[13] ने शासन पर लिखने वाले मानव एंव देवलेखकों को "राजशास्त्राणां प्रणेतार:'' की उपाधि दी है। अश्वघोष ने अपने बुद्वचरित[14] में इसी नाम का प्रयोग किया है। इसका एक अन्य नाम दण्डनीति है। शांतिपर्व[15] ने इस शब्द का अर्थ किया है यह विश्व दण्ड के द्वारा अच्छे मार्ग पर लाया जाता है, या यह शास्त्र दण्ड देने की व्यवस्था करता है। इसी से इसे दण्डनीति की संज्ञा मिली है और यह तीनों लोकों में छाया हुआ है। अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य[16] ने इसकी इस प्रकार व्याख्या दी है- दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनों वेदों) एंव वार्ता का स्थायित्व एंव रक्षण अथवा योगक्षेम होता है, जिसके द्वारा उपलब्ध की प्राप्ति होती है, लब्ध का परिरक्षरण होता है, रक्षित का विवर्धन होता है और विवर्धित का सुपात्रों में बंटवारा होता है। इसी अर्थ से मिलती उक्ति महाभारत में भी पाई जाती है।[17] मनुस्मृति[18] में भी लगभग इसी प्रकार राजा के कत्तर्वव्य गिनाये गये हैं- जो (भूमि, रत्न आदि) नहीं पाया है उसके पाने की इच्छा करें, और जो धन मिल गया है, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे और रक्षित धन को बढायें और बढे हुए धन का सुपात्रो में दान दें। नीतिसार[19] का कहना है कि दम (नियन्त्रण या शासन) को

दण्ड कहा जाता है, राजा को दण्ड की सञ्ज्ञा इसीलिए मिली है कि उसमें नियन्त्रण केन्द्रित है; दण्ड की नीति या नियमों को दण्डनीति कहा जाता है और 'नीति' यह संज्ञा इसीलिए है कि वह (लोगो को) ले चलती है।[20] मनु के टीकाकार मेधातिथि[21] ने दण्डनीति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह चाणक्य एंव अन्य लोगो द्वारा प्रणीत थी। याज्ञवल्क्य की टीका मिताक्षरा[22] में दण्डनीति को अर्थशास्त्र के अर्थ में लिया गया है। शुक्रनीतिसार[23] में आया है- "अर्थशास्त्र वह है, जिसमें राजाओं के आचरण आदि के विषय में ऐसा अनुशासन एंव शिक्षण हो जो श्रुति एंव स्मृति से भिन्न हो और जिसमें बड़ी दक्षता के साथ सम्पत्ति प्राप्ति के लिए शिक्षा दी गई हो। कामसूत्र[24] में अर्थ की परिभाषा शिक्षा, भूमि, स्वर्ग, पशु, धान्य, बरतन-भाण्ड एंव मित्र तथा वाञ्छित वस्तुओं के परिवर्धन से समन्वित की गई है। किन्तु मेधातिथि[24] के विचार कुछ परिवर्तित प्रतीत होते हैं। जब मनु[25] "राजा का आचार, उसकी उत्पत्ति और जिस प्रकार उसकी इस लोक और परलोक में परम सिद्धि हो उन सब राजधर्मों को कहता हूँ।'' के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि (राज) धर्म को कर्त्तव्य (धर्म शब्द: कर्तव्यवचन:) के अर्थ में लेते हैं; एवं कहते हैं कि राजा के कर्त्तव्य या तो दृष्टार्थ (अर्थात जिनके प्रभाव सांसारिक हों और देखे जा सकें) हैं या अदृष्टार्थ (अर्थात् जिन्हे देखा न जा सके किन्तु उनका आध्यत्मिक महत्व हो) यथा अग्हिोत्र। मेधातिथि स्पष्ट कहते हैं कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रंथों के आधार पर नहीं बने हैं, प्रत्युत वे मुख्यत: सांसारिक अनुभवों पर आधारित हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ राजशास्त्र, दण्ड नीति या राजधर्म या राजा के कर्त्तव्यों के संबंध में साहित्य में परम्परागत तथ्यों का उल्लेख किया गया है जिससे राज्य की समृद्धि हो, राज्य पर राजा का नियन्त्रण मजबूत हो, वहीं मेधातिथि स्पष्ट शब्दों में अपने विचार व्यक्त करते हैं कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के परम्परागत स्वरूपों से नहीं स्पष्ट किये जा सकते हैं, बल्कि ये नियम मुख्यत: सांसारिक अनुभवों पर आधारित हैं। इस प्रकार कह लें कि सांसरिक आवश्यकता से प्रेरित होकर ही राजनीति के नियमों का निर्माण किया जाना चाहिए न कि धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर।

राज्य के सात अंग:

मनु[24], गौतम[25], शातिपर्व[26], कौटिल्य[27], याज्ञवल्क्य[28] मत्स्यपुराण[29], अग्निपुराण[30], कामान्दक[31], अपरार्क[32] ने राज्य के सात अँगो का विवेचन किया है- (1) स्वामी (शासक या सम्राट) (2) अमात्य (3) जनपद या राष्ट्र (राज्य की भूमि एव प्रजा) (4) दुर्ग (सुरक्षित नगर या राजधानी) (5) कोश (शासक के कोश मे द्रव्यराशि) (6) दण्ड (सेना) एंव (7) मित्र।

स्वामी:

मनुस्मृति[33] एंव शुक्रनीतिसार[34] में लिखा है कि-''जब सभी भयाकुल हो इधर उधर दौडने लगे और विश्व में कोई स्वामी नहीं था तब विधाता ने इस विश्व की रक्षा के लिए राजा का प्रणयन किया।'' मनु ने मत्स्य न्याय (बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगल जाती है, अर्थात बली दुर्बल को दबा बैठता है या जिसकी लाठी उसकी भैंस वाले सिद्धान्त) की ओर संकेत किया है।[34] शतपथ ब्राह्मण[35] में आया है कि- जब कभी अकाल पडता है तो बलवान दुर्बल को दबा बैठता है, क्योंकि पानी है न्याय है। कौटिल्य[36] का कहना है- जब दण्ड का प्रयोग नहीं होता तब मत्स्य न्याय की दशा उत्पन्न हो जाती है क्योंकि दण्डधर के अभाव मे बलवान दुर्बल को खा डालता है। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि मत्स्य न्याय से अभिभूत होकर लोगों ने मनु वैवस्तव को अपना राजा बनाया। यही बात रामायण[37], शांतिपर्व[38], कामन्दक[39], मत्स्यपुराण[40], मानसोल्लास[41] ने भी अलग-अलग ढंग से कही है।

राजा की महत्ता को द्योतित करने के लिए कुछ ग्रंथों ने लिखा है कि राजा में देवों के अंश होते हैं। उदाहरणार्थ मनु[42] का कहना है- विधाता ने इन्द्र, मारूत, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र एंव कुबेर के प्रमुख अंशों से युक्त राजा की रचना की, अत: वह (राजा) राजमहिमा के कारण सभी जीवों में बढ़ जाता है। एक अन्य स्थल पर मनु[43] कहते हैं- ''बालक राजा का भी यह सोचकर कि वह भी मानव ही है, अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह नररूप देवता ही है। शांतिपर्व[44], गौतम[45] एंव आपस्तम्ब[46] मत्स्यपुराण[47], शुक्रनीतिसार[48], अग्निपुराण[49] वायुपुराण[50] एंव भागवतपुराण[51] में भी राजा में देवत्व का अंश होने की ओर संकेत मिलता

हैं। राजा के दैवीय अधिकार प्राप्त आवश्य थे किन्तु इसकी एक सीमा थी ऐसा नहीं था कि राजा को चाहे वह व्योग्य ही क्यों न हो, देवत्व प्राप्त था और वह मनमाना कर सकता था। मनु[52] ने कहा है कि यदि राजा प्रजा को पीडा देता है, वह अपना जीवन, कुटुम्ब एंव राज्य खो देता है। शुक्रनीतिसार[53] मे आया है कि वह राजा जो प्रजा को कष्ट देता है या धर्म के नाश का कारण बनता है अवश्य ही राक्षस का अंश होता है। शांतिपर्व[54] मे तो यहॉ तक कह दिया गया है कि झूठे एंव दुष्ट मंत्रियों, अधार्मिक राजा को मार डालना चाहिए। तैत्तिरीय संहिता[55], शतपथ ब्राह्मण[56] ने भी ऐसा ही संकेत किया है। शांतिपर्व[57], मनु[58] तथा याज्ञवल्क्य[59] ने राजगद्दी छीन लेने की बात कही है। शुक्रनीतिसार[60] ने दुष्ट राजाओं को गद्दी से उतार देने और गुणवान व्यक्ति के राज्यभिषेक की चर्चा की है, एक अन्य स्थल[61] पर कहा गया है कि यदि ब्राह्मण लोग अत्याचारी राजा को हटाकर मार डालेगें इस कर्म से पाप नहीं लगता। यशास्तिलक[62] ने प्रजा द्वारा मारे गये राजाओं के उदाहरण दिये हैं, यथा कलिंग का राजा, जिसने एक नाई को अपना प्रधान सेनापति बनाया था।

किसे राजा होना चाहिए? इस विषय में कई मत हैं। राजा शब्द का अर्थ है क्षत्रिय मनुस्मृति[63] में क्षत्रिय को ही राजा होने का योग्य ठहराया गया है। धर्मशास्त्र साहित्य में राजा शब्द उसके लिए आया है जो किसी देश पर शासन करता है या उसकी रक्षा करता है मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट[64] का विचार है कि राजा शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है। जो व्यक्ति प्रजा रक्षण का कार्य करता है वह राजा है। यही बात अवेष्टि नामक इष्टि के सम्पादन के विषय में भी कही गई है। अवेष्टि राजसूय यज्ञ का एक प्रमुख अंग है। राजा राजसूय यज्ञ करता था। अवेष्टि के सम्पादन के सिलसिले में ब्राह्मणों, क्षत्रियों एंव वैश्यों की भी चर्चा हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि राजसूय करने वाला राजा किसी भी जाति का हो सकता है कुल्लूकभट्ट का यह विचार संभवतः परिवर्तित समय की धारा से प्रभावित रहा होगा क्योंकि तब तक क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मण-शुंग, कण्व एंव वैश्य-गुप्त वंश के शासक भी सफलतापूर्वक राजा शासन कर चुके थे।

राजा के कर्त्तव्य एंव उत्तरदायित्व.

मनु[63], शांतिपर्व[64] एंव कालिदास[65] ने राजा के लिए प्रजारक्षण सबसे बडा धर्म माना है। राजनीति प्रकाश[66] में प्रजा रक्षण का तात्पर्य बताया है कि चोरो, डाकुओं आदि के भीतरी आक्रमणो तथा बाहरी शत्रुओ से प्रजा के प्राण एंव सम्पत्ति की रक्षा करना। मनुस्मृति[67], याज्ञवल्क्य स्मृति[68] कौटिल्य[69], नारद प्रकीर्णक[70] शुक्रनीतिसार[71], अत्रिस्मृति[72] एंव विष्णुधर्मोत्तरपुराण[73] से पता चलता है कि राजा के प्रमुख कर्त्तव्य ये थे- (1) प्रजा का रक्षण या पालन, (2) वर्णाश्रम धर्म नियम का पालन (3) दुष्टों को दण्ड देना तथा (4) न्याय करना।

मनु[74] का कहना है कि आक्रमण में प्रजा की रक्षा करते समय युद्ध क्षेत्र से नहीं भागना चाहिए, वे राजा जो युद्ध करते करते मर जाते हैं स्वर्ग प्राप्त करते हैं आपस्तम्ब धर्मसूत्र[75] में भी राजा को प्रजा रक्षार्थ युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है। शांतिपर्व[76] में कहा गया है कि गाय तथा ब्राह्मण की रक्षा करने में मर जाना श्रेयस्कर है। यही बात विष्णु धर्मोत्तर पुराण[76] में भी कही गई है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[77] कहते हैं कि जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त राजा के साथ जो जो स्नान करते हैं, सभी पाप मुक्त हो जाते हैं। उसी प्रकार सभी जाति वाले सैनिक युद्ध में मर जाने पर पाप रहित हो जाते है। इस प्रकार न केवल राजा अपितु राजा के साथ सैनिकों का युद्धभूमि में वीरगति प्राप्त करना प्रशंसनीय था।

कामन्दक[78] ने स्पष्ट किया है कि प्रजा को राजा के बड़े कर्मचारियों, चोरों, शत्रुओं, राजवल्लभों (रानी एव राजकुमारों) एंव स्वयं राजा के लोभ से बचना होता है। राजनीतिज्ञों ने इस संदर्भ में यह भी कहा है कि उपयुर्क्त कर्त्तव्यों के अतिरिक्त राजा को चाहिए कि वह विद्यार्थियों, विद्वानों ब्राह्मणों एंव याज्ञिकों की रक्षा करें। गौतम[79], कौटिल्य[80], अनुशासनपर्व[81], शांतिपर्व[82], विष्णुधर्मसूत्र[83], मनुस्मृति[84], याज्ञवल्क्य स्मृति[85], मत्स्यपुराण[86], अत्रिस्मृति[87] में इसके संदर्भ प्राप्त होते हैं। शासन का कार्य केवल शांति एंव सुख के स्थान तक ही सीमित नहीं थे, प्रत्युत उनके द्वारा संस्कृति का प्रसार भी आवश्यक माना जाता था। शांतिपर्व[88], मत्स्यपुराण[89] अग्निपुराण[90], राजनीतिप्रकाश[91], सभापर्व[92] में उल्लिखित है कि राजा को असहायों, वृद्धों, अन्धों, लूलों, लंगड़ों, पागलों, विधवाओं, अनाथों,

रोगियो, गर्भवती स्त्रियों की सहायता (दवा, वस्त्र, निवास स्थान देकर) करनी पड़ती थी। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[93] कहते है कि विपत्ति एंव अकाल के समय में राजा को अपने कोश से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजापालन करना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक काल में जैसे जनता के सेवार्थ चिकित्सा इत्यादि की सुविधाए नि:शुल्क प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। उसी प्रकार प्राचीनकाल एंव पूर्व मध्यकाल में वृद्धो, अधो, विधवाओं, अनाथों एव असहायों की व्यवस्था तथा उद्योग या व्यवसाय द्वारा हीन क्षत्रियों, वैश्यों एंव शूद्रों को समयानुकूल सहायता देना आदि कार्य किये जाते थे। इस कार्य के कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। प्राचीन काल मे अशोक के द्वितीय प्रस्तर अभिलेख से पता चलता है कि उसने मनुष्यो एंव पशुओं के लिए अस्पताल खुलवाये थे, धर्मशालाओ, अनाथालयों, पौसरों, छायादार वृक्षों, सिंचाई आदि की सुचारू व्यवस्था कर रखी थी। राजा खारवेल ने भी जलाशय खुदवाये थे। रूद्रदामन ने सुदर्शन नामक झील का पुनरूद्धार करवाया था। पराशर माधवीय[94] में उल्लिखित है कि अच्छे राजा को चाहिए कि वे सभा-भवनों, प्रपाओं, जलाशयों, मंदिरों, विश्रामालयों आदि का निर्माण करायें।

राजा के तीन प्रधान कार्य हैं: राजनियम प्रबन्ध अथवा कार्यकारिणी सम्बंधी, न्याय सम्बंधी एंव विधान निर्माण सम्बंधी। मनु[94] का कहना है कि राजा में सभी देवताओं की दीप्ति विद्यामान रहती है अत. सम्यक् आचरणों एंव अनुचित आचरणों के विषय में वह जो कुछ नियम बनाता है उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मनु के इस कथन की टीका में मेधातिथि ने कुछ राजनियमों के ऐसे उदाहरण दिये हैं- यथा आज राजधानी में सभी को उत्सव मनाना चाहिए, मंत्री के घर के वैवाहिक कार्य में आज सभी को जाना चाहिए, कसाइयों द्वारा आज के दिन पशु हनन नहीं होना चाहिए, आज पक्षियों को ही नहीं पकड़ना चाहिए, इन दिनों महाजनों को चाहिए कि वे कर्जदारों को न सतायें, बुरे आचरण वाले मनुष्यों का साथ नहीं करना चाहिए, ऐसे लोगों को घर में नहीं आने देना चाहिए। साथ ही मेधातिथि का यह भी कहना है कि राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध नहीं करना चाहिए, अर्थात उसे वर्णाश्रम धर्म के विरोध में नहीं जाना चाहिए, यथा अग्निहोत्र आदि का विरोध नहीं

करना चाहिए। कौटिल्य[98] ने शासनो के प्रणयन के विषय में पूरा एक प्रकरण ही लिखा है। शुक्रनीतिसार[99] ने लिखा है कि राजा के शासन (फरमान या घोषणायें) डुग्गी पिटवाकर घोषित कर देना चाहिए, उन्हें चौराहे पर लिखकर रख देना चाहिए। राजा को घोषित कर देना चाहिए कि उसकी आज्ञा के उल्लंघन पर कठोर दण्ड मिलेगा। मेधातिथि[99A] ने राजा के शासन को यहाँ तक बढा दिया कि अकाल के समय राजा भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में जहाँ एक तरफ मेधातिथि का कहना है कि राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध नहीं करना चाहिए वहीं दूसरी तरफ मेधातिथि का कहना है कि आकाल के समय राजा भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है अर्थात् राजा को शासन का सम्पूर्ण प्रबन्ध एंव नियन्त्रण अपने हाथ में रखना चाहिए।

मंत्रीगण:

राज्य के सात अंगों में दूसरा है अमात्य, जिसे सचिव या मन्त्री भी कह सकते हैं। बहुत से लेखकों ने अमात्यों एंव सचिवों की आवश्यकता सुन्दर शब्दों में दर्शायी है। मनुस्मृति[100] के अनुसार- "एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेला करना कठिन है; तो शासनकार्य जो कि कल्याण करना परम लक्ष्य मानता है बिना सहायकों के कैसे चल सकता है?'' कौटिल्य का कहना है कि "राजत्व पद सहायकों की मदद से संभव है, केवल एक पहिया कार्यशील नहीं होता; अत: राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों की नियुक्ति करे और उनकी सम्मतियाँ सुने। मत्स्यपुराण[102] में उल्लिखित है- राजा को, जब कि राज्यभिषेक के कारण अभी उसका सिर गीला ही है और वह राज्य का पर्यावेक्षण करना चाहता है, चाहिए कि वह सहायक चुन ले, क्योंकि उन्हीं में राज्य का स्थायित्व छिपा रहता है। मत्स्यपुराण[103] विष्णुधर्मोत्तरपुराण[104], शांतिपर्व[105] एंव राजनीतिप्रकाश[106] में भी अमात्यों की चर्चा मिलती है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या के विषय में बहुत प्राचीन काल से ही मतभेद रहा है। कौटिल्य[106] एंव कामन्दक[107] का कहना है कि मानव सम्प्रदाय के अनुसार मंत्रीपरिषद में 12 अमात्य होते हैं ब्रहिस्पत्यों के अनुसार 13, औशनसों के अनुसार 20। मनु[108] एंव मानसोल्लास[109] का कहना है कि

राजा की वंशपरम्परागत, शास्त्रों में प्रवीण वीर, उच्च कुलोत्पन्न एव भली भांति परीक्षित 7 या 8 व्यक्तियों को चुन लेना चाहिए। शिवाजी मनु की इस सम्मति के अनुसार अपनी मत्री परिषद में आठ प्रधान (अष्ट प्रधान) रखते थे। रनाडे कृत राइज ऑव द मराठा पावर[110] के अनुसार अष्टप्रधान ये थे- (1) मुख्य प्रधान (प्रधानमन्त्री) (2) पंत अमात्य (वित्त-मन्त्री) (3)पंत सचिव (आय व्यय निरीक्षक) (4) सेनापति (5) मन्त्री (राजा के व्यक्तिगत कार्यों का प्रभारी) (6) सुमन्त (वैदेशिक नीति का मंत्री) (7) पंडित राव (धार्मिक बातों का प्रभारी) (8) न्यायधीश। पूर्वमध्यकालीन लेखकों में अधिकांश का कथन है कि मंत्रियो को ब्राह्मणों, क्षत्रिय एंव वैश्यों में से चुनना चाहिए, किन्तु शूद्र को मंत्री होने का अधिकार नही है, भले ही वह सर्वगुणसम्पन्न ही क्यों न हो। शुक्रनीतिसार[111] एंव नीतिवाक्यामृत[112] में ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है। मनुस्मृति[113] में ऐसे विषयों की तालिका दी है जिनके बारे में मन्त्रियों से मंत्रणा करना आवश्यक है- यथा शांति एंव युद्ध स्थान (सेना, कोश, राजधानी एंव राष्ट्र या देश), कर के उद्‌गम, रक्षा (राजा एंव देश की रक्षा), पाये हुए धन को रखना या उसका वितरण। याज्ञवल्क्य[114] भी कहते हैं कि राजा मंत्रियो से मंत्रणा लेकर किसी ब्राह्मण (पुरोहित) से सम्मति ले, तब स्वंय कार्य निर्णय करें। कामदंक[115] एंव अग्निपुराण[116] के अनुसार मंत्रियों के सोचने के मुख्य विषय ये हैं- मंत्र, निर्धारित नीति से उत्पन्न फल की प्राप्ति (यथा किसी देश को जीतना और उसकी रक्षा करना) राज्य के कार्य करना- किसी किये जाने वाले कार्य के अच्छे या बुरे प्रभावों के विषय में भविष्यवाणी करना, आय एंव व्यय, शासन (दण्डनीय को दण्ड देना), शत्रुओं को दबाना, अकाल जैसी विपत्तियों के समय उपाय करना, राजा एंव राज्य की रक्षा करना। बहुत से ग्रंथोंयथा कौटिल्य[117], कामन्दक[118], अग्निपुराण[119], पंचतन्त्र[120] मानसोल्लास[121] में कहा गया है कि मंत्र (मंत्रियों के साथ मंत्रणा एंव विचार विमर्श तथा परामर्श करने के उपरान्त नीति निर्धारण) के पांच तत्व होते हैं जिनपर विचार करना चाहिए- कर्म के आरम्भ का उपाय, मनुष्य एंव प्रचुर सम्पत्ति, देशकाल विभाग, विनिपाल

प्रतीकार (बाधाओं को दूर करने के उपाय) कार्यसिद्धि (अर्थात् कार्य सिद्ध हो जाने पर राजा एंव प्रजा का सुख।

राष्ट्र:

कामंदक[122] का कहना है कि राज्य के सभी अगों का उद्भव राष्ट्र से होता है, अत. राजा को सभी सभव प्रयत्नो द्वारा राष्ट्र की वृद्धि करनी चाहिए। अग्निपुराण[123] के अनुसार राज्य के सभी अंगों में राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है। मनु[124] का कहना है कि राजा को ऐसे देश में घर बनाना (रहना) चाहिए, जहॉ पानी जमा न रहता हो जहॉ प्रचुर अन्न उपजता हो, जहॉ अधिकतर आर्यों का वास हो, जहॉ (आधियों एंव व्याधियो से) उपद्रव न हो, जो (वृक्षों, पुष्पों एव फलों के कारण) सुन्दर हो, जहॉ के सामंत अधिकार में आ गये हों और जहॉ जीविका के साधन सरलता से प्राप्त हो सकें। यही बात याज्ञवल्क्य[125] एंव विष्णु धर्मसूत्र[126] में भी दूसरे ढंग से कही गई है।

मनु[127] के अनुसार देश मे केवल आर्य हों, किन्तु विष्णु धर्म सूत्र[128] के अनुसार उसमें अपेक्षाकृत शूद्र एंव वैश्य अधिक हों। एक अन्य स्थान पर मनु[129] का कहना है कि जिस देश में शूद्र अधिक हों, जहाँ नास्तिकों की संख्या अधिक हो और द्विज बिल्कुल न हों, वह देश व्याधियों एंव दुर्भिक्षों से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाता है। यही बात मत्स्यपुराण[130], विष्णुधर्मोत्तर पुराण[131], मानसोल्लास[132], नीतिवाक्यामृत[133] ने भी कही है।

यहॉ ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्राचीन काल के राष्ट्र की परिभाषा, आधुनिक काल के राष्ट्र की परिभाषा के समान नहीं थी। क्योंकि बहुत से ग्रंथों मे राष्ट्रों की लम्बी चौडी तालिका दी हुई है यथा वराहमिहिर की वृहत्संहिता[134], बौधायनगृह्यसूत्र[135], कामसूत्र[136], ब्राईस्पत्य अर्थशास्त्र[137], राजशेखर की काव्यमीमांसा[138] अंतिम पुस्तक भारत को पांच भागों में बांटती है और सभी चारों दिशाओं में 70 देशों के नाम देती है। प्राचीन भारत में संभवत: राज्य को राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था। आजकल जिसे हम राष्ट्र कहते हैं वह एक भूनैतिक और आतंरिक अनुभूति का भी विषय है।

मनु[139] ने कहा है दो, तीन या पॉच ग्रामों के बीच में, राजा को चाहिए कि वह रक्षकों का एक मध्य स्थान नियुक्त करे। इस मध्यस्थान को 'गुल्म' कहा गया है। इसी प्रकार एक सौ ग्रामों के बीच में

सग्रह होता है। मनुस्मृति[140], विष्णुधर्मसूत्र[141], शातिपर्व[142], अग्निपुराण[143] विष्णुधर्मोत्तर- पुराण[144], मानसोल्लास[145] के अनुसार राजा द्वारा एक ग्राम में, 10 ग्रामों के दल मे, 20 ग्रामों, 100 ग्रामो एंव 1000 ग्रामो के दलों मे क्रम से एक से ऊँचे बढते हुए अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिन्हे अपने अपने अधिकार क्षेत्रो के समाचार से अवगत होना चाहिए और यदि वे कोई कार्य करने मे समर्थ न हो सके तो उन्हें इसकी सूचना ऊपर वाले अधिकारी को दे देनी चाहिए। मनु[146] का कहना है कि राजा के किसी मत्री द्वारा इन अधिकारियों के कार्यों एंव उनके पारस्परिक कलह आदि की देखभाल होनी चाहिए। मनु[147] का कहना है कि दस ग्रामों के अधिकारी को भूमि का एक कुल वेतन के रूप मे मिलता था। इसके ऊपर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[148] कहते हैं कि एक कुल उतनी भूमि को कहते हैं जिसे जोतने के लिए प्रति हल 6 बैलों वाले दो हल लगते थे। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल में सभी संस्थायें उसी प्रकार परम्परागत रूप से चली आ रही थी।

एक, दस या इससे अधिक ग्रामों वाले राजकर्मचारियों के वेतन के विषय में मनु[149] का कहना है - ग्राम के मुखिया को वे ही वस्तुएँ मिलनी चाहिए, जो प्रतिदिन राजा को मिलती हैं-यथा- भोजन, पेय पदार्थ, ईंधन आदि; दस ग्रामों के अधिकारी को एक कुल, बीस ग्रामों से अधिक वाले को पांच कुल, एक सौ ग्रामों के अधिकारीको एक ग्राम का भूमिकर तथा एक सहस्त्र ग्रामों के बड़े अधिकारी को एक नगर का कर मिलना चाहिए। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[150] कहते हैं कि मनु के ये शब्द केवल सुझाव के रूप में हैं और अधिकारियों की स्थिति एंव उत्तरदायित्व के द्योतक हैं। शुक्रनीतिसार[151] का कथन है कि वेतन पण के रूप में दिया जाना चाहिए न कि भूमि के रूप में, यदि राजा किसी को भूमि दे भी दे तो वह लेने वाले के जीवन तक ही रह सकेगी। आधुनिक काल की तरह कौटिल्य ने पूर्व सेवार्थ वृत्ति एंव प्रदान (पेंशन एंव अनुग्रह धन) देने की भी व्यवस्था दी है। याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि राजा को कायस्थों के चंगुल से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए, गुप्तचरों द्वारा राज्य कर्मचारियों के कार्यों की जाँच करानी चाहिए, जो लोग अच्छे आचरणयुक्त पाये जाये उनको प्रशंसित करना चाहिए, जो लोग असदाचरणशील पाये जाये उनको दण्डित करना चाहिए तथा जो

लोग घूंस लेते हो उन्हे देशनिष्कासित कर देना चाहिए। मनुस्मृति[153] मे भी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है- जो पाप बुद्धि सेवक काम (मुकद्दमें) वालों से (भय दिखाकर वा धमकाकर) धन (रिश्वत) ले राजा उनका सर्वस्त्र हरकर उन्हें देश से निकाल दे। मेधातिथि[154] इसके ऊपर टीका करते हुए कहते हैं कि उस राज्य को नाश का भय नही है जहाँ से कण्टक (दुष्ट लोग) निकाल बाहर किये जाते है। मेधातिथि[155] ने यह भी लिखा है कि अधिकतर कण्टकों को रानी, राजकुमार, राजा के प्रिय पात्रो एंव सेनापति के यहाँ प्रश्रय मिलता है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल में रिश्वत लेने वालो को कठोर दण्ड दिया जाता था। धर्मशास्त्र एंव अर्थशास्त्र के संबंधित सभी ग्रंथों ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि राजा को सतत कार्यशील रहना चाहिए, उसे किसी भी दशा में प्रमादी एंव भाग्यवादी नहीं होना चाहिए। कौटिल्य[156] का कहना है-धन के मूल में उत्थान है, उत्थान के विरोधी भाव से बुराई उत्पन्न होती है। उत्थान के अभाव में वर्तमान एंव भविष्य की प्राप्ति का ह्रास निश्चित है, उत्थान के द्वारा राजा मनोवांछित वस्तु एंव प्रचुर धन की प्राप्ति कर सकता है। याज्ञवल्क्य[157] का कथन है कि किसी योजना की सफलता दैव (भाग्य) एंव मानवीय प्रयत्न दोनों पर निर्भर है; किन्तु भाग्य कुछ नहीं है, वह तो मानव के गत जीवन के कर्मों का प्रतिफल है। मनुस्मृति[158] के अनुसार संसार में सब काम दैव और मनुष्य के आधीन होते हैं परन्तु दैव तो जान नहीं पड़ता और मनुष्य के कार्य करने से पूरे हो सकते हैं। मत्स्यपुराण[159], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[160], राजनीतिप्रकाश[161] में मानवीय प्रयत्न को उत्तम माना है। मेधातिथि[162] मनु के ऊपर भाष्य करते हुए कहते है कि- "प्रयत्न से हीन लोग ग्रहस्थिति पर निर्भर रहते हैं, जो दृढ़ प्रतिज्ञ और व्यवसायी होते हैं उनके लिए कुछ भी करना असभव नहीं है।

शक्तिशाली राजा को अपनी राज्य-सीमाएं बढाने तथा प्रजा को अपने अधिकार में रखने के लिए कई उपायों का सहारा लेना पड़ता था। रामायण[163], मनुस्मृति[164], याज्ञवल्क्यस्मृति[165], शुक्रनीतिसार[166] आदि के मत से ये चार उपाय हैं, यथा- साम, दान, भेद एंव दण्ड[167]। विष्णुधर्मोत्तर पुराण[168], मिताक्षरा[169] एंव कामदंक[170] ने भी यही बात कही है।

4- दुर्ग (किला या राजधानी) ·

मनु[171] ने राजधानी को राष्ट्र के पूर्व रखा है। मेधातिथि[172] एंव कुल्लूकभट्ट[173] का कथन है कि राजधानी पर शत्रु के अधिकार से गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि यही सारा भोज्य पदार्थ एकत्र रहता है, वहीं प्रमुख तत्व एंव सैन्यबल का आयोजन रहता है, अत: यदि राजधानी की रक्षा की जा सकती तो परहस्त गत राज्य लौटा लिया जा सकता है और देश की रक्षा की जा सकती है। भले ही राज्य का कुछ भाग शत्रु जीत लें किन्तु राजधानी अविजित रहनी चाहिए। राजधानी ही शासन यन्त्र की धुरी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मेधातिथि ने राजधानी (पुर या दुर्ग) को राष्ट्र से अधिक महत्ता दी है। याज्ञवल्क्य ने भी लिखा है कि दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एंव कोश की. रक्षा होती है। मनु[174] ने दुर्ग के निर्माण का कारण भली भांति बता दिया है दुर्ग में अवस्थित एक धनुर्धर सौ धनुर्धरों को तथा सौ धुनुर्धर एक सहस्त्र धनुर्धरों को मार गिरा सकते हैं। वायुपुराण[175] में दुर्ग के चार प्रकार दिये हैं। 'मनुस्मृति[176], शांतिपर्व[177], विष्णुधर्मसूत्र[178], मत्स्यपुराण[179], अग्निपुराण[180], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[181], शुक्रनीतिसार[182], ने दुर्ग के छ: प्रकार बताये हैं यथा धान्व दुर्ग (जल विहीन, खुली भूमि पर पाच योजन के घेरे में) महीदुर्ग (स्थल दुर्ग, प्रस्तरखण्डो या ईंटों से निर्मित प्रकारों वाला, जो 12 फुट से अधिक चौड़ा और चौडाई से दुगुना ऊँचा हो), जलदुर्ग (चारों ओर जल से आवृत), वार्क्ष दुर्ग (जो चारों ओर से एक योजन तक कॅटीले एंव लम्बे-लम्बे वृक्षों कंटीले लता गुल्मों एंव झाड़ियों से आवृत्त हो), नृदुर्ग (जो चतुरंगिनी सेना से चारों ओर से सुरक्षित हो) गिरिदुर्ग (पहाड़ों वाला दुर्ग जिसपर कठिनाई से चढ़ा जा सके और जिसमें केवल एक ही सकीर्ण मार्ग हो। मानसोल्लास[183] ने प्रस्तरों, ईंटों एंव मिट्टी से बने अन्य तीन प्रकार जोड़कर नौ दुर्गों का उल्लेख किया है। मनुस्मृति[184], सभापर्व[185], अयोध्या पर्व[186], मत्स्यपुराण[187], कामसूत्र[188], मानसोल्लास[189], शुक्रनीतिसार[190], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[191], के अनुसार दुर्ग में पर्याप्त आयुध, अन्न, औषध, धन, घोड़े, हाथी, भारवाही पशु, ब्राहमण, शिल्पकार, मशीनें (जो सैकड़ों को एक बार मारती हैं) जल एंव भूसा आदि समान होने चाहिए। नीतिवाक्यामृत[192] का कहना है कि दुर्ग में गुप्त सुरंग होनी चाहिए जिससे गुप्त रूप से निकला जा सके, नहीं तो वह बन्दीगृह सा हो जायेगा, वे ही

लोग आने जाने पाये जिनके पास सकेत चिन्ह हो और जिनकी हुलियां भली भांति ली गई हो।

5- कोश

कौटिल्य[193] का कहना है कि जिस राजा का कोश रिक्त हो जाता है वह नगरवासियों एंव ग्रामवासियो को चूसने लगता है, एक अन्य स्थल पर कौटिल्य[194] कहते है कि राज्य के सारे व्यापार कोश पर निर्भर रहते हैं अत: राजा को सर्वप्रथम कोश पर ध्यान देना चाहिए। मनुस्मृति[195] में कहा गया है कि राज्य का कोश एंव शासन राजा पर निर्भर रहता है अर्थात राजा को उन पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए। यही बात याज्ञवल्क्य[196], कामसूत्र[197], एंव शुक्रनीतिसार[198] मे अपने अपने ढंग से कही गई है। राजतरंगिणी[199] का कथन है कि कश्मीर का राजा कलश (सन् 1063-1089 ई0) वणिक की भाति आय-व्यय का ब्यौरा रखता था और बडी सावधानी बरतता था।

कोश भरने का प्रमुख साधन है कर ग्रहण। कर की मात्रा सामान्यत: वस्तुओं के मूल्य एंव समय पर निर्भर थी, क्योंकि आक्रमण, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियॉ भी आ सकती थी। गौतम[200] मनुस्मृति[201], विष्णुधर्मसूत्र[202] ने घोषित किया है कि राजा साधारण तथा उपज का छठा भाग ले सकता है, किन्तु कौटिल्य[203], मनु[204], शन्तिपर्व[205], शुक्रनीतिसार[206] ने यह छूट दे दी है कि आपत्तियों के समय राजा को आपत्तिकाल में भारी कर लगाने के लिए प्रजा से स्नेहपूर्ण याचना करनी चाहिए और अनुर्वर भूमि पर तो भारी कर लगाना ही नहीं चाहिए। मनु[207] एक स्थल पर कहते हैं कि जिस प्रकार जोंक, बछडा एंव मधुमक्खी थोडा-थोड़ा करके अपनी जीविका के लिए रक्त, दूध या मधु लेते हैं, उसी प्रकार राजा को अपने राज्य से वार्षिक कर के रूप में थोड़ा-थोडा लेना चाहिए। राजा को न तो अपनी जड़ (कर न लेकर) और न दूसरों की जड (अधिक कर लेकर) काटनी चाहिए। मनु[208] के अनुसार राज्य के कोश के लिए सभी को कुछ न कुछ देना ही चाहिए। यहाँ तक कि दरिद्र लोगों को भी, जो कोई वृत्ति करते हैं, कर देना चाहिए। रसोई बनाने वालों, बढ़इयों, कुम्हारों आदि को मास में एक दिन की कमाई कर के रूप में देनी चाहिए। गौतम धर्मसूत्र[209] एंव विष्णुधर्मसूत्र[210] में भी ऐसा ही विवरण प्राप्त

होता है। किन्तु शुक्रनीतिसार का कथन है कि मजदूरो एव शिल्पियों को प्रत्येक पक्ष मे एक दिन की बेगार देनी चाहिए।

मनु[211], गौतम[212], विष्णुधर्मसूत्र[213],मानसोल्लास[214] एंव अन्य ग्रथों में राजा भूमि से प्राप्त अन्न के 1/6, 1/8 या 1/12 भाग (विष्णु 1/6, गौतम में 1/10 भाग) का अधिकारी माना गया है। कौटिल्य[215] ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह कृषकों को बीज, पशु एंव धन अग्रिम देदे, जिसे कृषक कई सरल भागों मे लौटा सकते हैं। साधरणतया कर उपज का 6वां भाग ही लिया जाता था किन्तु आक्रमण या अन्य किसी प्रकार की आपत्तियों की स्थिति में वह 1/4 भाग तक कर प्राप्त कर सकता था। मनु[216], गौतम[217], विष्णुधर्मसूत्र[218], मानसोल्लास[219] आदि के मत से राजा को चरवाहों द्वारा पालित पशुओं तथा महाजनी पर 1/50 भाग लेने का अधिकार है। मनु[220], गौतम[221] विष्णुधर्मसूत्र[222], विष्णुधर्मोत्तर पुराण[223], एंव मानसोल्लास[224] के अनुसार राजा को पेडों, मांस, मधु, घृत, चंदन, औषधियों के पौधों, रसों (नमक आदि), पुष्पों, जडों (यथा हल्दी आदि) फलों, पत्तियों (यथा ताम्बूल आदि) शाकों, घासो, खालों, बांस की बनी वस्तुओं, मिट्टी के बर्तनों, प्रस्तर की वस्तुओं पर 1/6 भाग मिलता था।

राजा को कर देने के विषय मे बहुत से कारण बताये गये हैं। गौतम[225] का कहना है कि राजा रक्षा करता है अत: उसके लिए कर देना चाहिए। शांतिपर्व[226], बौधायनधर्मसूत्र[227], नारद[228], कौटिल्य[229], के अनुसार कर राजा का वेतन है। वह प्रजा की रक्षा करता है उनकी देखभाल करता है जिसके बदले में प्रजा उसे कर देती है। कात्यायन[230] से उद्धत राजनीतिप्रकाश[231] के अनुसार राजा भूमि का स्वामी है, किन्तु धन के अन्य प्रकारों का नहीं, वह उपज के छठे भाग का अधिकारी है, मनुष्य भूमि पर निवास करते हैं अत: वे साधारण रूप में स्वामीं से लगते हैं (किन्तु वास्तव में उनका स्वामित्व दूसरे ढंग का है वास्तविक स्वामी तो राजा ही है) मनु[232] एंव उनके टीकाकार मेधातिथि[233] के अनुसार राजा खानों से खोदी गई वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओं के 1/6, 1/8 भाग का अधिकारी है क्योंकि वह भूमि का स्वामी है और सुरक्षा प्रदान करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में भी राजा को भूमि का स्वामी माना जाता था और इस कारण कर प्राप्त करने का अधिकारी भी माना जाता था। कर प्राप्त करने का एक और कारण था कि वह अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता था, इसलिए भी वह कर का अधिकारी था।

मेधातिथि[234] ने कुछ ऐसी वस्तुओं को गिनवाया है जिस पर राजा का एकाधिकार था जैसे हाथियो के अतिरिक्त इन मे कुमकुम, रेशम, ऊन, मोती, रत्न आदि सम्मिलित थे।

करों का विशद वर्णन आर्थिक स्थिति के राजस्व नामक अध्याय में किया गया है। इससे राजा अपना कोश सैदव भरा रखता था।

6–बल (सेना):

कौटिल्य[235], कामन्दक[236], अग्निपुराण[237] एंव मानसोल्लास[238] के अनुसार सेनाएं छ: प्रकार की होती है- यथा-मौल (वंशापरम्परानुगत), भृत या भृतक या भृत्य (वेतन पर रखे गये सैनिकों का दल), श्रेणी (व्यापारियों या अन्य जन समुदायो की सेना), मित्र (मित्रों या सामतों की सेना), अमित (ऐसी सेना जो कभी शत्रु पक्ष की थी) आटवी या आटविक (जंगली जातियों की सेना) इसमे प्रथम तीन ग्रंथों के अनुसार उपर्युक्त छ. प्रकारों में पूर्व वर्णित प्रकार आगे वाले प्रकारों से उत्तम हैं।[239]

सेना के चार भाग होते थे- हस्ती, अश्व, रथ एंव पदाति और इस प्रकार की सेना की संज्ञा थी चतुरंगिणी। कामन्दक[240] के मत से बल छ: प्रकार थे। हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, कोश एंव आवागमन के मार्ग। शांतिपर्व[241] में सेना के आठ अंग बताये गये हैं- हस्ती, अश्व, रथ, पैदल विष्टि (जो केवल भोजन के बदले युद्ध करते थे,बेगार), नाव, चर एंव दैशिक (पथप्रदर्शक)। शुक्रनीतिसार[242] ने सेना के विषय में कुछ व्यवहारिक नियम दिये हैं, जैसे - सैनिकों को ग्राम या बस्ती से दूर (किन्तु बहुत दूर नहीं) रखना चाहिए, ग्रामवासियों एव सैनिको में धन के लेन-देन का व्यापार नहीं होने देना चाहिए। सैनिकों के लिए पृथक दुकानें खोलने का प्रयत्न करना चाहिए। एक स्थान पर सैनिकों का आवास एक वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए, बिना राजा की आज्ञा के सैनिक ग्रामों के भीतर न जाने पायें, जो कुछ सैनिकों को दिया जाये उसकी रसीद रख लेनी चाहिए और उनके वेतन का लेखा जोखा रखना चाहिए। राजा की सेना के

प्रबन्ध आदि के विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र[243] में विशद वर्णन मिलता है।

कौटिल्य ने विजय के लिये कपटाचरण आदि की ओर सकेत किया है, किन्तु महाभारत ने इस विषय में बहुत उच्च आदर्श रखा है।[245] मनु[246] ने घोषित किया है- कपटपूर्ण या गुप्त आयुधों के साथ नही लडना चाहिए और न विषाक्त या शूलाग्र या जलती हुई नोकों वाले आयुधो से लड़ना चाहिए। युद्ध लिप्त उसे न मारे जो उच्च भूमि पर चढ गया हो या हिजड़ा हो या जिसने (प्राण की रक्षा के लिए) हाथ जोड लिये हो, जो इतनी तेजी से भाग रहा हो कि उसके के केश उड रहे हो या जो भूमि पर बैठ गया हो और कह रहा हो, "मैं तुम्हारा हूं" जो सोया हुआ है, जिसका कवच टूट गया हो, जो मार्ग-दर्शक हो, जो दूसरे शत्रु से लड़ रहा हो, जिसके आयुध टूट गये हों, जो दुखित हो या बुरी तरह घायल हो गया हो जो डर गया हो और पीठ दिखाकर भाग चला हो।" मनु[247] ने राजा को अपने शत्रु के देश को तहस-नहस करने की आज्ञा दी है, किन्तु इसपर टीका करते हुए मेधातिथि[248] कहते है कि शत्रु के देश के लोगों की यथासंभव, विशेषत: ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते युद्ध में और भी अधिक उदारता का प्रदर्शन किया जाने लगा था, जहाँ एक ओर कौटिल्य कपटपूर्ण युद्ध विजय की बात करते हैं; मनु स्मृति इसके लिए मना करती है वही मेधातिथि शत्रु देश में भी लूटपाट से मना करते है एंव यहॉ तक कि ब्राहमणों की रक्षा की बात करते हैं।

7- सुहृद या मित्र:

मनु[249] ने मित्र बनाने की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है और राजा के लिए अच्छे मित्र के गुणों का वर्णन किया है- राजा सोना एंव भूमि पाकर उतना समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर, भले ही वह (मित्र) कमधन (कोश) वाला हो, क्योंकि भविष्य में वह शक्तिशाली हो जायगा। एक दुर्बल मित्र भी श्लाघनीय है यदि वह गुणवान एंव कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा संतुष्ट हो और वह अपने हाथ में लिए हुए कार्य को अंत तक करने वाला अर्थात दृढ़ प्रतिज्ञ हो। मनु[250] के मत से, "भूमि, सोना (हिरण्य) एंव मित्र" राजा की नीति या प्रयत्नों के तीन फल हैं। याज्ञवल्क्य[251] मनु से सहमत हैं। किन्तु कौटिल्य[252] इससे

भिन्न मत रखते हैं, उनके अनुसार भूमिलाभ, हिरण्यलाभ से एव हिरण्यलाभ मित्र लाभ से श्रेयस्कर है। मनुस्मृति[253], कौटिल्य[254], आश्रमवासिक पर्व[255], याज्ञवल्क्य स्मृति[256], कामसूत्र[257], अग्निपुराण[258], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[259], नीतिवाक्यामृतम[260], राजनीतिप्रकाश[261], नीति मयूख[262] आदि ने मण्डल सिद्धान्त की चर्चा की है। विजिगीषु (विजय की अभिलाषा रखने वाला या विजय करने वाले) के सबध मे ही मण्डल सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। कामन्दक[263] ने विजिगीषु की परिभाषा इस प्रकार दी है- "जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, जो राज्य के सातों तत्वो से सम्पन्न है, जो महोत्साही है और जो उद्योगशील हैं, वह विजिगीषु कहलाता है।" विजिगीषु बहुत से राजाओं से घिरा रहता है, किन्तु जो अरि है वह विजिगीषु के सम्मुख कहा जाता है। अत: विजिगीषु के सम्मुख क्रम से अरि (पडोसी शत्रु) मित्र (अरि की सीमा से सटे राज्य वाला राजा) अरि-मित्र (अरि का वह मित्र जो विजिगीषु के मित्र की सीमा का हो) मित्र मित्र (मित्र का मित्र) तथा अरिमित्र मित्र (शत्रु के मित्र का मित्र) आते है, जब अरि विजिगीषु के सम्मुख रहता है, तो विपरीत दिशा के राज्य का शासक पश्चात है और उसे पार्ष्णिग्राह (वह जो पीछे से पकड सके या आक्रमण कर सके।) कहा जाता है[264] पार्ष्णिग्राह के आगे के राज्य के राजा को आक्रन्द (जिसकी सहायता प्राप्त करने के लिए विजिगीषु प्रार्थना कर सकता है या उभाड़ सकता है) कहा जाता है। आक्रन्द वह मित्र है, जो पार्ष्णिग्राह की सीमा से सटा रहता है। पार्ष्णिग्राह के मित्र (जो आक्रान्द से सटा रहेगा) को पार्ष्णिग्राहासार कहा जाता है। इसी प्रकार आक्रान्द के मित्र को आक्रान्दासार कहा जाता है। उसे मध्यम कहा जाता है जिसका राज्य विजिगीषु तथा अरि की राज्य सीमा से सटा हुआ हो, और जो दोनों अर्थात् विजिगीषु तथा उसके शत्रु अरि को सहायता दे सकता हो, या दोनों से भिड़ सकता है। उदासीन राजा वह है जो विजिगीषु के राज्य की सीमा से बहुत दूर राज्य करता हो, जो राज्य तत्वों से सम्पन्न हो और उपर्युक्त तीनों प्रकारों से सहायता दे सकता हो या उन से भिड सकता हो।[265] कुल्लूकभट्ट[266] मनु पर टीका करते हुए उपर्युक्त व्याख्या से असहमत है उनके अनुसार उदासीन वह शक्तिशाली राजा है जिसका राज्य विजिगीषु के राज्य के सम्मुख हो, पीछे हो या दूर हो और जो किसी कारणवश या विजिगीषु के कार्य-कलापों के कारण

उदासीन हो उठा हो। मनु[265] ने घोषित किया है कि राजा को चाहिए कि वह अपने साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित कर दे कि उसके मित्र, उदासीन एंव शत्रु उसकी हानि न कर सके या उस से उच्च न हो जायें। मेधातिथि[266] ने इस पर टीका करते हुए लिखा है कि स्वार्थ आ पडने पर मित्र भी शत्रु हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भी राज्य का सप्तांग सिद्धान्त थोडे बहुत अन्तर के साथ यथावत चल रहा था।

व्यवहार (न्याय पद्धति):

निष्पक्ष न्याय करना एंव अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कार्यों में था। राजा को न्याय का स्त्रोत माना जाता था। कौटिल्य[267] ने लिखा है कि दिन के दूसरे भाग मे (दिन को आठ भागों में बांटा गया था) राजा को पौर जानपदों (नगरवासियों एंव ग्रामवासियो) के झगड़े को निपटाना चाहिए। मनु[268] ने भी लिखा है कि लोगों के झगड़ों को निपटाने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणों एंव मंत्रियों के साथ सभा (न्याय-भवन) में प्रवेश करना चाहिए और प्रतिदिन झगड़ों के कारणों को तय करना चाहिए। शुक्रनीतिसार[269], मनुस्मृति[270], वसिष्ठ धर्मसूत्र[271], याज्ञवल्क्य[272], विष्णुधर्मसूत्र[273], नारद स्मृति[274], मानसोल्लास[275] का कहना है कि न्याय शासन राजा का व्यक्तिगत कार्य या व्यापार है। मिताक्षरा[276] का कहना है कि प्रजारक्षण राजा का सर्वोच्च कर्त्तव्य है, यह कर्त्तव्य बिना अपराधियों को दण्डित किये पूर्ण नही हो सकता। अत: राजा को न्याय (व्यवहार दर्शन) करना चाहिए। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[277] का भी कहना है कि लौकिक एंव पारलौकिक (अदृष्ट) कष्टों को दूर करना ही प्रजा रक्षण है।

स्मृतिकारों का कहना है कि अति प्राचीन काल में स्वर्णयुग था, लोग नीतियुक्त आचरण करते थे। आगे चलकर उनके जीवन में बेईमानी घुस गई, इसी से विद्वानों एंव राजा ने नियमों का निर्माण किया और कानूनों (व्यवहारों) का प्रचलन हुआ।[278] मनुस्मृति[279] एंव शांतिपर्व[280] में आया है कि कृतयुग (सत्युग) में धर्म अपनी पूर्णता के साथ विराजमान था, किन्तु आगे चलकर चोरी, झूठ एंव धोखाधड़ी के कारण क्रमश: तीनों युगों (त्रेता, द्वापर एंव कलियुग) में धर्म की अवनति होती चली गई। कुछ ग्रंथों में मत्स्यन्याय का भी वर्णन मिलता है जो संभवत: इस विचार की

स्थापना के कारण था कि स्मृतिकार चाहते थे कि जनता राजा के एकाधिकारों के समक्ष झुके।

व्यवहार शब्द सूत्रों एव स्मृतियो द्वारा कई अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। उद्योगपर्व[281], अपास्तम्बधर्मसूत्र[282] मे इसका अर्थ लेन देन से लिया गया है। शांतिपर्व[283], मनु[284], वसिष्ठ[285], याज्ञवल्क्य[286], विष्णुधर्मसूत्र[287], नारद[288], शुक्रनीतिसार[289], में इसका अर्थ झगडा या मुकदमा समझाया गया है। इसका तीसरा अर्थ लेन देन मे प्रविष्ट होने से संबंधित न्याय (कानूनी) सामर्थ्य से है। जिसे गौतम[290], वसिष्ठ[291] एव शंखलिखित[292] ने प्रतिपादित किया है। इसका चौथा अर्थ है, " किसी विषय को तय करने के साधन[293] से है। किसी-किसी पुस्तक में व्यवहार शब्द केवल न्याय विधि के लिए प्रयुक्त हुआ है- जैसे जीमूतवाहन कृत व्यवहारमातृका एंव रघुनन्दनकृत व्यवहारतत्व। कुछ स्मृतिकारों एंव टीकाकारों ने व्यवहार शब्द की परिभाषा की है। कात्यायन ने दो परिभाषायें की हैं, जिसमें से एक व्युत्पत्ति के आधार पर है और विधि की ओर प्रमुख रूप से संकेत करती है तथा दूसरी परम्परा के आधार पर झगडे या मुकदमें या विवाद से संबंधित है। उपसर्ग वि का प्रयोग बहुत के अर्थ में,अव का संदेह के अर्थ में तथा हार का हटाने के अर्थ में प्रयोग हुआ है, अर्थात व्यवहार नाम इस लिए पडा क्योंकि यह बहुत से सदेहों को हटाता है या दूर करता है, यह व्याख्या व्यवहारमयूख[294] एंव मनु पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[295] ने प्रस्तुत की है।

बहुत प्राचीनकाल से 18 व्यवहारों पदों की गणना होती आयी है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यों के बहुत से झगडे 18 शीर्षकों में बांटे जा सकते हैं। स्वंय मनु[296] ने लिखा है कि यह संख्या कोई आदर्श नहीं है इस में विशेषता: सभी मुख्य झगडे आ जाते हैं। मेधातिथि[297] और कुल्लूकभट्ट[298] इस पर टीका करते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं कि व्यवहार पदों में सभी झगड़े सम्मिलित होने चाहिए। संख्या इसमें महत्व नहीं रखती, वह चाहें जितनी ही क्यों न हो?

न्यायकार्य मुख्यत: राजा के अधीन था। राजा प्रारम्भिक एंव अंतिम अदालत था। स्मृतियों एंव निबन्धो का कहना है कि अकेला राजा न्याय कार्य नहीं कर सकता, उसे अन्य लोगों की सहायता से न्याय करना चाहिए। मनु[299] एंव याज्ञवल्क्य[300] का मत है कि राजा को बिना भड़कीले

वस्त्र धारण किये, विद्वान ब्राह्मणों एंव मंत्रियो के साथ सभा (न्याय कक्ष) में प्रवेश करना चाहिए तथा उसे क्रोधपूर्ण मनोभाव एव लालच से दूर हटकर धर्मशास्त्र के नियमों के आधार पर न्याय करना चाहिए। यही तथ्य जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका[301] एव याज्ञवल्क्य[302] की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत है और जोडा है कि जो राजा न्यायधीश, मंत्रियों, विद्वान, ब्राह्मणों, पुरोहितों एव सभ्यो की उपस्थिति मे विवाद निर्णय करता है वह स्वर्ग का भागी होता है। अपरार्क[303], स्मृतिचन्द्रिका[304] एंव पराशरमाधवीय[305] में दिया है कि धर्मशास्त्र द्वारा निर्धारित नियमों के विरोध में नियम बनाने अथवा निर्णय देने वाले राजाओं को सावधान किया है। शुक्रनीतिसार ने भी ऐसा ही कहा है। स्मृतिचन्द्रिका[306] के अनुसार बहुत सी बातों में राजा का निर्णय ही प्रमाण माना जाता है। राजा निर्णय किस प्रकार करता है, इस विषय मे गौतम[307] एव मनु[308] द्वारा निर्धारित नियम द्रष्टव्य हैं। यदि कोई चोर ब्राह्मण के घर सोने की चोरी करे तो उसे हाथ में लोहे की गदा या खदिर वृक्ष की लाठी लेकर बाल बिखेरे हुए दौड़कर राजा के पास पहुंचाकर अपना पाप स्वीकार करना चाहिए और राजा से दण्ड मांगना चाहिए। राजा को ऐसी स्थिति में गदा या लाठी से अपराधी को मारना चाहिए। अपराधी उस चोट से मर जाय या जीवित रहे; वह पाप से मुक्त हो जाता है। राजा ही न्याय की सबसे बड़ी कचहरी या अदालत था। इस विषय मे कई उदाहरण राजतरंगिणी[309] में भी मिलते हैं।

प्रमुख न्यायधीश प्राय: कोई विद्वान ब्राह्मण ही होता था। मनु[310] एंव याज्ञवल्क्य[311], कात्यायन[312] एंव शुक्रनीतिसार[313] ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई विद्वान ब्राह्मण न मिले तो प्रमुख न्यायधीश के पद पर धर्मशास्त्रों में पारंगत किसी क्षत्रिय या वैश्य को नियुक्त करना चाहिए। किन्तु राजा को इस पर ध्यान देना चाहिए कि कोई शूद्र इस का उपयोग न कर सकें। मनु[314] ने यहाँ तक कहा है कि भले ही अविद्वान ब्राह्मण इस पर पर नियुक्त हो जाये, किन्तु शूद्रधर्माध्यक्ष कभी न होने पाये यदि कोई राजा शूद्र को नियुक्त करेगा तो उसका राज्य उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा जिस प्रकार कीचड मे गाय फंस जाती है। यही बात व्यास[315] ने (सरस्वती विलास में उद्वत) भी कही है। मनु[316] का कथन है कि जब किसी सभा में मुख्य न्यायधीश के साथ वेद में पारंगत तीन ब्राह्मण बैठते

है तो वह ब्रह्म की सभा या यज्ञ के समान है। याज्ञवल्क्य[317], विष्णुधर्मसूत्र[318], कात्यायन[319] नारद[320] एव शुक्रनीतिसार[321] तथा अन्य ग्रथकारो के अनुसार सभ्यो के गुणशील ये है- वेदज्ञ-होना, धर्म शास्त्र में पारंगत होना, सत्यवादी होना, मित्रमित्र के प्रति पक्षपात रहित होना, स्थिर होना, कार्यदक्ष होना, कर्त्तव्यशील होना, बुद्धिमान होना, वंशपरम्परा से चला आना, अर्थशास्त्र मे पारंगत होना आदि।

मनु[322] का कहना है कि या तो व्यक्ति को सभा में जाना नहीं चाहिए, यदि वह सभा में प्रवेश करे तो उचित बात उसे कहनी ही चाहिए वह व्यक्ति, जो सभा में उपस्थिति रहने पर भी मौन रहता है या झूठ बोलता है, पाप का भागी होता है। जहॉ कुछ या सभी सभ्यों की सम्मति के रहते हुए राजा द्वारा न्याय नहीं हो पाता वहॉ सभी राजा के साथ पाप के भागी होते हैं। यदि राजा अन्याय कर रहा है तो सभा सदों का कर्त्तव्य है कि वे राजा को क्रमश· न्यायपक्ष की ओर ले आये। यह तथ्य स्मृतिचन्द्रिका[323] एव राजनीतिरत्नाकर[324] में भी दोहराये गये हैं।

स्मृतियों एंव निबन्धों में न्यायलयों का भी वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य[325] एंव नारद[326] का कहना है कि मुकदमों का फैसला कुलों (गांव की पंचायतो), श्रेणियों, सभाओं, (पूगों) तथा गणों द्वारा भी होता था। उच्च से निम्न न्यायालयों का क्रम इस प्रकार था- राजा, न्यायधीश, गण, पूग, श्रेणी एव कुल। इसका विवरण मेधातिथि[327] मिताक्षरा[328] व्यवहारप्रकाश[329], स्मृतिचन्द्रिका[330], अपरार्क[331], कुल्लूकभट्ट[332] व्यवहारमातृका[333] पराशरमाधवीय[334] एंव गुप्त सवत 124 वाला दामोदरपुर पत्रक[335] एंव एक अन्य अभिलेखीय[336] साक्ष्य मे विस्तृत रूप से दिया गया है। मेधातिथि परम्परागत अर्थो से कुछ भिन्न अर्थ बताते है उनके अनुसार कुलानि का अर्थ है रिश्तेदारों का दल कुछ लोग इसे मध्यस्थ पुरूष समझते हैं। गण का अर्थ है ग्रह निर्माण करने वाले या मठों में रहने वाले ब्राह्मण। मनु[337] मनु के टीकाकार (कुल्लूक[338] एंव दामोदरपुर पत्रक[339] के अनुसार विषयपति अर्थात जिले के मालिक को नगरश्रेष्ठी प्रथमकुलिक एंव प्रथम कायस्थ[340] सहायता देते थे। बहुत से टीकाकारों के मत से श्रेणी का अर्थ है वह संघ या समुदाय जो एक प्रकार की वृत्ति (पेशा) या शिल्प करने वालो का हो; यथा घोड़ों का व्यापार करने वालों, बरइयों (पान बेचने वालों), जुलाहों, खाल बेचने वालों का संघ।

जीमूतवाहन कृत व्यवहारमातृका[341] के अनुसार 'श्रेणी' शिल्पकारो एव व्यापारियों का संघ है। 'पूग' एक ही ग्राम या बस्ती में रहने वाली विभिन्न जातियो एव विभिन्न वृतियाँ करने वालो के समुदाय को कहते है। कात्यायन[342] ने गण एंव पूग मे भेद किया है और उन्हे क्रम से कुलो का संघ तथा व्यापारियो का संघ कहा है। व्यवहारप्रकाश[343] ने गण एंव पूग को एकार्थक (पर्याय) माना है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि थोडे बहुत परिवर्तन के साथ पूर्वमध्यकाल में व्यवहार (न्याय पद्धति), न्यायालय के प्रकार इत्यादि उसी प्रकार चले आ रहे थे जैसे कि प्राचीन काल मे अपने निर्माण के काल में उनका स्वरूप निर्धारित किया गया था।

भुक्ति भोग:

भोग या भुक्ति के विषय में (समय निर्धारण एंव स्वामित्व प्राप्ति से संबंधित अन्य बातों के बारे मे) प्राचीनकाल से स्मृतिकारो एंव निबंधकारों में बड़ा मतभेद रहा है। भुक्ति सागना (साधिकार) या आगया दोनों प्रकार की हो सकती हैं। मिताक्षरा[244] के अनुसार आगम का अर्थ है उद्गम या निकास अर्थात अधिकार स्वामित्व का मूल, यथा-क्रय या दान प्राप्ति आदि। मनु[245], याज्ञवल्क्य[246] एंव नारद[247] ने भी इसी अर्थ में भोग का वर्णन किया है। व्यास[348] एंव पितामह[349] ने घोषित किया है कि उपयुक्त भोग के लिए पांच बातें आवश्यक हैं। इसके पीछे आगम (स्वत्व प्रमाण) होना चाहिए, दीर्घकाल से उसे चलते आना चाहिए, वह टूट न सका हो, उसका विरोध न हुआ हो तथा वह विरोधी की जानकारी में भी स्थिर रहा हो। नारद[350] का कहना है कि आगम के पक्ष में लेखप्रमाण एंव साक्षियों के रहने पर भी भोग का अभाव, विशेषत: अचल सम्पत्ति के विषय में, उसे उपयुक्त नहीं ठहराता। इसका तात्पर्य यह है कि बिना भोग के स्थानान्तर, भले ही वह लिखित हो तथा साक्षीयुक्त हो, संशयात्मक माना जाता है और आगम एंव भोग एक दूसरे को बल देते है।[251] कहने का तात्पर्य यह है कि भोग करने वाले व्यक्ति को उसकी वैधानिकता सिद्ध करनी चाहिए, उसे यह बताना चाहिए कि भोग का उद्गम उसके वंश में त्रुटिपूर्ण ढंग से नहीं हुआ।प्राचीनकाल में स्वामित्व के स्थानान्तर की मुख्य विधि भोग से संबंधित थी और भोग पर स्वामित्व की सिद्धि की लिए अधिक बल दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य स्मृति[252] की टीका मिताक्षरा ने इस स्थिति को और स्पष्ट किया है। दान एव क्रय के विषय मे स्थानान्तर करने वाले का स्वामित्व (भोग) समाप्त हो जाना चाहिए और दान पाने वाले तथा क्रय करने वाले के स्वामित्व (भोग) का उदय होना चाहिए, किन्तु यह तभी होना चाहिए जब कि दान लेने वाला तथा करने वाला सम्पत्ति को स्वीकार करले, अन्यथा नहीं।

मनु[353] एंव नारद[354] के दो श्लोक समान ही है और उनका तात्पर्य है- किसी वस्तु का स्वामी यदि किसी प्रकार का विरोध न उपस्थित करे और कोई उसकी वस्तु का भोग करता रहे एंव यह दस वर्षों तक चलता है तो उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। यदि स्वामी मूर्ख नहीं है और न नाबालिग है और उसकी सम्पत्ति पर उसकी दृष्टि के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति का भोग है तो अंत में वह भोग वाले ही हो जाती है। यही तथ्य गौतम[355] ने भी दोहराये हैं। शंख[256] ने भी वर्षों की अवधि दी है। उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि 20 या 10 वर्षों तक किसी व्यक्ति द्वारा वैधानिक ढंग से स्वामित्व स्थापित कर लेने पर वास्तविक स्वामी का अधिकार समाप्त हो जाता है और अवास्तविक व्यक्ति वास्तविक स्वामी बन बैठता है।

किन्तु कुछ स्मृतिकारों के मत से सौ वर्षों तक अवास्तविक स्वामित्व स्थापन से आगम प्राप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत स्वामित्व हानि के लिए अति दीर्घ अवधि अपेक्षित है।[357] नारद[358] ने कहा है कि भोग के लिए स्मार्तकाल (मानवस्मरण) के भीतर ही आगम अपेक्षित है, किन्तु स्मार्तकाल के बाहर तीन पीढियों तक का भोग पर्याप्त हैं, भले ही उसके लिए लेखप्रमाण या कोई अन्य आगम न हो। अस्मार्तकाल (मानव स्मरण से ऊपर) का भोग कात्यायन, व्यास आदि के अनुसार 60 वर्षों तक का माना जाता है । नारद[359] के मत से भोग के संबंध में एक पीढ़ी 20 वर्षों तक तथा वृहस्पति[360] के मत से 30 वर्षों तक चलती है । स्पष्ट है कि पूर्वकालीन स्मृतिकार-यथा-गौतम, मनु एंव याज्ञवल्क्य ने 20 वर्षों तक के अवैधानिक भोग को स्वामित्व के लिए पर्याप्त माना है, तथा उत्तरकालीन स्मृतियों के लेखकों यथा नारद, कात्यायान आदि ने 60 वर्षों के भोग को। अपरार्क[361] एंव कुल्लूकभट्ट[362] ने कहा है कि 20 वर्ष के

नाजायज भोग से स्वामित्व की हानि हो जाती है अर्थात् स्वत्व हानि हो जाती है।

मनु[363], नारद[364], वसिष्ठ[365] याज्ञवल्क्य[366], वृहस्पति[367], कात्यायन[368] ने दीर्घकालिक भोग के नियम के सबंध मे निम्नोक्त अपवाद दिये हैं; बंधक सम्पत्ति, सीमा, नाबलिक की सम्पत्ति, खुली प्रतिभूति, मुहरबंद प्रतिभूति, धरोहर स्त्रियां (दासिया) राजाका धन, श्रोत्रिय सम्पत्ति दूसरे के भोग से समाप्त नही हो जाती (बीस वर्ष या दस वर्ष तक जैसा कि मनु[369] एंव याज्ञवल्क्य[370] ने लिखा है।) मनु[371] ने व्यवस्था दी है कि बंधक एंव प्रतिभूत (धरोहर) समय के व्यवधान से समाप्त नहीं हो जाते, बहुत लम्बे काल के उपरान्त भी उन्हें लौटाया जा सकता है। पूर्वमध्यकाल तक आकर यह परिवर्तन दृष्टिगत होता है कि जहॉ मनु यह व्यवस्था करते हैं कि बंधक या प्रतिभूति, कितना भी समय व्यतीत क्यो न हो जाय समाप्त नहीं हो जाते वहीं कुल्लूकभट्ट इसके लिए 20 वर्ष का समय निर्धारित कहते हैं। उसके उपरान्त व्यक्ति स्वामित्व हीन हो जाता था।

साक्षीगण:

पाणिनी[372] ने इसका अर्थ किया है वह जिसने साक्षात देखा है। गौतम[373], कौटिल्य[374], एव नारद[375], का कथन है कि जब दो व्यक्ति विवाद करते हैं और जब संदेह या कोई विरोध उपस्थित होता है तब सत्य का उद्घाटन साक्षियों द्वारा ही संभव है मनु[376], सभापर्व[377], नारद[378], विष्णुधर्मसूत्र[379], कात्यायान[380] व्यवहारमातृका[381] एंव व्यवहारप्रकाश[382] के अनुसार वही साक्ष्य उचित है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया जाये जिसने या तो देखा हो या सुना हो, या विवाद या मामले में जिसने अनुभव प्राप्त किया हो। इसका तात्पर्य यह है कि साक्षी प्रमाण साक्षात किया हुआ या समक्ष वाला हो न कि सुना-सुनाया हो। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[383] कहते हैं कि जब कोई ऐसे व्यक्ति से, जिन से स्वयं सुना हो, कुछ सुनता है और आकर साक्ष्य देता है तो वह वैधानिक साक्षी (साक्ष्य) नहीं कहा जाता। किन्तु इसका अपवाद भी दिया है। मनु[384] एंव विष्णुधर्मसूत्र[385] के अनुसार यदि नियुक्ति साक्षी मर जाय या विदेश चला जाय तो उसने जो कुछ कहा हो उससे सुनने वाला साक्ष्य दे सकता है।

साक्ष्य देने वालो की विशेषताओं का उल्लेख बहुत से ग्रंथों में हुआ है। जैसे- गौतम[386], कौटिल्य[387], मनु[388], वसिष्ठ[389], शंखलिखित[390]

याज्ञवल्क्य[391] नारद[392], विष्णुधर्मसूत्र[393], कात्यायन[394], स्मृतिचन्द्रिका[395] व्यवहारप्रकाश[396]। प्रमुख विशेषताए इस प्रकार है कुलीनता, वशपरम्परा से देशवासी होना, सतानयुक्त गृहस्थ होना, धनी होना, चरित्रवान होना, विश्वासपात्रता, धर्मज्ञता, लोभहीनता तथा दोनो दलो द्वारा स्वीकार किया जाना। कुछ स्मृतिग्रंथों यथा- कौटिल्य[397], मनु[398], कात्यायन[399] वसिष्ठ[400] ने व्यवस्था दी है कि सामान्यत साक्षी को पक्ष के वर्ण या जाति को होना चाहिए, स्त्रियों के विवाद मे स्त्रियों को ही साक्ष्य (गवाही) देनी चाहिए, अन्त्यजों के विवाद में अन्त्यजों को साक्ष्य देना चाहिए, हीन जाति वालों को उच्च जाति के लोगों या ब्राह्मणों को साक्षी बनाकर अपने मुकदमे की सिद्धि का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। हॉ जब ब्राह्मण किसी आगम में साक्षी रहा हो तो बात दूसरी है) किन्तु बहुधा सभी स्मृतियों ने (यहॉ तक कि गौतम एंव मनु ने भी) कहा है और विकल्प बताया है कि सभी जाति के लोग (यहॉ तक कि शूद्र भी) सभी के लिए साक्षी हो सकते हैं।

साक्ष्य देने में अयोग्य ठहराये गये लोगों की सूचियाँ निम्न ग्रंथों में पायी जाती हैं: कौटिल्य[401], मनु[402], उद्योगपर्व[403], याज्ञवल्क्य[404], नारद[405], विष्णुधर्मसूत्र[406] बृहस्पति[407], कात्यायन[408]। मनु[409] ने इस विषय मे तर्क उपस्थित किया है कि मौखिक साक्ष्य क्यो कर झूठे ठहराये जा सकते हैं, लोभ, विमोह, भय, आनन्देच्छा, क्रोध, मित्रता, अबोधता एंव अल्पवयस्कता से गवाही झूठी पड़ सकती है। कौटिल्य[410], मनु[411], विष्णुधर्मसूत्र[412] तथा अन्य स्मृतिकारों ने लिखा है कि राजा साक्ष्य का कार्य नहीं कर सकता। संभवत: उस मामले को छोड़कर जिसमें उसके समुख बातें हुई हो। गौतम[413], कौटिल्य[414], मनु[415] याज्ञवल्क्य[416], नारद[417], विष्णुधर्मसूत्र[418], उशना[419] कात्यायन[420] ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अर्थ मूल या धनमूल (सिविल) विवादो में साक्षियों की कठिन जांच आवश्यक है किन्तु हिंसामूल (क्रिमिनल) विवादों मे साक्षी संबंधी अयोग्यता निर्धारण में शिथिलता प्रदर्शित करनी चाहिए। मनु[421] ने घोषित किया है कि लोभरहित केवल एक पुरूष साक्ष्य के योग्य ठहराता जा सकता है, किन्तु सच्चरित्र स्त्रियॉ नहीं क्योंकि उनकी बुद्धि अस्थिर होती है। किन्तु कुछ परिस्थितियों यथा- ग्रह के भीतर या जंगल में हुए हत्या के मामले में स्त्री या अल्पवयस्क या अति बूढ़ा या शिष्य या सम्बन्धी, दास या किराये का नौकर भी योग्य साक्षी सिद्ध हो सकते हैं।ऐसा ही कथन कात्यायन[422] ने

भी प्रस्तुत किया है। नारद[423] के अनुसार, यद्यपि साहस के मामलो मे साक्षी संबंधी ढीले हो जाते हैं तथापि अल्पव्यस्क स्त्री, एक ही व्यक्ति वंचक, सबंधी तथा शत्रु की साहस के विवादों मे साक्षी नही बनना चाहिए, क्योंकि अल्पवयस्क अबोधता के कारण, स्त्री असत्य भाषण के स्वभाव के कारण वंचक बुरे कार्य में संलग्न रहने के कारण, संबधी स्नेह के कारण तथा शत्रु प्रतिशोध लेने के कारण झूठ का सहारा ले सकते है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि लिखते है कि जब वादी एंव प्रतिवादी दोनों पुरूष हो तो स्त्रियां साक्षी के उपयुक्त नही होती, किन्तु जहाँ विवाद किसी पुरूष एव स्त्री में अथवा केवल स्त्रियों के बीच मे होता हो तो स्त्री योग्य साक्षी होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहॉ मनु ने स्त्रियों को अस्थिर चंचल इत्यादि बताते हुए उन्हे किसी प्रकार के साक्ष्य के लिए अयोग्य ठहराया था वहीं उसपर टीका करते हुए मेधातिथि स्त्रियों को सम्मानीय दृष्टि से देखते है एंव कहते हैं कि यदि विवाद स्त्री एंव पुरूष के मध्य हो एंव स्त्री एंव स्त्री के मध्य मे हो तो स्त्री योग्य साक्षी होती है संभवत: यह समय के साथ विचारधारा में बदलाव का संकेत था।

मनु[424] मे ऐसा आया है कि ब्राह्मण साक्षी को यह कहकर कि यदि तुम असत्य कहोगे तो तुम्हारी सच्चाई नष्ट हो जायेगी, शपथ दिलानी चाहिए, क्षत्रिय साक्षी से कहना चाहिए कि तुम्हारे वाहन एंव आयुध फलहीन होगें, यदि तुम असत्य बोलोगे, तुम्हारे असत्य कथन से तुम्हारे पशु, अन्न, सोना आदि नष्ट हो जायेगें ऐसा वैश्य से कहना चाहिए तथा सभी पापों की गठरी तुम्हारे सिर पर होगी ऐसा शूद्रों से कहना चाहिए। ऐसी ही व्याख्या मिताक्षरा[425] एंव मनु के टीकाकारो ने भी की है। मनु[426], याज्ञवल्क्य[427] एंव कात्यायन[428] ने कहा है कि यदि कोई जानकार साक्षी गवाही नहीं करता है (मौन रह जाता है) और किसी रोग से पीड़ित या विपत्तिग्रस्त नहीं है तो उसे विवाद का धन दण्ड रूप में तथा उसका दसांश राजा को देना पडता है। एक अन्य स्थल पर मनु का कहना है कि यदि साक्षी गण लोभ, भ्रामक विचार, भय, मित्रता, काम-पिपासा, क्रोध, अज्ञान एंव अल्पवयस्कता के वशीभूत होकर असत्य साक्ष्य देते हैं तो उन्हें दण्डित होना पड़ता है। बृहस्पति[430], याज्ञवल्क्य[431] एंव कात्यायन[432] ने घूसखोर न्यायधीश, असत्य बोलने वाले साक्षियों एंव ब्राह्मण हत्यारें को एक समान ही पापी माना है। मिताक्षरा[433] ने लिखा

है कि मनु[434] का यह कथन कि अपराधी ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड तथा शारीरिक दण्ड नही देना चाहिए, केवल प्रथम बार किये गये अपराधो के विषय मे है, न कि अभ्यस्त अपराधी ब्राह्मणो के लिए। मनु[435] ने कहा है कि जब साक्ष्य देने के सात दिन के भीतर किसी साक्षी को रोग पकड लेता है, या उसके घर में आग लग जाती है या उसके किसी संबंधी की मृत्यु हो जाती है, तो उसे कूट साक्षी समझना चाहिए, उसे विवाद की सम्पत्ति के बराबर अर्थदण्ड देना पडता है तथा राजा को भी दण्ड स्वरूप कुछ धन देना पडता है। कात्यायन[436] एंव स्मृतिचन्द्रिका[437] में भी ऐसा विवरण प्राप्त है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में साक्षियों से संबंधित कार्यविधियाँ लगभग यथावत चल रही थी।

दिव्य:

ऋग्वेद[438], अर्थववेद[439], छान्दोम्योपनिषद[440], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[442] ने कहा है कि दिव्य प्रमाण से एव साक्षियों से प्रश्न करके राजा को दण्ड देना चाहिए। शंख लिखित ने चार प्रकार के दिव्यों के नाम लिये है- तुला, विष, जल एंव जलता हुआ लौह। मनु[443] ने केवल दो के नाम लिये हैं: - हाथ से अग्नि उठाना (अर्थात जलता हुआ लौह पकडना) तथा जल में कूदना। किन्तु नारद[444] के अनुसार मनु ने दिव्य के पांच प्रकार दिये हैं। याज्ञवल्क्य[445], विष्णुधर्मसूत्र[446] एंव नारद[447] ने दिव्य के पांच प्रकार दिये हैं- तुला अग्नि, जल, विष, कोष (पवित्र किया हुआ जल) वृहस्पति एंव पितामह ने नौ प्रकार के दिव्य दिये हैं[448]- तप्तभाष[449] एंव तंदुल[450]।

मानुष प्रमाण द्वारा सिद्ध न होने पर विवाद को निर्णय तक पहुँचाने में दिव्य सहायक होते हैं। व्यवहारमयूख[451] मे दिव्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है- मानुष प्रमाण से निश्चित न होने पर जो विवाद को तय करता है, उसे दिव्य कहते है; तथा दिव्यतत्व[452] में दिव्य की परिभाषा इस प्रकार है; जो मनुष्य प्रमाण से न हो या न सिद्ध किया जा सके उसे जो सिद्ध करता है, वह दिव्य कहलाता है। मनु की व्याख्या में मेधातिथि[453] ने सत्य के उदघाटन में दिव्य के आश्रय लेने के प्रश्न पर विचार किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में भी न्याय के लिए दिव्यों का सहारा लिया जाता था।

याज्ञवल्क्य[454], नारद[455], बृहस्पति[456], स्मृतिचन्द्रिका[457], कात्यायन[458], ने दिव्यों के विषय में यह सामान्य नियम दिया है कि इनका

प्रयोग तभी होना चाहिए जब अन्य मनुष्य प्रमाण (यथा साक्षी-गुण, लेख-प्रमाण, भोग) या परिस्थिति जन्य प्रमाण उपस्थिति न हो। कात्यायन[459] का कथन है कि यदि एक दल मानुष प्रमाण मे विश्वास करे और दूसरा दिव्य प्रमाण पर, तो राजा (न्यायाधीश) को मानुष प्रमाण स्वीकार करना चाहिए।यदि मानुष प्रमाण साध्य के किसी एक ही अंश को सिद्ध करे तो उसे ही मानना चाहिए न कि दिव्य प्रमाण का सहारा लेना चाहिए, भले ही दिव्य सम्पूर्ण साध्य से सबंधित हो। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए मिताक्षरा[460] एंव व्यवहारमातृका[461] का भी यही विचार है। नारद[462] का कथन है कि जब लेन-देन जगल मे, एकान्त मे, रात्रि में, गृह के भीतर हो तब दिव्य-प्रमाण ग्रहण करना चाहिए। यही नहीं, प्रत्युत साहस (हिसा कर्म) के वादों में, या जब निक्षेप (धरोहर) से इंकार हो तब भी ऐसा हो सकता है। कात्यायन[663] ने एकान्त मे (विष बदलकर) किये गये साहस के वादों में दिव्य ग्रहण की छूट दी है किन्तु यह तभी जब कि मानुष प्रमाण उपस्थिति न हो। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर[664], मिताक्षरा एंव देवणभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका[665] मे कात्यायन से उदधृत अपवाद भी दिये हैं। साहस, आक्रमण, मानहानि तथा अन्य शक्ति प्रयोग के वादों में मानुष-प्रमाण अथवा दिव्य प्रमाण का आश्रय लिया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकालीन समाज में सत्य परीक्षण के साधनों में दिव्य को भी एक साक्ष्य का स्थान प्राप्त था।

सिद्धि (निर्णय):

भोग, साक्ष्य एव दिव्य के उपरान्त व्यवहार का अंतिम (चौथा स्तर) याज्ञवल्क्य[466] के अनुसार सिद्धि अथवा निर्णय है। व्यवहारप्रकाश[467] के अनुसार यदि प्रत्याकलित को व्यवहार का पाद कहा जाये तो निर्णय किसी विवाद का पाद नहीं है, प्रत्युत उसका फल है। स्मृतिचंद्रिका[468] एंव पराशरमाधवीय[469] के अनुसार प्रमाण की उपस्थिति के उपरान्त राजा (या मुख्य न्यायधीश) सभ्यों की सहायता से वादी की जय या पराजय का निर्णय करता है। शुक्र[470] के मत से निर्णय के आधार के छह स्त्रोत हैं तीन प्रमाण (भोग, लेख प्रमाण एंव साक्षी) तर्क सिद्ध, अनुमान (हेतु), देश परम्पराएं (सदाचार, शपथ एंव दिव्य) राजा का अनुशासन एंव वादियों की स्वीकारोक्ति (वादी से प्रतिपत्ति)। ऐसा ही विवरण व्यवहारनिर्णय[471] एंव व्यवहारप्रकाश[472] में भी प्राप्त होता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि किन मामलो में निर्णयों का पुनरावलोकन किया जाता था। सामान्य नियम मनु[473] द्वारा किये गये हैं- "जब कोई व्यवहार सबधी विधि सम्पन्न हो चुकी हो (तीरति) या वहाँ तक जा चुकी हो जबकि असफल पक्ष से दण्ड लिया जा सकता है, तब बुद्धिमान राजा उसे काट नही सकता।'' तीरति एव अनुशिष्ट शब्दों की व्याख्या कई प्रकारों से की गई है[474]। तीरति शब्द हुत प्राचीन है और अशोक के दिल्ली स्तम्भ लेख 4[475] में भी आया है। यथा- तिलित दण्डानाम्। इसका अर्थ है 'ऐसे पुरूष जो बंदीगृह में बद है।'' मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[476] एव कुल्लूकभट्ट[474] ने इसका अर्थ क्रम से इस प्रकार दिया है- "शास्त्रीय नियमों के अनुसार निर्णित तथा असफल पक्ष के दण्ड लेने के रूप में। कात्यायन[478] ने इसका अर्थ भिन्न रूप से दिया है- 'जब कोई पक्ष सभ्यों द्वारा बिना साक्षियों पर विचार किये सत्य या असत्य रूप में निर्णित होता है तो उसे तीरित कहा जाता है और जो साक्षियों के आधार पर निर्णीत होता है उसे अनुशिष्ट कहा जाता है।' नारद[479] ने इन शब्दों का प्रयोगकिया है जिन्हे मिताक्षरा[480] ने क्रम से इस प्रकार समझाया है- 'जब विवाद उपलब्ध प्रमाण एंव साक्षियों से निर्णीत होता है किन्तु दण्ड उगाहने का निर्णय नहीं हुआ रहता तो यह तीरित है और जब असफल पक्ष से दण्ड उगाह लेने तक का निर्णय होता है तो वह अनुशिष्ट कहलाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में तीरित एंव अनुशिष्ट मामले हुआ करते थे। यहाँ पर एक परिवर्तन दृष्टिगत होता है जहाँ मनु तीरित का अर्थ बताते है कि जब कोई व्यवहार विधि सम्पन्न हो चुकी हो, वहीं इस पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि तीरित का तात्पर्य शास्त्रीय नियम के अनुसार निर्णय हो चुका हो। अत. स्पष्ट है कि अब शास्त्रीय नियमों पर जोर दिया जाने लगा था। अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था के उपयोगो के विषय में स्मृतिकार सर्तक थे, किन्तु उन्होने किसी दण्ड शास्त्र का निर्माण नहीं किया। जिसकी हानि होती है वह प्रतिशोध लेने की प्रबल इच्छा रखता है और अन्य लोग भी उसके साथ सहानुभूमि रखते है। सभ्य देशों के लोग कानून को अपने हाथ में नहीं लेते, अत: राजा का कर्त्तव्य होता है कि वह यथा सम्भव अपराधी को उचित दण्ड देकर उन्हे हानि के बदले में सतोष दे। सभी प्राचीन समाजों

मे प्रतिशोध की भावना पायी गई है और प्रतिशोध (दण्ड उद्देश्य) का कानून भी पाया जाता है, यथा ऑख के बदले ऑख लेना एंव दॉत के बदले दॉत लेना। मनु[481], नारद[482], याज्ञवल्क्य[483], विष्णुधर्मसूत्र[484] ने व्यवस्था दी है कि यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ब्राह्मण के किसी अग को चोट पहुँचाता है तो चोट पहुचाने वाला अंग काट लेना चाहिए।

गौतम[485] के अनुसार दण्ड दम धातु से निकला है। जिसका अर्थ होता है रोकना या निवारण करना। इस प्रकार दण्ड का एक उददेश्य यह था कि वैसा अपराध पुन न होने पाये। अपराधी को दण्ड देकर अन्य लोगों के समक्ष उदाहरण रखा जाता था कि वे वैसी हिसा अथवा अपराध करने से हिचकें। शातिपर्व[486] में आया है कि राजदण्ड, यम-यातना एंव जनमत के भय से लोग पाप नहीं करते। दण्ड का एक उद्देश्य पहले से ही प्रतिकार करना, अर्थात् यदि अपराधी को बंदी बना लिया जाता है तो वह पुन. अपराध करने से रोक लिया जाता है, किन्तु यदि उसे प्राणदण्ड मिलता है तो उसके अपराधों से छुटकारा मिल जाता है। दण्ड का एक अन्य उद्देश्य था सुधार या अपराधियो से पारित्राण पाना। दण्ड एक प्रकार की पाप-निष्कृति भी है जो पापकर्त्ता को पापकर्म न करने की प्रेरणा देती है और उसका चरित्र सुधर जाता है। मनु[487] एंव वसिष्ठ[488] ने लिखा है कि जो लोग पाप करने के कारण राजा से दण्ड पाते हैं वे अच्छे कर्म करने वालो के समान पवित्र होकर स्वर्ग जाते हैं। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[489] ने लिखा है कि यह श्लोक केवल शारीरिक दण्ड के लिए ही प्रयोजित है न कि धन-संबधी दण्ड के लिए। आरम्भिक सूत्रों एंव स्मृतियों से प्रकट होता है कि प्राचीन हिंसा-संबंधी व्यवहार (कानून) अत्यन्त कठोर एवं निर्मम था। किन्तु याज्ञवल्क्य, नारद एवं बृहस्पति के कालों से यह अपेक्षाकृत कम कठोर होता चला आया है और बहुधा बहुत से अपराधों में आर्थिक दण्ड मात्र दिया जाने लगा। मेधातिथि के कथन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है जब वे कहते हैं कि शारीरिक दण्ड प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही स्वर्ग जायेगा न कि आर्थिक दण्ड प्राप्त करने वाला। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में आर्थिक दण्ड अधिक प्रचलित हो चुका था। दण्ड अपेक्षाकृत कम कठोर होता जा रहा था।

मनु[490], याज्ञवल्क्य[491] ने दण्ड की चार विधियाँ बतायी हैं - मधुर उपदेश, कडी झिडकी, शारीरिक दण्ड एंव अर्थ दण्ड। गौतम[492], वसिष्ठ[493], मनु[494], याँज्ञवल्क्य[495], वृद्धहारीत[496], बृहत्पराशर[497] एव कौटिल्य[498], ने व्यवस्था दी है कि दण्ड देना अपराधी की मनोवृत्ति, अपराध-स्वरूप, काल एंव स्थान, शक्ति, अवस्था, आचार (कर्त्तव्य), विद्वता एंव धन स्थिति पर निर्भर रहता था। (अर्थात् इन बातो पर विचार करके दण्ड निर्धारण होता था।) और यह भी देखा जाता था कि अपराध की पुनरावृत्ति तो नहीं हुई है। इसका अर्थ यह है कि धर्मशास्त्र की दृष्टि में एक ही प्रकार का दण्ड एक ही प्रकार के अपराध मे सबके लिए समान नहीं था। प्रत्युत देखा जाता था कि अपराधी के पिछले कार्य कैसे हैं, उसकी विशेषतायें क्या हैं, उसकी शारीरिक, एंव मानसिक स्थिति क्या है। धर्मशास्त्र सदैव पापमार्जन की परिस्थितियों पर ध्यान देता था। दण्ड विवेक[499] ने (एक उद्वरण द्वारा) दण्ड देने के समय विचार करने के लिए दो बाते कहीं हैं- अपराधी की जाति (मनु[500], चोरी में), विवाद का मूल्य, सीमा या यात्रा (मनु[501]) अपराध के अनुरूप उपयोग या उपयोगिता (मनु[502]), वह व्यक्ति जिसके प्रति अपराध हुआ हो (मूर्ति, मंदिर, राजा या ब्राहमण) अवस्था (दण्ड देने की) योग्यता, गुण, काल, स्थान, अपराध स्वरूप (वह कितनी बार हुआ है)।

अर्थ दण्ड नियत या अनियत (परिवर्तनशील) होता है। वह काकिंणी से लेकर सम्पूर्ण धन के जब्त करने तक हो सकता है। नियत अर्थदण्ड या जुरमाना तीन प्रकार का था प्रथम साहस, मध्यम साहस एंव उत्तम साहस (सबसे अधिक) मनु[503] एंव विष्णुधर्मसूत्र[504] के मत से वे क्रमश: ये हैं- 250,500 एंव 1000 पण। याज्ञवल्क्य[505] ने उनका क्रम इस प्रकार दिया है- 270,540 एंव 1080 पण। मिताक्षरा[506] का कथन है कि मनु की कम संख्याएँ बिना किसी निश्चित उद्देश्य के किये गये अपराधों के लिए है । नारद के अनुसार ये 100, 500 एंव 1000 पण होना चाहिए। (अंतिम में मृत्यु दण्ड, सम्पूर्ण सम्पत्ति की जब्ती, देश निष्कासन, दाग से जलाना अथवा अगविच्छेदन तक हो सकता है।) गौतम[508] एंव मनु[509] के अनुसार चोरी के मामलों में वैश्य, क्षत्रिय एंव ब्राहमण को शूद्र की अपेक्षा क्रम से दूना, चौगुना तथा अठगुना दण्ड देना पड़ता था। क्योंकि उन्हें अपेक्षा कृत अपराध की गुरूता अधिक ज्ञात रहती है। इसे

कात्यायन[510] एंव व्यास[511] ने सभी अपराधों मे सामान्य नियम के रूप मे माना है। मानहानि के मामलो मे दण्ड के लिए उच्चतर जातियो के साथ पक्षपात पाया जाता है। गौतम[512], मनु[513], नारद[514], याज्ञवल्क्य[515], का मत है कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जब ब्राह्मण की अवमानना (मानहानि) करते है तो उन्हे क्रम से 100,150 पणों का दण्ड तथा शारीरिक दण्ड (जीभ काट लेना) मिलता है। जब ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र की मानहानि करता है तो उसे कम से 50,35 या 12 पण देने पडते है। (गौतम[516] के अनुसार अंतिम के लिए कुछ भी नही देना पडता)। व्यभिचार एव बलात्कार के मामलें मे अपराधी की जाति एंव तत्संबंधी नारी पर ध्यान दिया था। याज्ञवल्क्य[517] के अनुसार अपनी जाति की नारी के साथ व्यभिचार करने पर सबसे अधिक दण्ड की व्यवस्था की गई है, किन्तु यदिअपराधी ऊँची जाति का है तो दण्ड मध्यम होता है किन्तु यदि पुरूष नीच जाति का हो तो मृत्युदण्ड होता है और स्त्री के कान काट लिए जाते हैं। गौतम[518] धर्मसूत्र, कौटिल्य[519], मनु[520], याज्ञवल्क्य[521], नारद[522], विष्णुधर्मसूत्र[523], वृद्धहारीत[524], ने व्यवस्था दी है कि किसी भी अपराध में ब्राहमण को मृत्युदण्ड या शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए वाला अपराध करें तो उसका सिर मुड़ा देना चाहिए, उसे देश निकाला देना चाहिए। उसके मस्तक पर उसके द्वारा किये गये अपराधचिन्ह का दाग लगाकर गधे पर चढाकर उसे घुमाना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका[525], एंव व्यवहारप्रकाश[526] ने व्यवस्था देते हुए कहा है कि ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए, उस अपराधी को किसी एकान्त स्थान में बंद रखना चाहिए और उसे केवल साधारण जीविका का साधन प्रदान करना चाहिए, या राजा उसे एक मास या एक पक्ष तक चरवाहे का कार्य करने को आज्ञापित करे या उसे ऐसा कार्य ले जो भद्र ब्राह्मण के लिए योग्य न हो।

मनु[527] ने शुद्ध मृत्यु दण्ड उन लोगों के लिए प्रयुक्त माना है जो चोरों की जीविका चलाकर उनकी सहायता करते थे या उन्हें सेंध लगाने के यंत्र देते थे या उन्हें छिपाकर रखते थे। यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ऊँची जाति की स्त्री के साथ उसकी सहमति से या असहमति से व्यभिचार करता है या किसी युवती को ले भागता है तो उसे मृत्युदण्ड मिलता था।[528] मनु[529], नारद[530], विष्णुधर्मसूत्र[531], ने व्यवस्था दी है कि यदि

कोई शूद्र ब्राह्मणो को धर्म की शिक्षा देने की अर्हमन्यता प्रदर्शित करे तो उसके मुँह एंव कानों में खौलता हुआ तेल-डाल देना चाहिए। मनु[532], नारद[533] याज्ञवल्क्यस्मृति[534] ने व्यवस्था दी है कि चोरों, जेबकतरो एव गॉठ कतरों के विषय में हाथो, पावों एव अगुलियो को काट कर दण्ड देना चाहिए। गौतम[535], बौधायन[536], नारद[537], मनु[538], मत्स्यपुराण[539], विष्णुधर्मसूत्र[540], एव दण्डविवेक[541] के मत से जब प्रायश्चित नहीं किया जाता था, या जानबूझकर अपराध किया जाता था तब दाग लगाया जाता था।

कौटिल्य[542] ने जादू-टोने द्वारा धर्म विरूद्ध प्रेम स्थापन के मामले का पता चलाने के लिए गुप्तचरों के प्रयोग की व्यवस्था दी है। उनका कहना है कि ऐसा जादू-टोना करने वाले को देश-निष्कासन का दण्ड देना चाहिए और यही व्यवहार उनके साथ भी होना चाहिए जो इस क्रिया द्वारा अन्य लोगों को क्लेश या चोट पहुँचाते है। मनुस्मृति[543] मत्स्यपुराण[544] ने मंत्रबल से मारने वालों, जादू एंव भूतप्रेत करने वालों पर केवल 200 पण का हल्का दण्ड लगाया है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[545] एंव कुल्लूकभट्ट[546] का कहना है कि यदि जादू सफल हो जाये तो दण्ड मृत्युदण्ड तक पहुंच सकता है। इस प्रकार यंहा पर मनुस्मृति के टीकाकारों के विचार में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। जादू-टोना इत्यादि के लिए जहॉ मनुस्मृति में अर्थदण्ड का प्रावधान किया गया था वहीं संभवत: पूर्वमध्यकाल में इसका प्रचलन बढ गया होगा जिससे निपटने के लिए टीकाकारों ने कठोर दण्ड यथा मृत्यु का प्रावधान किया है।

संविद् व्यक्तिक्रम एंव अन्य व्यवहारपद:

इसे समय संविदभ्युपगम, समझौता अथवा नियमपत्रों तथा अन्य परम्पराओं के व्यतिक्रम के रूप में समझा जा सकता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[547] में 'समय' शब्द रूढि या अंगीकृत सिद्धान्त के अर्थ में आया है। याज्ञवल्क्य[548] में यह शब्द समझौते के अर्थ में लिया गया है। नारद[549] ने इसके लिए 'समयस्यानपाकर्म' का प्रयोग किया है। मनु[550] ने संविदभ्युपगम शब्द का प्रयोग किया है। मनु[551] के अनुसार अब मैं उन नियमों की व्यवस्था दूँगा जो समयों (परम्पराओं या रूढ़ियों) के व्यक्तिक्रम कर्ताओं के लिए प्रयुक्त होते हैं। जो किसी ग्राम के या जिले के निवासियों या व्यापारियों के किसी दल या किसी अन्य प्रकार के लोगों के साथ लेकर संविदा में आता है, और (आगे चलकर) इसका लोभवश अतिक्रमण करता

है, वह राजा द्वारा देश-निष्कासन का दण्ड पाता है। मेधातिथि[552] ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, इसका अर्थ है, बहुत से लोगों द्वारा किसी विशिष्ट नियम या रूढि या परम्परा का अगीकार करना। इससे संकेत मिलता है कि वह नियम किसी दल (सघ या गण) द्वारा अगीकृत स्थानीय या जातीय प्रचलन से सबंधित होना चाहिए जो दल के सभी सदस्यो को मान्य हो या उन्हें एक सूत्र में बॉध रखता हो । मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[553] पुन: कहते है कि यदि किसी ग्राम के वासी यह निर्णय करें कि यदि पडोसी ग्राम के लोग खेतों या चरागाहों में अपने पशु लाये या नहरों को अपनी ओर घुमाले तो वे उनको रोकेगे तथा ऐसा करने पर यदि मारपीट हो जाये या राजा के यहॉ मुकदमा चलना आरम्भ हो जाये तो सभी एकमत रहेगें तथा उस व्यक्ति को दण्ड देगें जो दूसरे ग्राम के मुखिया की ओर मिल जाये तथा विपक्षी की सहायता करें।

नारद[554] के मत से नास्तिको, नैगमों आदि द्वारा निश्चित नियम (परम्पराएँ) समय के उदाहरण है। याज्ञवल्क्य[555] एंव नारद[556] का कथन है कि राजा द्वारा पुरों, जनपदो के संघों, नैगमों, नास्तिकों, श्रेणियों, पूगों, गणों के नियमो (परम्पराओ या रूढ़ियो) की रक्षा होनी चाहिए और उन्हें कार्यान्वित करना चाहिए। धर्मशास्त्रकार इतने उदार थे कि उन्होने पाखण्डियों के समयो के पालन के लिए भी राजा को उद्वेलित किया था। नारद[557], एंव मेधातिथि[558] के अनुसार केवल इस बात का ध्यान रखा गया था कि समयों का पालन राज्य या राजधानी के विरोध में न जाये और क्रांति न उत्पन्न होने पाये और न अनैतिकता प्रदर्शित हो सके।

इस प्रकार यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में भी समयों की परम्परा बनी हुई थी एंव सभी गण, श्रेणी या दल के लोग उसके नियमों का सम्मान करते थे इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस दल के सदस्य को इसके नियम को तोडने पर दण्ड देने का विधान किया गया था।

दायभाग(सम्पत्ति विभाजन):

सर्वप्रथम तैत्रिरीय संहिता में दाय शब्द पैत्रक सम्पत्ति या केवल सम्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तैत्रिरीय संहिता[559] में नाभानेदिष्ठ की गाथा में आया है कि मनु ने अपना दाय अपने पुत्रों में बांट दिया। दायभाग नामक व्यवहारपद में दो मुख्य विषय-विभाजन एंव

दाय सम्मिलित किये जाते है लगभग एक सहस्त्र वर्षो से दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे है, जो मिताक्षरा एव दायभाग सज्ञाओ से द्योतित होते रहे है क्योकि दाय का विश्लेषण करने वाले ये ही मुख्य ग्रंथ है। उत्तरभारत मे मिताक्षरा एव बगाल मे दायभाग का प्राबल्य रहा है।

साहित्य में दाय एंव विभाग शब्द कई प्रकार से द्योतित किये गये है। नारद[560] ने दायभाग व्यवहारपद को ऐसा माना है जिसमें पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते हैं। स्मृतिचन्द्रिका[561], एंव व्यवहारमयूख[562], के मत से दाय वह धन है जो माता या पिता से किसी पुरूष को प्राप्त होता है। मनु[564] एंव नारद ने माता के धन का विभाजन दायभाग के अर्न्तगत रखा है। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य[565] उपक्रमणिका में कहा है कि दाय का अर्थ है वह धन जो उनके स्वामी के संबंध से किसी अन्य की सम्पत्ति (धन) हो जाता है। व्यवहारमयूख[566] ने दाय को उस धन की संज्ञा दी है जो विभाजित होता है और जो उन लोगों को नहीं प्राप्त होता जो फिर से एकसाथ हो जाते है।

दाय का विवेचन करने में स्वत्व का विवरण पहले देना आवश्यक प्रतीत होता है। स्वत्व (स्वामित्व) लोकसिद्ध है या शास्त्रों के वचनों पर आधारित है, इसके विषय में मिताक्षरा का कथन है– मनु[567] एंव विष्णुधर्मसूत्र[568] के मत से जब ब्राह्मण गर्हित कर्मों से धन प्राप्त करते हैं (यथा किसी कुपात्र या पतित व्यक्ति से दान ग्रहण करना, या ऐसी क्रयवृत्ति से जो उनकी जाति के लिए निन्द्य है, धन ग्रहण करना) तो वे उस धन के दान से, पूत मंत्रों (गायत्री आदि) के जप से तथा तपस्या आदि से पाप से छुटकारा पा सकते हैं। यदि स्वत्व का उद्गम शास्त्र द्वारा ही हो, तो शास्त्रनिन्द्य साधनों से प्राप्त किया हुआ धन व्यक्ति की धन (सम्पत्ति) नहीं कहलायेगा और न उसके पुत्र उसका विभाजन कर सकते हैं क्योंकि उसे सम्पत्ति की संज्ञा प्राप्त नहीं है। यदि स्वत्व लौकिक है तो उस दिशा में गर्हित साधनों से उत्पन्न धन व्यक्ति की सम्पत्ति की संज्ञा पाता है और उस व्यक्ति के पुत्र अपराधी नहीं होते (भले ही प्राप्तिकर्ता को प्रायश्चित करना पड़े) और सम्पत्ति (दाय) का विभाजन कर सकते हैं।

इसके साथ ही एक प्रश्न यह भी उठ खड़ा होता है कि क्या स्वामित्व (स्वत्व) विभाजन से उद्भूत होता है या विभाजन किसी व्यक्ति

के (जन्म द्वारा) धन से उत्पन्न होता है? जो लोग जन्म से पुत्रों का स्वत्व नही मानते हैं वे इस प्रकार तर्क देते है।

यदि पुत्र पैत्रृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार रखते है तो पुत्रोत्पत्ति पर पिता बिना पुत्र की आज्ञा से धार्मिक कृत्य (वैदिक अग्नियो में) नहीं कर सकता, क्योंकि इस कृत्यों से पैत्रक सम्पत्ति का व्यय होता है। कुछ स्मृतियो यथा देवल[569], दीपकालिका[570], विवादरत्नाकर[571] एंव पराशरमाधवीय[572] ने पिता के रहते पुत्रो के स्वत्व को नहीं माना है। प्राचीन स्मृतिकारों जैसे मनु[573] एंव नारद[574] ने व्यवस्था दी है कि पिता के स्वर्गलोक जाने के उपरान्त ही पुत्रों को सम्पत्ति का विभाजन करना चाहिए। (क्योंकि मनु का कथन है कि माता पिता के रहते पुत्र स्वामी नही होते) इससे प्रकट होता है कि पुत्रो को जन्म से अधिकार नहीं प्राप्त होता है।

जबकि जन्म से ही स्वामित्व स्थापित करने वाले स्मृतिकारों में याज्ञवल्क्य[575], बृहस्पति[576], कात्यायन[577], एंव विष्णु[578], प्रमुख हैं, जो स्पष्ट रूप से घोषित करते है कि पितामाह की सम्पत्ति में पिता एंव पुत्र के स्वामित्व संबंधी अधिकार एक समान हैं (अतः पुत्र स्वत्व जन्म से ही है)। सम्पत्ति पर सीमाओं की कई कोटियाँ हैं जैसे पिता का अधिकार, विधवा का अधिकार आदि। व्यक्ति जो कमाता है, वह उसका है और वह उसकी अपनी सम्पत्ति है। किन्तु मनु[579] एंव नारद[580] के मत से तीन प्रकार के व्यक्ति सम्पत्तिहीन कहे गये है; पत्नी, पुत्र एंव दास, वे जो कुछ कमाते हैं वह पति या पिता या स्वामी का होता है। मिताक्षरा[581] ने मनु[582] की व्याख्या की तुलना में कहा है कि देवल[583], नारद[584], एंव मनु[585], ने जो यह कहा है कि पिता के रहते उसके हाथ की सम्पत्ति पर पुत्र का स्वत्व नहीं रहता उसका यही अर्थ लगाना लगाना चाहिए कि पुत्र पिता के रहते या उसकी अपनी अर्जित सम्पत्ति पर, स्वतन्त्र रूप से व्यय करने का अधिकार नहीं रखता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनु, नारद एंव देवल की स्मृतियों तथा उद्योत एंव धारेश्वर जैसे प्रमुख लेखकों ने उपरम-स्वत्ववाद का सिद्धान्त (अर्थात् मृत्यु के उपरान्त ही स्वामित्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त) घोषित किया है और याज्ञवल्क्य, विष्णु, वृहस्पति ने बहुत पहले ही जन्मस्वत्ववाद का सिद्धान्त अपना लिया था। विश्वरूप[585] जो याज्ञवल्क्यस्मृति

के टीकाकार है, 9वी शती के प्रथम चरण मे हुए थे, का कहना है कि स्वत्व जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[587] ने जन्म स्वत्ववाद की बात का समर्थन किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार की सम्पत्ति का विभाजन होना चाहिए। प्राचीन भारतीय व्यवहार (कानून) के अनुसार सम्पत्ति दो कोटियो मे बाटी गई है। (1) संयुक्त कुलसम्पत्ति तथा (2) पृथक्सम्पत्ति। मनु[588] एंव याज्ञवल्क्य[589] के अनुसार संयुक्त कुल सम्पत्ति या तो पैत्रृक होती है या पैत्रक सम्पत्ति की सहायता या बिना उसकी सहायता के संयुक्त रूप में अर्जित होती है या अलग-अलग अर्जित होने पर सयुक्त कर ली जाती है। पृथक्सम्पत्ति में स्वार्जित सम्पत्ति भी सन्निहित मानी जाती है। पृथक सम्पत्ति के विषय मे धारणा धीरे-धीरे मद गति से उदित हुई है। आरम्भ में किसी सदस्य द्वारा उपार्जित धन पूरे कुल की सम्पत्ति माना जाता था। मनु[590] की व्याख्या में शबर, मेधातिथि[591], दायभाग आदि ने लिखा है कि उपार्जनकर्ता (चाहे वह पुत्र हो या पत्नी) को स्वार्जित धन स्वतन्त्र रूप से व्यय करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि वह उस धन पर स्वामित्व रखता है। एक अन्य स्थल पर मनु[592] एंव विष्णु[593] का कथन है कि जो कुछ कोई (संयुक्त परिवार का सदस्य, कोई भाई आदि) अपने परिश्रम से (बिना कुल सम्पत्ति को हानि पहुँचाये) कमाता है, यदि वह न चाहे उसे अन्य को न दे क्योंकि वह प्राप्ति उसकी ही क्रियाशीलता द्वारा हुई है। मनु[554] ने विद्याधन के अतिरिक्त मित्र दान, विवाह दान, (औद्वाहिक) एंव मधुपर्क के समय के दान को किसी व्यक्ति की पृथक सम्पत्ति के रूप में ग्रहण किया है। याज्ञवल्क्य[595] ने व्यवस्था दी है कि जो कुछ कोई बिना संयुक्त सम्पत्ति की हानि के प्राप्त करता है, मित्रों से दान के रूप में या विवाह में भेंट के रूप मे जो कुछ पाता है, वह अन्य सहभागियों में विभाजित नहीं होता, इसी प्रकार जो नष्ट हुई पैत्रक सम्पत्ति (जो पिता अथवा भाइयों द्वारा पुन: प्राप्त नहीं की गई थी) फिर से (अपने उद्योग से) प्राप्त करता है, उसे भी विभाजन के समय अन्य लोग पाने के योग्य नहीं माने जाते और यही बात विद्याधन के विषय में भी हैं। यदि आपत्तियों के कारण कुल सम्पत्ति नष्ट हो गई है उसे किसी सदस्य ने अपने प्रयास से (बिना कुल सम्पत्ति के उपयोग के) ग्रहण किया हो तो उसके विषय में कुछ विशिष्ट व्यवस्थाएँ अवलोकनीय हैं।

मनु[596], विष्णु[597] एव कात्यायन[598] ने एक विशेष नियम यह दिया है कि यदि इस प्रकार नष्ट हुई सम्पत्ति को पिता अपने प्रयास से (बिना कुल सम्पत्ति का व्यय किये)पुनग्रहण करता है तो वह उसे सम्पूर्ण रूप से स्वार्जित जैसी रख लेगा।

मनु[599] एंव विष्णु[600] के अनुसार "वस्त्र पत्र (यान), अलंकार, पके भोजन, जल (कूप आदि), स्त्रियो एव प्रचार या मार्ग (रास्ता) का विभाजन नहीं होता। मिताक्षरा[601], अपरार्क एव व्यवहार प्रकाश[603] के अनुसार यदि वस्त्र बहुमूल्य एंव नये न हों, तो ऐसे वस्त्र हैं जिन्हे सदस्य लोग प्रतिदिन प्रयोग में लाते है यही बात यानो एव अलंकारो के विषय मे भी कही गई है। 'प्रचार' का तात्पर्य या तो घर वाटिका आदि की ओर जाने वाले मार्ग या स्मृतिचन्द्रिका[604] एंव कुल्लूकभट्ट[605] के अनुसार गायों आदि के लिए मार्ग या चरागाह है।

पिता से हीन जाति की पत्नियों से उत्पन्न पुत्र एंव पुत्रों के अधिकारों के विषय में स्मृतियों एंव मध्यकाल के निबंधों में विस्तार के साथ विवेचन प्राप्त होता है। गौतम[606], बौधायन[607], कौटिल्य[608], वसिष्ठ[609], मनु[610], याज्ञवल्क्य[611],विष्णु[612], नारद[613], शख[614], में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। मनु[615] एंव याज्ञवल्क्य[616] के अनुसार यदि किसी ब्राह्मण को चारों जातियो से पुत्र हों तो सारी सम्पत्ति दस भागों में बंट जाती है और निम्न रूप से बॅटवारा होता है। ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्रो को चार भाग, क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न पुत्रों को तीन भाग, वैश्य पत्नी के पुत्रों को दो भाग एंव शूद्रा पत्नी के पुत्रों को एक भाग। मिताक्षरा[617] का कथन है कि क्षत्रिय पत्नी के पुत्रों को दान से प्राप्त भूमि का भाग नहीं मिलता, किन्तु क्रय की हुई भूमि का भाग मिलता है। कौटिल्य[618] के अनुसार पारशव पुत्र को पिता की सम्पत्ति का 1/2 भाग निकटतम सपिण्ड को 2/3 भाग मिलता है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[619] भी ऐसा ही विचार प्रकट करते हैं। मनु[620] ने दासी से उत्पन्न शूद्रपुत्र को पिता की सम्पत्ति का भाग दिया है। (यदि पिता चाहे तो ऐसा हो सकता है।)

पत्नी को विभाजन की माँग का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु याज्ञवल्क्य[621] के मत से पिता के रहते पुत्र विभाजन की माँग करे तो पत्नी को पुत्र के समान ही एक भाग मिलता है। यदि कई पत्नियाँ

हो तो प्रत्येक को एक पुत्र के बराबर का भाग मिलता है। याज्ञवल्क्य[622] ने यह भी व्यवस्था दी है कि पत्नी या पत्नियाँ पति या श्वसुर द्वारा प्रदत्त स्त्रीधन की सम्पत्ति पर भोग का अधिकार नही रखतीं, किन्तु यदि स्त्रीधन हो तो उन्हे उतना ही अधिक प्राप्त होगा जितना मिलकर एक पुत्र के भाग के बराबर हो जाए। जबकि मिताक्षरा[623] का कहना है कि पति की इच्छा से पत्नी कुल सम्पत्ति का भाग पा सकती है किन्तु अपनी इच्छा से नहीं। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विश्वरूप ने आधुनिक कानून व्यवस्था के अनुरूप ही विचार व्यक्त किये है। उनके अनुसार[624] पहले से मृत पुत्रों एंव पौत्रो की पत्नियो को वे भाग मिलने चाहिए जो उनके पतियो को दाय के रूप में प्राप्त होते, क्योंकि उनके पतियों को जीवित रहने पर पिता के साथ किये गये विभाजन में अधिकार तो प्राप्त होता ही। आधुनिक कानून व्यवस्था में 1937 का कानून जो 1938 में संशोधित किया गया; हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार) इससे मिताक्षरा की, केवल पुरूषों को ही संयुक्त परिवार का भाग मिलना चाहिए, वाली प्राचीन व्यवस्था समाप्त हो गई है।

याज्ञवल्क्य[625], नारद[626] एंव विष्णु[627] के अनुसार माता (या विमाता) भी पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्रों के दाय-विभाजन के समय बराबर भाग की अधिकारिणी होती है, किन्तु जब तक पुत्र संयुक्त रहते हैं, वह विभाजन की मांग नही कर सकती। किन्तु पत्नी के समान ही यदि उसके पास स्त्रीधन होगा तो उसका दाय भाग भी उसी के अनुपात में कम हो जायेगा। मिताक्षरा[628] ने भी अपने पूर्व के लखकों के इस मत का खण्डन किया है कि माता को केवल जीविका के साधन मात्र प्राप्त होते हैं। मनु[629] ने ऐसा संकेत दिया है कि स्त्रियों का धर्मशास्त्र तथा स्मृति में और किसी मंत्रों में भी इनका अधिकार नही है अर्थात् शक्तिहीन होने के कारण, (काणे[630] के अनुसार) उन्हे सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया था। जबकि मेधातिथि[631] इसका विरोध करते हुए स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति में कुछ भाग देने का समर्थन करते हैं। कतिपय शारीरिक, मानसिक एंव अन्य आचरण संबंधी दुर्गणों के कारण प्राचीन भारत में कुछ लोग दायभाग से वंचित थे। गौतम[632], आपस्तम्ब[633], वसिष्ठ[634], विष्णु[635], बौधायन[636] एंव कौटिल्य[637] के अनुसार पागल, जड़, क्लीब, पतित (पापाचारी) अंधे, असाध्यरोगी और सन्यासी विभाजन एंव रिक्थाधिकार से

वंचित माने जाते थे। ऐसा इसलिए किया गया है कि ये लोग धार्मिक कार्य नहीं कर सकते और सम्पत्ति तथा उसके साथ धार्मिक उपयोग का संबंध अटूट माना जाता रहा है।[638] मिताक्षरा[639] ने अपने पूर्व के आचार्यों के मत का खण्डन किया है कि सारी सम्पत्ति यज्ञों के लिए ही है। वे पूर्व आचार्य दो स्मृति वचनो पर निर्भर थे, सभी द्रव्य (सभी प्रकार की या चल सम्पत्ति) यज्ञ के लिए उत्पन्न की गई है; अत: वे लोग जो यज्ञ के योग्य नहीं हैं पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी नहीं हैं उन्हे केवल भोजन वस्त्र मिलेगा। मनु[640], नारद[641] एंव याज्ञवल्क्य[642] भी क्लीब, पतित, जन्मान्ध, जन्मबधिर पागल, मूर्ख, गूँगें एंव इन्द्रियदोषी को अंश (भाग या हिस्सा) नहीं मिलता। जबकि मिताक्षरा[643] के अन्तर्गत केवल पागलपन एव जन्म से मूढ़ता का दोष ही दायांश के अनधिकार के लिए ठीक माना गया है। मनु[644] एंव याज्ञवल्क्य[645] ने तो उसे अनश या निरशंक (पैतृक सम्पत्ति के अंश के लिए अयोग्य) घोषित किया है, किन्तु उन्होने उसके भरण-पोषण की व्यवस्था दी है और कहा है कि यदि उसे जीविका न दी जायेगी तो न देने वालो को पाप लगेगा, किन्तु उन्होने आगे चलकर व्यवस्था दी है कि यदि उसके पुत्र इन दोषों से मुक्त हों तो उन्हे दायांश मिलता है। मिताक्षरा[646] के अनुसार अनंशता के लिए स्त्री एंव पुरूष दोनो एक ही प्रकार के दोषों एंव दुर्गुणों से शासित है।

ज्येष्ठ पुत्र को प्राचीन काल से अब तक विशिष्ठता मिलती आ रही है। यह विशिष्टता कई रूपों में प्रकट होती रही है। कुछ मतो से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती थी। आपस्तम्ब[647], मनुस्मृति[648] एंव नारद[649] ने इस मत की ओर भी निर्देश किया है। मनु[650] ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है; किन्तु उन्होने यह भी लिखा है कि अन्य पुत्र ऐसी स्थिति में अपने ज्येष्ठ भाई पर अपनी जीविका आदि के लिए उसी प्रकार निर्भर है जिस प्रकार अपने पिता पर। मनु का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र जन्म के कारण पिता को पितृ ऋण से मुक्त कराता है; अत: वह पिता से सम्पूर्ण सम्पत्ति पाने की पात्रता रखता है।

मनु[651] के अनुसार एक ही जाति की पत्नियों से उत्पन्न पुत्रो में जो सबसे पहले उत्पन्न (यहाँ तक कि छोटी पत्नि से भी) होता है वही ज्येष्ठ होता है, जुड़वाँ भाइयों में पहले उत्पन्न होने वाला ज्येष्ठ होता है। किन्तु कई जातियों में समान जाति वाली पत्नी का पुत्र (भले

ही वह बाद मे उत्पन्न हुआ हो) ज्येष्ठ होता है, और नीच जाति वाली पत्नी (भले ही वह पहले उत्पन्न हुआ हो) कनिष्ठ कर दिया जाता है। यह तथ्य व्यवहाररत्नाकर[652] एव व्यवहारचितामणि[653] मे भी उल्लिखित है।

मनु के सबसे प्राचीन टीकाकार मेधातिथि[654] ने मनु की व्याख्या मे बताया है कि नियोग सबंधी एंव ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट अंश से संबंधित बाते केवल प्राचीनकाल मे ही प्रचलित थीं। काल एंव देश के अनुसार स्मृतियों के वचन परिवर्तित होते हैं। प्राचीन काल के सूत्र जिनमें वैदिक विद्यार्थियों को वैदिक मन्त्र कंठस्थ रखने पडते थे, (मेधातिथि के काल) आजकल प्रचलित नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में ज्येष्ट पुत्र अपनी विशिष्टता के कारण पैत्रृक सम्पत्ति का सम्पूर्ण भाग नहीं प्राप्त करता था, जैसा कि प्राचीन काल में होता था।

अन्य पुत्रों में गूढज, कानीन एंव सहोढ के विषय मे यह कहाजा सकता है कि वे अवैधानिक संसर्ग के फल है किन्तु किसी के द्वारा तो उनका पालन पोषण होना चाहिए। यदि पत्नी व्यभिचार की दोषी है तो पति को उसे शुद्ध करने के कुछ अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु यदि वह क्षमा कर दे तो स्मृतियाँ उसे यह नही आज्ञापित करतीं कि वह उसे त्याग दे। ये स्मृतियाँ यथा-गौतम, वसिष्ठ एव नारद, जो स्त्रियों के व्यभिचारों के प्रति कठोर हैं, गूढज, कानीन एंव सहोढ़ को गौणपुत्र के रूप में ग्रहण करती है। इन दो प्रकार के मनोभावों को इस प्रकार सुलझाया जा सकता है कि जब पति विवाह करके स्त्री के नैतिक दोषों को क्षमा कर देता है तो स्मृतियों ने भी अवैध संसर्ग से उत्पन्न पुत्रों के भरण-पोषण (रक्षण एंव उत्तराधिकार की व्यवस्था दे दी है। पौनर्भव, कानीन, सहोढ़ एंव गूढज के विषय में मध्यकाल के टीकाकारो में भी मतभेद रहा है। मेधातिथि[655] ने मनु के ऊपर टीका करते हुए उन्हें केवल भोजन वस्त्र का अधिकारी माना है।

स्वयं का पुत्र या कोई संतान न उत्पन्न होने पर दम्पत्ति दूसरे दम्पत्ति से सतान ग्रहण करते है वह संतान दत्तक कहलाती है। बौधायनधर्मसूत्र[656], मनु[657], याज्ञवल्क्य[658], विष्णु[659] एंव नारद[660] ने इसकी परिभाषा दी है। मनु[661] के अनुसार पिता माता आपत्तिकाल में जिस सजातीय पुत्र का प्रीतिपूर्वक जल से संकल्प करके दान करते हैं उसे दत्तक कहते हैं। इसके ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[662] ने स्पष्ट कहा

है कि ब्राह्मण क्षत्रिय को भी गोद ले सकता है। जबकि मनु के अन्य टीकाकार, यथा कुल्लूक[663] आदि तथा व्यवहारमयूख[664] एव अन्य ग्रंथों ने लिखा है कि दत्तक समान जाति का होना चाहिए।

पुत्र के अभाव में पुत्री-पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य[665] ने कहा है कि जब वैध पुत्र न हो और जब दौहित्र तक कोई अन्य उत्तराधिकारी न हो तो शूद्रों मे अवैध पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती है, तो यह मानना उचित है कि याज्ञवल्क्य ने पुत्रियों के उपरांत दौहित्रो को उत्तराधिकारी अवश्य माना है। मनु के टीकाकार गोविन्दराज[666] ने विष्णु के वचन के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि मृत की विवाहित कन्या के पूर्व दौहित्र का अधिकार होता है किन्तु दायभाग को यह मत मान्य नहीं है। मनु[667] ने स्पष्ट कहा है कि- पुत्रहीन व्यक्ति का सम्पूर्ण धन दौहित्र पाता है, उसे एक पिण्ड पिता को तथा दूसरा नाना को देना चाहिए। धार्मिक मामलों में पौत्र एंव दौहित्र में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि क्रम से उनके पिता एंव माता की उत्पत्ति मृत स्वामी के शरीर से हुई है। इस कथन के संदर्भ एंव शब्दों के आधार पर कुल्लूक[668] आदि टीकाकारो ने मन्तव्य प्रकाशित किया है कि यहॉ जिस दौहित्र की चर्चा हुई है वह नियुक्त कन्या का पुत्र है। किन्तु मनु[669] स्पष्टतर कह चुके है, " जब समान जाति के पति से कन्या का पुत्र उत्पन्न होता है, चाहे वह कन्या नियुक्त हो या न हो, तो नाना मानो पौत्र वाला हो जाता है, उस पुत्र (कन्या के पुत्र) को नाना के लिए पिण्डदान करना चाहिए और नानी की सम्पत्ति लेना चाहिए। मिताक्षरा[670] ने अकृता शब्द को साधारण पुत्री के अर्थ में लिया है। किन्तु मेधातिथि[671] एंव कुल्लूक[672] ने कहा है कि कृता शब्द का अर्थ है नियुक्त कन्या या पुत्रिका जिसके विषय में उसके पति से स्पष्ट समझौता हुआ है और अकृता का अर्थ है वह पुत्री जिसे समान रूप में पुत्र के समान माना गया है) जिसके विषय में कोई स्पष्ट समझौता नही हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते दायभाग संबंधित विचार में थोड़ा बहुत अंतर आ गया था, स्मृतियों के टीकाकारों ने समय-2 पर विचारों में परिवर्तन दिखाया है; जो कि परिवर्तित समय का परिणाम रहा होगा। परिवर्तित परिस्थितियों से टीकाकारों के विचार प्रभावित हो रहे थे। जिसका प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य में स्पष्ट

परिलक्षित होता है। जहाँ मनु ने ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी माना है वही मेधातिथि कहते है कि ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट अश से सबंधित बाते केवल प्राचीन-काल मे ही प्रचलित थीं, अर्थात पूर्वमध्यकाल में प्रचलित नहीं थी। एक स्थल पर मनु[673] कहते है कि विभिन्न युगों मे विभिन्न धर्म होते हैं, मेधातिथि[674] उनके इस तर्क से सहमत नहीं होते हैं एंव कहते है कि विभिन्न युगों में विभिन्न धर्म नहीं होते, किसी देश मे धर्म के पालन में कोई बाधा नही है।

एक अन्य स्थल पर मनु यह विधान करते हैं कि केवल समान जाति का पुत्र ही गोद लिया जा सकता है। किन्तु मेधातिथि स्पष्ट शब्दों मे कहते है "कि ब्राहमण क्षत्रिय बालक को गोद ले सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक परम्परागत रूढियाँ कुछ कमजोर पड रही थी, संभवत: इसी कारणवश दत्तक पुत्र का समान जातीय होना आवश्यक नही रह गया था।

(1) शांतिपर्व 141/9-10,56/3
(2) गौतम धर्मसूत्र 10/7-8
(3) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/5/10/13-16
(4) वसिष्ठ 19/1-2
(5) विष्णु 3/2-3
(6) नारद प्रकीर्णक 5-7 एव 33-34
(7) शांतिपर्व 77/33, 55/15
(8) मत्स्यपुराण 215/63
(9) मार्ण्कण्डेय पुराण 27/28 एंव 28/36
(10) उद्योगपर्व 132/16
(11) शांतिपर्व 69/79
(12) शुक्रनीतिसार 4/1/60
(13) नीतिप्रकाशिका 1/21-22
(14) बुद्धचरित 1/46
(15) शांतिपर्व 59/79
(16) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/4
(17) शांतिपर्व 69/102
(18) मनुस्मृति 7/99
(19) नीतिसार 2/15
(20) नीतिसार 2/15 एंव शुक्रनीतिसार 1/157
(21) मेधातिथि मनु पर 7/43
(22) मिताक्षरा, याज्ञ0 पर 1/311
(23) शुक्रनीतिसार 4/3/56
(23A) कामसूत्र
(23B) मेधातिथि 7.1
(23C) मनुस्मृति 7.1
(24) मनुस्मृति 9/924
(25) गौतम सूत्र (सरस्वती विलास द्वारा उद्धृत पृ0 45)

(26) शातिपर्व 69/64-65

(27) कौटिल्य 611 पृ0 257

(28) याज्ञवल्क्य 1/353

(29) मत्स्यपुराण 225/11

(30) अग्निपुराण 233/12

(31) कामन्दक 1/16 एंव 4/1-2

(32) अपरार्क 588

(33) मनुस्मृति 7/3

(34) शुक्रनीतिसार 1/71

(35) शतपथ ब्राह्मण 11/6/24

(36) कौटिल्य 1/4

(37) रामायाण (2, अध्याय 67)

(38) शांतिपर्व 15/30 एंव 67/16

(39) कामन्दक 2/40

(40) मत्स्यपुराण 225/9

(41) मानसोल्लास 2, 16, 1295

(42) मनुस्मृति 6/96

(43) मनुस्मृति 7/8

(44) शांतिपर्व 68/40

(45) गौतम धर्मसूत्र 11/32

(46) आपस्तम्ब 1/11/31/5

(47) मत्स्यपुराण 226/1

(48) शुक्रनीतिसार 1/71-72

(49) अग्निपुराण 226/17-20

(50) वायुपुराण 57/72

(51) भागवत पुराण 4/14/26-27

(52) मनुस्मृति 7/111-112

(53) शुक्रनीतिसार 1/70

(54) शांतिपर्व 59/93-95

(55) तैत्रिरीय संहिता 213/1

(56) शतपथ ब्राह्मण 12/9/3/1-3

(57) शांतिपर्व 12/6 एव 9

(58) मनु स्मृति 7/27-एव 34

(59) याज्ञवल्क्य 1/356

(60) शुक्रनीतिसार 2/274-275

(61) तत्रैव 4/7/332-33

(62) यशस्तिलक- पृ0 431

(62A) मनुस्मृति 7.1

(62B) कुल्लूक मनु पर 7 1

(63) मनुस्मृति 7/144

(64) शांतिपर्व 68/1-4

(65) कालिदास, रघुवंश 14/67

(66) राजनीतिप्रकाश पृ0 254-255

(67) मनुस्मृति 9/306

(68) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/335

(69) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1-35

(70) नारदप्रकीर्णक पृ0 33

(71) शुक्रनीतिसार 1/14

(72) अत्रिस्मृति श्लोक 28

(73) विष्णुधर्मोत्तर 3/323/25-26

(74) मनुस्मृति 7/87-89

(75) आपस्तम्बधर्म सूत्र 2/10/26/2-3

(76) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 3/44-46

(77) मेधातिथि मनु पर 7/89

(78) कामन्दक 5/82-83

(79) गौतम 10/19-12; 18/31

(80) कौटिल्य 2/1

(81) अनुशासनपर्व 61/28-30

(82) शांतिपर्व 165/6-7

(83) विष्णुधर्मसूत्र 3/79-80

(84) मनुस्मृति 7/82 एंव 34

(85) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/315, 323 एव 3/44

(86) मत्स्यपुराण 215/58

(87) अत्रिस्मृति 24

(88) शांतिपर्व 86/24

(89) मत्स्यपुराण 215/62

(90) अग्निपुराण 225/25

(91) राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धत पृ0 138

(92) सभापर्व 5/124

(93) मेधातिथि मनु पर 5/94

(94) पराशरमाधवीय भाग-1, पृ0 466

(95) मनुस्मृति 7/13

(96) मेधातिथि मनु पर 7/13

(97) मेधातिथि मनु पर 7/13

(98) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/10

(99) शुक्रनीतिसार 1/292-311

(99A) मेधातिथि मनु पर 8,399

(100) मनुस्मृतिसार 7/55

(101) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/7

(102) मत्स्यपुराण 2/5/2

(103) तत्रैव 215/3

(104) विष्णुधर्मात्तरपुराण 2/24/2-3

(104) शांतिपर्व 106/11

(105) राजनीतिप्रकाश पृ0 174

(106) कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/15

(107) कामन्दक 1/167-68

(108) मनुस्मृति 7/54

(109) मानसोल्लास 2/2/57

(110) रनाडे कृते राइज आव दमराठा पावर पृ0 125-126

(111) शुक्रनीतिसार 2/426-427

(112) नीतिवाक्यामृत पृ0 108

(113) मनुस्मृति 7/57-59

(114) याज्ञवल्क्य 1/312

(115) कामदंक 13/23-24

(116) अग्निपुराण 241/16-18

(117) कौटिल्य 1/15

(118) कामंदक 11/56

(119) अग्निपुराण 241/4

(120) पंचतन्त्र पृ0 84

(121) मानसोल्लास 2/9/697

(122) कामदंक 6/3

(123) अग्निपुराण 239/2

(124) मनुस्मृति 7/69

(125) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/321

(126) विष्णुधर्मसूत्र 3/4-5

(127) मनुस्मृति 7/69

(128) विष्णुधर्मसूत्र 3/5

(129) मनुस्मृति 8/22

(130) मत्स्यपुराण 217/1-5

(131) विष्णुधर्मोतरपुराण 2/26/1-5

(132) मानसोल्लास 2/3 श्लोक 151-153

(133) नीतिवाक्यामृत जनपद समुद्देश पृ0 19

(134) बृहत्संहिता

(135) बौधायनगृहयसूत्र 1/17

(136) कामसूत्र 5/6, 33-41

(137) ब्राहस्पत्य अर्थशास्त्र 3/83-117

(138) राजशेखर की काव्यमीमासा 17 वॉ अध्याय

(139) मनुस्मृति 7/114

(140) मनुस्मृति 7/115-117

(141) विष्णुधर्मसूत्र 3/7-14

(142) शांतिपर्व 87/3

(143) अग्निपुराण 223/1-4

(144) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/61/1-6

(145) मानसोल्लास 5/2/159-162

(146) मनुस्मृति 7/120

(147) मनुस्मृति 7/119

(148) कूल्लूकभट्ट मनु पर 7/119

(149) मनुस्मृति 7/118-119

(150) मेधातिथि मनु पर 7/118-119

(151) शुक्रनीतिसार 1/211

(152) याज्ञवल्क्य 1/336, 338, 339

(153) मनुस्मृति 7/124

(154) मेधातिथि मनु पर 7/124

(155) मेधातिथि मनु पर 9/294

(156) कौटिल्य 1/19

(157) याज्ञवल्क्य 1/349-351

(158) मनुस्मृति 7/205

(159) मत्स्यपुराण 221/1-12

(160) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/66

(161) राजनीतिप्रकाश 313-314

(162) मेधातिथि मनु पर 4/137

(163) रामायण 5/412-13

(164) मनुस्मृति 7/109

(165) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/346

(166) शुक्रनीतिसार 4/1/27

(167) नीतिवाक्यामृत पृ0 332

(168) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/146

(169) मिताक्षरा, याज्ञ0 1/346

(170) कामदक 18/1

(171) मनुस्मृति 9/294

(172) मेधातिथि मनु पर 9/295

(173) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/295

(174) मनुस्मृति 7/77

(175) वायुपुराण 8/108

(176) मनुस्मृति 7/70

(177) शांतिपर्व 56/35, 86/4-5

(178) विष्णुधर्मसूत्र 3/6

(179) मत्स्यपुराण 217/6-7

(180) अग्निपुराण 222/4-5

(181) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/26/69, 3/323/16-21

(182) शुक्रनीतिसार 4/6

(183) मानसोल्लास 2/5 पृ0 78

(184) मनुस्मृति 7/75

(185) सभापर्व 5/36

(186) अयोध्यापर्व 100/53

(187) मत्स्यपुराण 217/8

(188) कामसूत्र 4/60

(189) मानसोल्लास 3/5, श्लोक 550-555

(190) शुक्रनीतिसार 4/612-13
(191) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/26/20-28
(192) नीतिवाक्यामृत दुर्गसमुद्देश पृ0 199
(193) कौटिल्य अर्थशास्त्र 211
(194) तत्रैव 218
(195) मनुस्मृति 7/65
(196) याज्ञवल्क्य
(197) कामसूत्र
(198) शुक्रनीतिसार
(199) राजतरंगिणी
(200) गौतम 10/24
(201) मनुस्मृति 7/130
(202) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 3/22-23
(203) कौटिल्य 5/2
(204) मनुस्मृति 10/118
(205) शांतिपर्व, अध्याय 87
(206) शुक्रनीतिसार 4/2/9-10
(207) मनुस्मृति 8/139
(208) मनुस्मृति 7/137-138
(209) गौतम धर्मसूत्र 10/31/34
(210) विष्णुधर्मसूत्र 3/32
(211) मनुस्मृति 7/130
(212) गौतमधर्मसूत्र 10/24
(213) विष्णुधर्मसूत्र 3/22
(214) मानसोल्लास 2/3/163 पृ0 44
(215) कौटिल्य, अर्थशस्त्र 2/1 पृ0 47
(216) मनुस्मृति 7-13
(217) गौतम 10/25

(218) विष्णुधर्मसूत्र 3/24

(219) मानसोल्लास, 2/3, 165 पृ0 46

(220) मनुस्मृति 7/131-32

(221) गौतम धर्मसूत्र 10/27

(222) विष्णुधर्मसूत्र 3/25

(223) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/61-3-63

(224) मानसोल्लासास 2/3, 165 पृ0 46

(225) गौतम धर्मसूत्र 10/28

(226) शांतिपर्व 67/70/10

(227) बौधायनधर्मसूत्र 1/10/1

(228) नारद स्मृति 18, 48

(229) कौटिल्य 1/13

(230) कात्यायन श्लोक 16-17

(231) राजनीतिप्रकाश पृ0 271

(232) मनुस्मृति 8/39

(233) मेधातिथि मनु पर 8/39

(234) मेधातिथि मनु पर 8/400

(235) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 9/2

(236) कामन्दक 18/4

(237) अग्निपुराण 242/1-2

(238) मानसोल्लास 2/6, श्लोक 556 पृ0 76

(239) कौटिल्य 9/2

(240) कामन्दक 18/24

(241) शांतिपर्व 59/41/42

(242) शुक्रनीतिसार 4/7/379-390

(243) कौटिल्य अर्थशास्त्र 9/1-7 एंव 10/1-6

(244) कौटिल्य 10/6

(245) भीष्मपर्व 21/10, शांतिपर्व 95/17-18

(246) मनुस्मृति 7/90-93

(247) मनुस्मृति 7/32

(248) मेधातिथि मनु पर 7/32

(249) मनुस्मृति 7/208

(250) मनुस्मृति 7/206

(251) याज्ञवल्क्य 1/352

(252) कौटिल्य अर्थशास्त्र 7/9

(253) कौटिल्य 6/2 एंव 7

(254) मनुस्मृति 7/154-211

(255) आश्रमवासिक पर्व 6-7

(256) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/345-348

(257) कामसूत्र 8-9

(258) अग्निपुराण 233-240

(259) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/145-150

(260) नीतिवाक्यामृत पृ0 317-343

(261) राजनीतिप्रकाश पृ0 31-330

(262) नीतिमयूख पृ0 44-46

(263) कामदेव 8/6

(264) नीतिवाक्यामृत पृ0 319

(265) मनुस्मृति 7/177 एंव 180

(266) मेधातिथि मनु पर 7/177

(267) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/19

(268) मनुस्मृति 8/1-3

(269) शुक्रनीतिसार 4/5-45

(270) मनुस्मृति 8/1

(271) वसिष्ठधर्मसूत्र 16/2

(272) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/327 एंव 2/1

(273) विष्णुधर्म सूत्र 3/72

(274) नारदस्मृति 1/2

(275) मानसोल्लास 2/20 श्लोक 1243

(276) मिताक्षरा, याज्ञ0 2/1

(277) मेधातिथि, मनु पर 8/1

(278) गौतम धर्मसूत्र 8/1

(279) मनुस्मृति 1/81-82

(280) शांतिपर्व 231/23-24

(281) उद्योगपर्व 37/30

(282) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/7/16/17, 1/6/20/11 एंव 16

(283) शांतिपर्व 69/28

(284) मनुस्मृति 8/1

(285) वसिष्ठधर्मसूत्र 16/1

(286) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/1

(287) विष्णुधर्मसूत्र 3/72

(288) नारदस्मृति 1/1

(289) शुक्रनीतिसार 4/5/5

(290) गौतम 10/48

(291) वसिष्ठ 16/8

(292) शंखलिखित, चण्डेश्वर का विवाद रत्नाकर पृ0 599 में उद्वत

(293) गौतम 10/19

(294) व्यवहारमयूख पृ0 283

(295) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8/1

(296) मनुस्मृति 8/8

(297) मेधातिथि मनु पर 8/8

(298) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8/8

(299) मनुस्मृति 8/1-2

(300) याज्ञवल्क्य 2/1

(301) जीमूतवाहन, व्यवहारमातृका पृ0 278

(302) याज्ञवल्क्य 2/2

(303) अपरार्क द्वारा पृ0 599

(304) स्मृतिचन्द्रिका द्वारा 2, पृ0 25-26

(305) पराशरमाधवीय द्वारा 3, पृ0 41

(306) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 26

(307) गौतम 12/40-42

(308) मनुस्मृति 8/314-316

(309) राजतरंगिणी 6/14-41, 6/42-69, 4 (42-108)

(310) मनुस्मृति 8/9

(311) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/3

(312) कात्यायन 67

(313) शुक्रनीतिसार 4/5/14

(314) मनुस्मृति 8/20

(315) सरस्वती विलास में उद्वत पृ0 5

(316) मनुस्मृति 8/11

(317) याज्ञवल्क्य 2/2

(318) विष्णुधर्मसूत्र 3/74

(319) कात्यायन 57

(320) नारद 3/4-5

(321) शुक्रनीतिसार 4-5/16-17

(322) मनुस्मृति 8/1-14

(323) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 21

(324) राजनीतिरत्नाकर पृ0 24-25

(325) याज्ञवल्क्य 1/30

(326) नारदस्मृति 1/7

(327) मेधातिथि मनु पर 8/2

(328) मिताक्षरा

(329) व्यवहारप्रकाश पृ0 29

(330) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 18
(331) अपरार्क
(332) कुल्लूकभट्ट मनु पर 7/119
(333) व्यवहारमातृका पृ0 280
(334) पराशरमाधवीय 3 पृ0 352
(335) दामोदरपुर पत्र इपि0इण्डि 17,पृ0 345, 348
(336) इपि0 इण्डि 17 पृ0 348
(337) मनुस्मृति 7/119
(338) कुल्लूकभट्ट मनु पर 7/119
(339) दामोदरपुर पत्रक इपि0 इण्डि 17 पृ0 345, 348
(340) इपि0इण्डि 15 पृ0 130
(341) व्यवहारमातृका जीमूतवाहन पृ0 280
(342) कात्यायन 225 एंव 682
(343) व्यवहारप्रकाश पृ0 30
(344) मिताक्षरा, याज्ञ0 2/27
(345) मनुस्मृति 8/200
(346) याज्ञवल्क्य 2/27
(347) नारदस्मृति 4/84
(348) मिताक्षरा, याज्ञ 2/27
(349) अपरार्क पृ0 635, स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 71
(350) नारद 4/77
(351) बृहस्पति (व्यवहारनिर्णय पृ0 126, व्यवहारप्रकाश पृ0 153
(352) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/27, मिताक्षरा
(353) मनुस्मृति 8/147-148
(354) नारद 4/79-80
(355) गौतम 12/134
(356) शंख, विवादरत्नाकर पृ0 208
(357) नारदस्मृति 4/86-87

(358) नारदस्मृति 4/89

(359) नारद (अपरार्क पृ0 636)

(360) बृहस्पति स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 72

(361) अपरार्क पृ0 631-632

(362) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8/140-142

(363) मनुस्मृति 8/149

(364) नारद 4/81

(365) वसिष्ठ 16/18

(366) याज्ञवल्क्य 2/26

(367) बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 74

(368) कात्यायन पृ0 330

(369) मनुस्मृति 8/147

(370) याज्ञवल्क्य 2/24

(371) मनुस्मृति 8/145

(372) पाणिनी 5/2/91

(373) गौतम 131/1

(374) कौटिल्य 3/11

(375) नारद 4/147

(376) मनुस्मृति 8/74

(377) सभापर्व 68/84

(378) नारदस्मृति 4/148

(379) विष्णुधर्मसूत्र 8/13

(380) कात्यायन पृ0 346

(381) व्यवहारमातृका पृ0 317

(382) व्यवहारप्रकाश पृ0 16

(383) मेधातिथि मनु पर 8/74

(384) मनुस्मृति 8/76

(385) विष्णुधर्मसूत्र 8/2

(386) गौतम 13/2

(387) कौटिल्य 3/11

(388) मनुस्मृति 8/62-63

(389) वसिष्ठ 16/28

(390) शंखलिखित, सरस्वतीविलास पृ0 138 में उद्वत

(391) याज्ञवल्क्य 2/68

(392) नारदस्मृति 4/153-154

(393) विष्णुधर्मसूत्र 8/8

(394) कात्यायन पृ0 347

(395) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 76

(396) व्यवहारप्रकाश पृ0 76

(397) कौटिल्य 3/11

(398) मनुस्मृति 8/68

(399) कात्यायन पृ0 351

(400) वसिष्ठ 16/30

(401) कौटिल्य 3/11

(402) मनुस्मृति 8/64-67

(403) उद्योगपर्व 35/44-47

(404) याज्ञवल्क्य 2/70-71

(405) नारद 4/177-178

(406) विष्णुधर्मसूत्र 8/1-4

(407) बृहस्पति 29-30

(408) कात्यायन 360-364

(409) मनुस्मृति 8/118

(410) कौटिल्य 3/11

(411) मनुस्मृति 8/65

(412) विष्णुधर्मसूत्र 8/1

(413) गौतम 13/9

(414) कौटिल्य 3/11

(415) मनुस्मृति 8/72

(416) याज्ञवल्क्य 2/72

(417) नारदस्मृति 4/188-189

(418) विष्णुधर्मसूत्र 3/6

(419) उशना (स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 79)

(420) कात्यायन 365-366

(421) मनुस्मृति 8/70, 77

(422) कात्यायन 367

(423) मेधातिथि मनु पर 8/68

(424) मनुस्मृति मनु पर 8/113

(425) मिताक्षरा, याज्ञ0 2/73

(426) मनुस्मृति 8/107

(427) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/6

(428) कात्यायन पृ0 405

(429) मनुस्मृति 8/118

(430) बृहस्पति 8/2

(431) याज्ञवल्क्य 2/81

(432) कात्यायन पृ0 407

(433) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 2/81

(434) मनुस्मृति 8/380

(435) मनुस्मृति 2/108

(436) कात्यायन पृ0 410

(437) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 94

(438) ऋग्वेद 3/53/22

(439) अर्थववेद 2/12-8

(440) छान्दोग्य उपनिषद 6/16/1

(441) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/11/29/6

(442) तत्रैव 2/5/11/63
(443) मनुस्मृति 8/114
(444) नारदस्मृति 4/251
(445) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/95
(446) विष्णुधर्म सूत्र 9/14
(447) नारदस्मृति 4/252
(448) अपरार्क द्वारा उद्धत पृ0 628 एव पृ0 694
(449) बृहस्पति 4/343
(450) बृहस्पति 9/337
(451) व्यवहारमयूरख पृ0 356
(452) दिव्यतत्व पृ0 574
(453) मेधातिथि मनु पर 8/116
(454) याज्ञवल्क्य 2/22
(455) नारदस्मृति 2/29, 4/239
(456) बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ0 169)
(457) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 51
(458) कात्यायन 217
(459) कात्यायन 218-219
(460) मिताक्षरा, याज्ञ0 पर 2/22
(461) व्यवहारमातृका पृ0 315
(462) नारदस्मृति 2/30, 4/241
(463) कात्यायन पृ0 230
(464) मिताक्षरा, विज्ञानेश्वर याज्ञ 2/22
(465) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 51
(466) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/8
(467) व्यवहारप्रकाश पृ0 86
(468) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 120
(469) पराशरमाधवीय पृ0 199

(470) शुक्रनीतिसार 4/5/271

(471) व्यवहारनिर्णय पृ0 138

(472) व्यवहारप्रकाश पृ0 86

(473) मनुस्मृति 9/233

(474) व्यवहारप्रकाश (1090) दीपकलिका (याज्ञ0 2/606)

(475) इपि0 इण्डि II पृ0 253

(476) मेधातिथि मनु पर 9/233

(477) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/233

(478) कात्यायन पृ0 495

(479) नारदस्मृति 2/55

(480) मिताक्षरा याज्ञ0 पर 2/306

(481) मनुस्मृति 8/280

(482) नारद (पारूष्य, श्लोक 25)

(483) याज्ञवल्क्य 2/215

(484) विष्णुधर्मसूत्र पृ0 519

(485) गौतम 928

(486) शांतिपर्व 15/5-6

(487) मनुस्मृति 8/318

(488) वसिष्ठ धर्मसूत्र 19-45

(489) मेधातिथि मनु पर 8/318

(490) मनुस्मृति 8/129

(491) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/367

(492) गौतम धर्मसूत्र 12/51

(493) वसिष्ठ धर्मसूत्र 19/9

(494) मनुस्मृति 7/16, 8/126

(495) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/368

(496) वृद्धहारीत 7/195-196

(497) बृहत्पराशर पृ0 284

(498) कौटिल्य 4/10

(499) दण्डविवेक पृ0 36

(500) मनुस्मृति 8/337-338

(501) तत्रैव 8/320

(502) तत्रैव 8/285

(503) मनुस्मृति 8/138

(504) विष्णुधर्मसूत्र 9/10

(505) याज्ञवल्क्य 1/366

(506) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 1/366

(507) नारद स्मृति (साहस 7-8)

(508) गौतम धर्मसूत्र 12/15/6

(509) मनुस्मृति 8/338-339

(510) कात्यायन पृ0 485

(511) व्यासस्मृति

(512) गौतमधर्मसूत्र 12/1, 8-12

(513) मनुस्मृति 8/267-268

(514) नारदस्मृति, पारूष्य 15-16

(515) याज्ञवल्क्य 2/206-207

(516) गौतम 12/13

(517) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/286

(518) गौतमधर्मसूत्र 12/43

(519) कौटिल्य 4/8

(520) मनुस्मृति 8/125, 380, 381

(521) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/270

(522) नारदस्मृति, साहस 9-10

(523) विष्णुधर्मसूत्र 4/1-8

(524) वृद्धहारीत 5/191

(525) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 317

(526) व्यवहारप्रकाश पृ0 393

(527) मनुस्मृति 9/271

(528) मनुस्मृति 8/366, याज्ञवल्क्य स्मृति 2/286-288

(529) मनुस्मृति 8/287

(530) नारद, पारूष्य 24

(531) विष्णुधर्मसूत्र 5/24

(532) मनुस्मृति 9/276-277

(533) नारदस्मृति परिशिष्ट 32

(534) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/274

(535) गौतमधर्मसूत्र 12/44

(536) बौधायन धर्मसूत्र 3/10-11

(537) नारद (साहस 10)

(538) मनुस्मृति 9/237

(539) मत्स्यपुराण 227/16

(540) विष्णुधर्मसूत्र 5/3-7

(541) दण्डविवेक पृ0 67

(542) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 4/4

(543) मनुस्मृति 9/290

(544) मत्स्यपुराण 227/183

(545) मेधातिथि मनु पर 9/290

(546) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/290

(547) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/1/20, 2/4/8/13

(548) याज्ञवल्क्य 1/61

(549) नारदस्मृति 13/1

(550) मनुस्मृति 8/5

(551) मनुस्मृति 8/218-219

(552) मेधातिथि मनु पर 8/219

(553) मेधातिथि मनु पर 8/219-220

(554) नारद स्मृति 13/1

(555) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/192

(556) नारदस्मृति 13/2

(557) नारदस्मृति 13/4-5 एंव 7

(558) मेधातिथि मनु पर 8/220

(559) तैत्तिरीय संहिता 3/1/9/4

(560) नारदस्मृति (दायभाग पद्य) 1

(561) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 255

(562) व्यवहारमयूख पृ0 93

(563) निघण्टु (स्मृतिचन्द्रिका प्र0 255, व्यवहारमयूरख पृ0 93)

(564) मनुस्मृति

(565) याज्ञवल्क्य 2/114

(566) व्यवहारमयूख पृ0 93

(567) मनुस्मृति 11/193

(568) विष्णुधर्मसूत्र 54/28

(569) देवल (दायभाग 1/18 पृ0 13)

(570) दीपकलिका, याज्ञवल्क्य 2/114

(571) विवादरत्नाकर 456

(572) पराशरमाधवीय 3 पृ0 480

(573) मनुस्मृति 9/104

(574) नारद दायभाग 2

(575) याज्ञवल्क्य 21/121

(576) बृहस्पति 2/59

(577) कात्यायन पृ0 839

(578) विष्णुधर्मसूत्र 17/2

(579) मनुस्मृति 8/416

(580) नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा पृ0 41)

(581) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 2/120

(582) मनुस्मृति 8/416

(583) देवल, दायभाग 1/18 पृ0 13

(584) नारद दायभाग 2

(585) मनुस्मृति 9/104

(586) विश्वरूप, याज्ञवल्क्य पर 2/124

(587) मेधातिथि, मनु पर 9/156

(588) मनुस्मृति 9/204

(589) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/120

(590) मनुस्मृति 8/416

(591) मेधातिथि मनु पर 8/416

(592) मनुस्मृति 9/208

(593) विष्णुधर्मसूत्र 18/42

(594) मनुस्मृति 9/206

(595) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/118-9

(596) मनुस्मृति 9/206

(597) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/1/9

(598) कात्यायन पृ0 868

(599) मनुस्मृति 9/2/9

(600) विष्णुधर्मसूत्र 18/44

(601) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 2/118-119

(602) अपरार्क पृ0 725

(603) व्यवहारप्रकाश पृ0 609

(604) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 277

(605) कुल्लूकभट्ट मनु पर 2/118-119

(606) गौतम 28/33-37

(607) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/10

(608) कौटिल्य 3/6

(609) वसिष्ठधर्मसूत्र 17/18-50

(610) मनुस्मृति 9/149-155

(611) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/125

(612) विष्णुधर्मसूत्र 16/1-33

(613) नारदस्मृति दायभाग 14

(614) शंख (व्यवहाररत्नाकर पृ0 531)

(615) मनुस्मृति 9/153

(616) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/125

(617) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 2/125

(618) कौटिल्य 3/6

(619) मेधातिथि मनु पर 9/155

(620) मनुस्मृति 2/115

(621) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/115

(622) याज्ञवल्क्यस्मृति पर 2/148

(623) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 2/51

(624) विश्वरूप, याज्ञवल्क्य पर 2/119

(625) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/123

(626) नारदस्मृति, दायभाग 12

(627) विष्णुधर्मसूत्र 18/34

(628) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 2/135

(629) मनुस्मृति 9/18

(630) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग द्वितीय पृ0 863

(631) मेधातिथि मनु पर 9/18

(632) गौतमधर्म सूत्र 28/41

(633) आपस्तम्ब 2/6/14/1

(634) वसिष्ठधर्मसूत्र 17/52/53

(635) विष्णुधर्मसूत्र 15/32-39

(636) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/43-46

(637) कौटिल्य अर्थशास्त्र 3/5

(638) जैमिनी 6/1/41-42

(639) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 2/135

(640) मनुस्मृति 9/201

(641) नारदस्मृति दायभाग 21-22

(642) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/140

(643) मिताक्षरा, याज्ञ 2/140

(644) मनुस्मृति 9/201

(645) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/140-141

(646) मिताक्षरा, याज्ञवल्क पर 2/140

(647) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/6/14/6

(648) मनुस्मृति 9/105-107

(649) नारद दायभाग 5

(650) मनुस्मृति 9/105-107

(651) मनुस्मृति 9/125

(652) व्यवहाररत्नाकर पृ0 477

(653) व्यवहारचिंतामणि पृ0 128

(654) मेधातिथि मनु पर 9/112

(655) मेधातिथि मनु पर 9/181

(656) बौधायनधर्मसूत्र 2/224

(657) मनुस्मृति 9/168

(658) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/130

(659) विष्णुधर्मसूत्र 15/18-19

(660) नारद (दायभाग 46)

(661) मनुस्मृति 9/160

(662) मेधातिथि मनु पर 9/168

(663) कूल्लूकभट्ट पर 9/168

(664) व्यवहारमयूख पृ0 520

(665) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/134

(666) गोविन्दराज (दायभाग 9/23-24 पृ0 181)

(667) मनुस्मृति 9/131-133

(668) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/131

(669) मनुस्मृति 9/136

(670) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य पर 2/134

(671) मेधातिथि मनु पर 9/136

(672) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/136

(673) मनुस्मृति 1/85

(674) मेधातिथि मनुपर 1/85

उपसंहार

पूर्वमध्यकाल प्राचीन काल युगीन प्रवृत्तियों का मध्यकाल युगीन प्रवृत्तियों के परिवर्तन के सक्रमण का युग था, जिसमें प्राचीन एव मध्यकाल की मिश्रित प्रवृत्तियो का चित्र मिलता है। यह ऐसा काल था जब राजनैतिक रूप से बड़े-बडे शासको का अभाव था, शक्ति एंव सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं था, छोटे-छोटे सामन्तों के मध्य अपने अस्तित्व के लिए लगातार संघर्ष होते रहते थे, जिससे निरन्तर युद्ध एंव अविश्वास का वातावरण बना रहता था, केन्द्रिय शासन बद से बदतर स्थिति की ओर पहुँचता जा रहा था, इन परिस्थितियो में जब सब तरफ अव्यवस्था की स्थिति थी, कानून व्यवस्था में स्थिरता आ गई थी।

इस वातावरण में समाज, अर्थ एंव धर्म के क्षेत्रों में कोई नवीन, विकसित तथ्यों का समावेश नहीं हो रहा था, उन्हीं परम्परागत प्रवृत्तियों में जड़ता एंव रूढिवादिता बढती जा रही थी, यह पतन इस काल के साहित्य में साफ दृष्टिगत होता है। इस समय ज्यादातर पुराने साहित्य पर टीकाओं का प्रणयन हो रहा था।

धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध एंव जैन धर्म अपने अवनति के चरम शिखर पर पहुॅच गये थे, हिन्दू धर्म में नवीन देवी देवताओं ने जन्म लिया था, समाज की अनेक वर्जनाओं को तोडते हुए तांत्रिक धर्म ने अपना स्थान सुव्यवस्थित कर लिया था।

राजनैतिक स्थिति अस्थिर होने से अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हो रही थी। सिक्कों का अभाव इस बात का स्पष्ट संकेत देता है कि इस काल की अर्थव्यवस्था में भी स्थिरता आ गई थी एव आयात-निर्यात या लेन-देन की मात्रा अन्तर्देशीय एंव विदेशी दोनों स्तरों पर कम हो गई थी।

इस काल की सामाजिक व्यवस्था का गहराई से विश्लेषण करने पर दो विचारधाराये स्पष्ट रूप से दिखाई पडती हैं। एक विचार धारा जाति व्यवस्था में बढ़ती हुई कठोरता, छूतपात, खान-पान एंव शादी के संबंध में रूढिवादिता का समर्थन करती है। इसका प्रमाण हमें 11 वीं शबाब्दी में अलबरूनी के विवरण से प्राप्त होता है जिसमें वह बताता है

कि हिन्दू समाज में जाति व्यवस्था ने गहरे पर्वत की तरह जडे जमा ली थीं। विभिन्न जातियो ने संकरे घेरे बना लिये थे और अलगाववाद की प्रवृत्ति ने ऐसा वातावरण बना दिया था कि एक जाति वर्ग के लोग दूसरी जाति वर्ग के लोगों को मूर्ख समझते थे।[1] 8 वी शती के कुमारिल के तन्त्रवार्तिक से पता चलता है कि लोग सामान्य तौर पर अपवित्र होने के भय के बिना दोस्तों एंव रिश्तेदारो से भोजन इत्यादि ले लेते थे, किन्तु अब पवित्रता एंव छूतपात की विचारधारा के कारण साथ में भोजन करने की प्रथा लगभग समाप्त हो गई थी।[2]

इस विचारधारा के ठीक विपरीत एक अन्य विचारधारा भी इस काल में दिखाई पड़ती है जो जाति व्यवस्था मे कुछ उदारता की तरफ संकेत करती है। 11वीं शती के एक जैन अध्यापक अमितगति अपनी धर्मपरीक्षा में कहते हैं कि यह अपना व्यक्तिगत व्यवहार है जिससे जाति निश्चित होती है।[3] 8वीं शती का गुर्जर प्रतिहार अभिलेख कलियुग के प्रभाव के कारण वर्णाश्रम धर्म को व्यवस्थान्मूलित बताता है।[4] क्षेमेन्द्र भी इस युग के ढीले पड़ते जाति के बंधन की आलोचना करते हुए कहते हैं कि चातुर्वण्य व्यवस्था का क्रम बहुत अव्यवस्थित हो गया था जो गिरावट का खतरनाक चिन्ह था; जिसमे कलियुग का समाज गिरने लगा था।[5]

इसी प्रकार जाति व्यवस्था के नियमों मे शिथिलता मेधातिथि के विचार से प्रकट होती है। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि अनुलोम एंव प्रतिलोम विवाह पर अपने परिवर्तित विचार प्रस्तुत करते है। मेधातिथि व्यवस्था करते हैं कि यद्यपि अनुलोमों मे भी वर्ण संकरता पाई जाती है, किन्तु वे अपनी माता की जाति के विशेषाधिकारों को प्राप्त करते हैं जबकि प्राचीनकाल में मनु ने विधान किया था कि सन्तान माता एंव पिता दोनों से निम्न जाति के अधिकार प्राप्त करती थी, यह वर्णसंकरता को रोकने के लिए कठोर नियम बनाया गया था जबकि मेधातिथि का विचार तत्कालीन समाज में जाति व्यवस्था में आ रहे ढीलेपन को प्रदर्शित करता है।[6]

मेधातिथि के जात्युत्कर्ष एंव अपकर्ष संबंधी विचारों के विश्लेषण से भी पता चलता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण संकरता के प्रति भी कठोरता में कमी आ गई थी। प्राचीन काल में मनु[7] के अनुसार जात्युत्कर्ष सातवीं पीढ़ी में संभव था जबकि मेधातिथि[8] इसके लिए पांच

पीढ़ियॉ ही पर्याप्त बताते हैं। ठीक इसी प्रकार जाति अपकर्ष के लिए भी मेधातिथि पांच पीढियॉ ही पर्याप्त बताते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल के जाति व्यवस्था को यद्यपि कुछ साहित्यिक साक्ष्यों में कठोर होते हुए बताया गया है फिर भी गहन विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इस काल में जाति व्यवस्था में लचीलापन आ रहा था, जिसके पीछे सम्भवत तत्कालीन परिस्थितियाँ काम कर रही होगी।

इस काल के ग्रन्थो एंव पुराणो से ज्ञात है कि ब्राह्मणों को पारम्परिक रूप से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एव कानूनी विशेषाधिकार प्राप्त थे। आर्थिक विशेषाधिकारो में करारोपण से मुक्ति, गढ़े हुए धन का पूरा हिस्सा एंव कुछ विशेष उपहारों की प्राप्ति इत्यादि थे। गुजरात से प्राप्त 1230 ई0 का सोमसिंह नामक राजा के अभिलेख से पता चलता है कि ब्राह्मणों को करों से मुक्त रखा जाता था। किन्तु अल्तेकर महोदय,[9] इस विचार पर शंका प्रकट करते है क्योकि यह राजा की प्रशंसा के संदर्भ में आया है। किन्तु इस तथ्यके अन्य भी प्रमाण मिलते है कि श्रोत्रिय ब्राह्मण करों से मुक्त थे। अलबरूनी[10] एव सोमेश्वर[11] के उल्लेखों से भी ब्राह्मणों के कर मुक्ति के अधिकार का पता चलता है। इस काल में भी संभवत: प्राचीन काल से चले आ रहे ब्राह्मणों के विशेषाधिकार पूर्ववत बने रहे। अलबरूनी के उद्धरणों से ब्राह्मणों को प्राप्त अन्य कानूनी अधिकारों के बारे में भी संकेत मिलता है। जैसे यदि ब्राह्मण किसी व्यक्ति की हत्या करे तो उसे केवल उपवास रखना, प्रार्थना करनी तथा दण्ड स्वरूप कुछ धन देना पडता था।[12] तथा कुछ विशेष अपराधों के लिए उन्हें कमतर दण्ड मिलता था, किन्तु उनसे उच्च नैतिक स्तर की अपेक्षा की जाती थी इसलिए चोरी के लिए कठोर दण्ड दिया जाता था।[13]

ब्राह्मणों की सुरक्षा के लिए अनेक नियम बने हुए थे।[14] एक ब्राह्मण की हत्या करना पाप माना जाता था और इसे बहुत घृणित समझा जाता था।[15] किन्तु 11 वीं शती में कुल्लूक भट्ट के उद्धरणों से पता चलता है कि ब्राह्मणों के इस सुरक्षा सबंधी विशेषाधिकार में कमी हो गई थी। अभी तक ब्राह्मणों को प्राणदण्ड से मुक्ति प्राप्त थी, किसी भी अवस्था में ब्राह्मण का वध जघन्य अपराध था, किन्तु कुल्लूकभट्ट[16] ने व्यवस्था की कि यदि भागकर भी अपने प्राण न बचाये जा सकें तो आक्रमणकारी गुरू

या ब्राह्मण या किसी भी अन्य आततायी को मारा जा सकता है। जबकि ९वी शती मे मेधातिथि इसका विरोध करते दिखाई पडते है। इस प्रकार सर्वशक्तिसम्पन्न ब्राह्मण को पूर्वमध्यकाल मे आकर यह प्रथम झटका लगा जब किसी भी परिस्थिति में ब्राह्मण को मारना जघन्य पाप नहीं बताया था। जबकि प्राचीन काल मे आततायी ब्राहमण का वध भी घृणित था। उत्तर भारत में राज्य करने वाले मुख्य राजपूत गुहिल, गुर्जर, प्रतिहार, चम्पा, चहमान, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चंदोल, श्परमार गड़वाल इत्यादि थे जो स्वंय को राजपूत कहते थे। अभिलेखो में इन्होने अपनी उत्पत्ति माउण्ड आबू पर्वत पर वशिष्ठ द्वारा किये गये यज्ञ से बतायी है जो कि अग्निकुल सिद्धान्त कहलाता है। स्मिथ[17] का मानना है कि हूण गुर्जर जैसी विदेशी जातियों के देसी सम्मिलन से इन चारों की उत्पत्ति हुई जो कि मुख्य रूप से राजपूत माने जाते हैं - परमार, चालुक्य, चाहमान, प्रतिहार । डा० घोषाल[18], स्मिथ के इस मत से सहमत नहीं हैं। कल्हण अपनी राजतरंगिणी[19] में 36 मूल राजपूत जातियों का उल्लेख करता है। इस काल में सर्वप्रथम राजपूतों को क्षत्रिय वर्ग मे सम्मिलित माना गया है।

पूर्व मध्यकाल की यह एक प्रमुख विशेषता है जब किसी विदेशी जाति के सम्मिश्रण से उत्पन्न जाति को पारम्परिक वर्णक्रम में स्थान दिया गया। इस काल के साहित्य से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों को राज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व वहन करने के कारण कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। अलबरूनी बताता है कि चोरी करने का अपराधी ब्राह्मण अंधा किया जा सकता था। जबकि एक क्षत्रिय को दांये हाथ या बांये पैर में चोट की जाती थी, इसके साथ ही उन्हें कितने भी घृणित अपराध के लिए मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था।[20]

पूर्वमध्यकाल में भूमिअनुदानो की बढती हुई संख्या के कारण एक प्रतिष्ठित भूमिधारी वर्ग उपस्थित हो गया था, व्यापार एंव वाणिज्य में गिरावट के कारण वैश्यों को अपने वर्ण कर्म के साथ जीविकोपार्जन के लिए अन्य वर्णों के कर्म भी अपनाने पड़े। इस काल के साहित्य में वैश्यों की स्थिति में गिरावट आने का तथा उनके शूद्रों की[21] स्थिति तक पहुंचने का एक अस्पष्ट सा उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में 'विष्णु पुराण'[22] शूद्रों को भाग्यशाली मानते हुए कहता है कि वैश्य कृषि-व्यापार का त्याग करके मामूली कारीगरों की तरह शूद्रों के धंधे, दासता और कारीगरी के

काम शुरू करके उन्हीं को व्यवसाय के रूप मे अपना लेगे (कारूकर्मोपजीविन)[23]। इस काल में वैश्यो के पतन का उल्लेख स्कन्द पुराण[24] मे भी मिलता है कि इस काल मे वैश्य वाणिज्य-व्यापार छोडकर तैलिक या चावल कूटने वाले (तदुलकारिणी) बन जायेगें और उनमें से बहुत से लोग राजपूत सरदारो के आश्रित हो जायेगें। क्षेमेन्द्र के 11 वी सदी के दशावतारचरित[25] में उपलब्ध पतन के युग के विवरण को ध्यान में रखकर विश्लेषण करें तो वैश्यों के शूद्रों की स्थिति प्राप्त कर लेने का अर्थ यह लगाया जा सकता है कि आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के क्रम[26] में शूद्र दास और सेवक मुख्यत. आश्रित किसान (पट्टेदार, बटाईदार और खेतिहर मजदूर) बन गये थे।[27]

वैश्यों एंव शूद्रों के मध्य भेद तो मनुस्मृति[28] एंव बौधायन धर्मसूत्र[29] के काल से चला आ रहा है। डा0 अल्तेकर एंव घुर्ये भी वैश्यों की शूद्रां के स्तर तक की निम्न स्थिति से सहमत हैं। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[30] वैश्यो के लिए निषिद्ध वस्तुओ का व्यापार करने की अनुमति देते हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्य काल तक आते-आते वैश्यों ने अपने परम्परागत व्यापार एंव वाणिज्य के कार्य के साथ-साथ निम्न स्तर के कुछ शिल्पों एंव कारीगरी के पेशों को अपना लिया था। किन्तु अलबरूनी[31] के इस मत से कभी सहमत नहीं हुआ जा सकता है कि वैश्यों की स्थिति शूद्रों के स्तर तक गिर गई थी और ये दोनों एक कस्बे में रहने लगे थे एंव आपस में खान-पान एंव विवाह का संबंध स्थापित करने लगे थे। वस्तुत: निम्न स्तर के पेशों को अपनाने के कारण शूद्रों के साथ कुछ संबंध अवश्य स्थापित हो गये होगें, किन्तु खान पान में छूतपात की बात सामान्य थी एव अन्तर्जातीय विवाह भी आम नहीं थे।

वैश्यों के आपदधर्म के संबध में मेधातिथि[32] ने विधान किया है कि वह शूद्रों की तरह पैर प्रक्षालन करें जूठा खाये तथा अन्य निम्न कार्य भी कर सकता था किन्तु संकट की स्थिति सामान्य होते ही वह इन कर्मों का त्याग कर दें।कुल्लूकभट्ट[33] 11वीं शती में लगभग ऐसा ही मत प्रकट करते हैं कि वैश्य द्विजाति की शुश्रुषा करना एवं अच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने जैसे निम्न कार्य केवल तभी तक कर सकता था जब तक कि

वह सकट ग्रस्त रहता था, अपनी स्थिति सुदृढ होते ही वह इन कर्मों का परित्याग करके प्रायश्चित करता था।

इससे भी स्पष्ट होता है कि शूद्रो के निम्न पेशों को वैश्य सामान्यतौर पर नहीं करते थे, बल्कि यह कार्य केवल आपद्काल में ही अपनाये जा सकते थे। इस कारण ही मोटे तौर पर देखने पर ऐसा प्रतीत होता था कि वैश्यों का स्तर गिर कर शूद्रो के स्तर तक पहुँच गया था। पूर्व मध्यकाल तक आते-आते जन्म के आधार पर वर्ण के निर्धारण की मान्यता ढीली पड़ने लगी थी। अत· शूद्र वर्ण मे अब एक वर्ण के लोग सम्मिलित न होकर एक समान पेशे के लोग सम्मिलित थे। इस प्रकार पेशे एंव आजीविका के आधार पर शूद्रों का एक विशाल वर्ग खड़ा हो गया था, जिसमें कृषक, कृषि मजदूर, कारीगर, शिल्पी नौकर इत्यादि सम्मिलिति थे। इसमें से सबसे बडा वर्ग खेतिहर मजदूरों का था, कुछ पुराणों एंव कानून वेत्ताओं ने भी कृषि को केवल शूद्रों का पेशा बताया है।[34] ह्वेनसांग 7 वीं शताब्दी में बताता है कि शूद्रों ने एक कृषक वर्ग तैयार कर लिया था जो खुदाई एव जमीन साफ करने का कार्य करते थे।[35] 10 वीं शती के यात्री इब्न खुदार्दबा ने भी यह कहा है कि शूद्र लोग पेशे से कृषि करते थे।[36] इस प्रकार जहाँ एक ओर वैश्यों का कृषि पर एकाधिकार टूटा वहीं दूसरी तरफ शूद्रों की स्थिति उच्च हो गई।

इस काल में शूद्रों की स्थिति सामाजिक रूप से भी सम्मानीय हो गई। लक्ष्मीधर हारीत[37] का उद्धरण लेते हुए बताते हैं कि शुद्ध मस्तिष्क वाला शूद्र भी शैतान मस्तिष्क वाले ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य की तुलना में श्रेष्ठतर हैं। कुछ अपात्रतायें भी इस काल में समाप्त कर दी गई। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[38] कहते हैं कि द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को आवश्यकता पडने पर नीच शूद्र से भी निरन्तर श्रद्धापूर्वक मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

एक अन्य स्थल पर मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि[39] एंव याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप[40] का कहना था कि शूद्रों को न तो गुलाम बनाया जा सकता था और न ये ब्राह्मण पर निर्भर हो सकते थे। वह व्याकरण तथा अन्य विज्ञानों का अध्यापक हो सकता था, तथा स्मृतियों में निर्दिष्ट किये गये उन सभी कृत्यों को सम्पन्न कर सकता था जो अन्य वर्णों के लिए निर्दिष्ट किये गये थे, वह देवताओं के नाम ले

सकता था और नामकरण आदि सस्कार भी मत्रोच्चार के बिना सम्पन्न करा सकता था।

मेधातिथि[41] शूद्रो की द्विज की सेवा के सिद्धान्त से असहमत थे और उन्हे निजधन रखने का अधिकार दिया। इस प्रकार गहन अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि शूद्रो की अपात्रतायें इस काल में काफी कम हो गई थी एव उन्हें सामाजिक दृष्टि से दयनीय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। प्राचीन समय मे बहुत से व्यवसाय वंशानुक्रमिक थे, जिससे धीरे-धीरे यह विचार दृढ़ होता गया कि वे लोग जो ऐसी जाति के होते हैं, जो गंदा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य है। स्थिति मे परिवर्तन के साथ यह विचारधारा बन गई कि उस जाति के लोग चाहे वह गंदा व्यवसाय अपनायें या न अपनायें उन्हें अस्पृश्य ही माना जाता है। इस काल के टीकाकारों ने अस्पृश्यता की कठोरता में ढील दी है। मनुस्मृति की व्याख्या में मेधातिथि[42] का कहना है कि प्रतिलोमों में केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य है, अत: प्रतिलोमों यथा सूत, मागध, आयोगव, वैदहक एंव क्षत्ता के स्पर्श से स्नान करना आवश्यक नही है। यही बात कुल्लूकभट्ट[43] में भी पायी जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि इनकी स्थिति में सुधार आ गया था।

इसके ठीक विपरीत अपरार्क[44] एव विज्ञानेश्वर[45] के अनुसार चाण्डाल की छायामात्र से मनुष्य अपवित्र हो जाता है यदि वह गाय की पूंछ की दूरी तक भी पहुँच गया हो। तत्कालीन परिस्थितियॉ संभवत: आजकल की तरह रही होगीं जबकि ज्यादातर निम्नस्तर के कार्य को अस्पृश्य नहीं माना जाता है, जैसे आजकल के अन्त्यजो में म्लेच्छ, धोबी, बांस का काम करने वाले, मल्लाहों, नटों को कुछ प्रांतों में अस्पृश्य नही माना जाता है। यही कारण होगा जिससे एक तरफ मेधातिथि एंव कुल्लूकभट्ट इसमें शिथिलता की बात करते है। दूसरी तरफ अपरार्क एंव विज्ञानेश्वर कठोरता की बात करते हैं।

इसी समय दक्षिण भारत में अलवार वैष्णव संतों मे तिरूप्पाण अलवार अछूत जाति के थे और नम्मालवार वेल्लाल जाति के थे, जो कि निम्न मानी जाती है। उत्तर भारत मे भी भक्ति आंदोलन के ज्यादातर संत निम्न जाति के थे जैसे कबीर जुलाहे, रैदास मोची थे। प्रथम सहस्त्राब्दी ई0 के मध्य के आस-पास मुख्यत: सामाजिक तथा आर्थिक तत्वों

के कारण दासता के क्षय की प्रवृत्ति प्रबल होती जान पडती है। इसका प्रथम संकेत नारदस्मृति[46] में दास्यमुक्ति के विधानों मे दिखाई पडता है। याज्ञवल्क्य स्मृति एंव नारदस्मृति मे जबरदस्ती दास बनाने का विरोध दिखाई पडता है।

पूर्वमध्यकाल आते-आते दासो की स्थिति मे और अधिक सुधार के लक्षण दिखाई पडने लगते है। मनु के ऊपर भाष्य करते हुए भारूचि[47] ने ऐसी स्थिति का सकेत दिया है जो दास शब्द को उसके मान्य अर्थ से प्राय: वंचित कर देने के समान थी, अर्थात् दास शब्द के परम्परागत अर्थ से भिन्न थी, किसी व्यक्ति से उसकी अर्जित वस्तु छीन लेना असंभव है फलत: उनकी सम्पत्ति हीनता लाक्षणिक अर्थ मे बताई गई मानी जानी चाहिए।[47 A]

उसने यह भी कहा है कि अत्यन्त परतन्त्रत्व सिर्फ जन्मजात दासों (गर्भदासों)[48] से ही सम्बद्ध था। इस प्रकार भारूचि ने मनु[49] की व्यवस्था कि दास किसी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता तथा गर्भदासों को छोड़कर बाकी अन्य सभी प्रकार के दासों की क्षीण होती पराधीनता का विवेचन किया है।

मेधातिथि[49A] ने भी कुछ नियमो के साथ सभी प्रकार के दासों के सम्पत्ति विषयक अधिकारों को स्वीकार किया है। मनु[50] का कथन है कि शूद्र दास को औपचारिक तौर पर मुक्त कर दिये जाने पर भी पराधीनता से मुक्त नहीं किया जा सकता है। इसपर टीका करते हुए भारूचि[51] ने स्पष्ट किया है कि शूद्रों की दासता से यहॉ तात्पर्य उनके वर्ण धर्म से है किन्तु मेधातिथि ने मनु के कथन को विशुद्ध शब्दाडंबर (अर्थवाद)[52] कहकर मानने से इंकार कर दिया है।

एक स्थल पर मेधातिथि भक्तदास[53] शब्द का उल्लेख गुलाम के अर्थ में न करके वैतनिक मजदूर[54] के रूप में करते हैं। मजदूरों के वेतन सं संबंधित एक अन्य श्लोक का भाष्य करते हुए उन्होंने फिर भक्तदास शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन पारम्परिक रूप से दास माने जाने वाले भोजनदास के रूप में नही बल्कि वेतन भोगी दास[55] के रूप में। किन्तु दासों के प्रकारों से संबंधित एक श्लोक पर भाष्य करते हुए मेधातिथि ने इस शब्द का अर्थ ऐसा व्यक्ति बताया है जो भोजन के एवज में दासता ग्रहण करता है।[56] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मेधातिथि

के काल तक वैतनिक श्रमिको से भक्तदासो की सादृशता काफी स्पष्ट विशेषता बन गई थी।

प्राचीनकाल में कर्ज न अदाकर पाना दासता का एक महत्वपूर्ण कारण था।[57] भारूचि[58] एव मेधातिथि[59] ने यह विधान किया कि कर्ज अदा करने में असमर्थ गरीब लोगो से मूल तथा ब्याज की अदायगी के लिए ऋणदास[60] के रूप शारीरिक श्रम करवाया जाये। उसने आगे यह भी कहा है कि कर्ज की अदायगी के लिए अपने को दास बना देश शास्त्रादेश के विरूद्ध है।[61]

पूर्वमध्यकाल के अभिलेखों मे दासदान के उल्लेख विरले ही मिलते हैं। इसकाल में युद्ध भी अब दास उपलब्ध कराने वाले कोई समृद्ध स्त्रोत नहीं रह गए थे। ध्वजाहत (युद्ध में बन्दी बनाया गया दास) शब्द की व्याख्या करते हुए मेधातिथि[62] ने युद्ध मे पराजित क्षत्रियों को दास बनाने की स्वीकृति देने वाली पूर्ववर्ती सम्मति को अस्वीकार करते हुए यह व्यवस्था दी कि इसका अर्थ पराजित स्वामी के दास कार्मिकों पर कब्जा कर लेना था इससे युद्धबंदियों को दास बनाने का विरोध करने वाली प्रवृत्ति का पता चलता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काल मे शूद्रों के साथ-साथ दासों की स्थिति में भी सुधार आया, अब दास अपनी निजी सम्पत्ति रख सकते थे, गुलाम के स्तर तक उनका शोषण नही किया जा सकता था इसके साथ ही वे अब स्वंय को बेच नहीं सकते थे। इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में भारतीय समाज में दास प्रथा की व्याप्ति तथा क्रियात्मक महत्व में, जो पहले भी काफी सीमित थे, भारी ह्रास आ गया था।[63]

इस समय जमीन की मिल्कियत वाले पहले के स्वतन्त्र वैश्य किसान आश्रित और आधीन स्थिति में पहुँच रहे थे, और व्यापार-वाणिज्य, मुद्रा अर्थव्यवस्था तथा शहरी जीवन के ह्रास, सामंत सरदारों तथा भूस्वामी श्रीमंतों के उदय तथा न्यूनाधिक बंद किस्म की कृषि-अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई प्रमुखता के कारण वैश्य वाणिकों तथा व्यापारियों का पतन हो रहा था।[64] विदेशी आक्रमणों, विदेशियों के यहॉ बसने तथा उनके एक हिस्से के और कुछ सीमावर्ती लोगों के शासक-अभिजात वर्ग के रूप में उदय के फलस्वरूप चार वर्णों वाली समाज व्यवस्था समूल हिल गई।[65]

चातुर्वण्य के ढाचे के अन्दर सामाजिक सरचना मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हो रहे थे। दासो सहित शूद्रों का एक बडा हिस्सा, मुख्यत: छोट आश्रित किसानो तथा खेतिहर मजदूरों के रूप में कृषि से सम्बद्ध हो जाने के बाद, सामाजिक तथा आर्थिक दर्जे की दृष्टि से ऊपर उठ रहा था और वैश्यो का एक हिस्सा (खास तौर से निचले दर्जे के स्वतन्त्र वैश्य किसान) शूद्रो की स्थिति की ओर खिसकते आ रहे थे। यह सब आर्थिक शक्तियों तथा समाजिक सघर्ष की विशिष्ट परिस्थिति के प्रभाव के अधीन घटित हो रहा था।

पूर्व मध्यकाल में विभिन्न सामाजिक दार्शनिक आयामों मे भी कुछ परिवर्तन के चिन्ह परिलक्षित होते है, जिन्हें तत्कालीन परिस्थितियो के संदर्भ में देखा जा सकता है। प्राचीनकाल के व्यवस्थाकारो[66] ने गुरू का विद्यार्थी को शिक्षा प्रदान करने के बदले में किसी भी प्रकार का धन लेने से मना किया था, किन्तु गुरू दक्षिणा प्राचीन काल में भी प्रचलित थी। मेधातिथि[67] एंव मिताक्षरा[68] ने लिखा है कि केवल शिष्य से कुछ ले लेने पर ही कोई गुरू भृतकाध्यापक नहीं कहा जाता, प्रत्युत निर्दिष्ट धन लेने पर ही पढ़ाने की व्यवस्था करने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र होता है, किन्तु आपात्काल में जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की गई थी।[69] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर अर्थ की प्रमुखता का स्पष्ट वर्णन मिलता है। गृहस्थाश्रम के संदर्भ में मनु[70] ग्रहस्थों के चार प्रकार बताये हैं कुसुलधान्यक महाभारत[71] के अनुसार जो षटकर्मो-यजन-याजन, पठन-पाठन, दान और प्रतिग्रह को सम्पन्न करते थे, कुम्भधान्य, जो यज्ञ, अध्ययन और दान में निष्ठावान रहते थे, अश्वस्तनिक वे गृहस्थ थे जो दान और अध्ययन में अधिक व्यस्त रहते थे तथा कपोतीमाश्रित उस गृहस्थ को कहा गया जिसकी रूचि केवल स्वाध्याय में ही थी। किन्तु पूर्वमध्यकाल में आकर भाष्यकारों ने कुसुल एंव कुम्भी की व्याख्या विभिन्न ढग से की है। कुल्लूकभट्ट[72] के अनुसार वह ब्राह्मण जिसके पास तीन वर्षों के लिए अन्न है, कुसुलधान्य कहलाता है और जिसके पास साल भर के लिए अन्न पर्याप्त है वह कुम्भीधान्य है जबकि मेधातिथि[73] इसे अन्न एंव धनतक विस्तृत कर देते है उनका कथन है कि जिसके पास अन्न या धन तीन वर्षों के लिए है, वह कुसूलधान्य है। गोविन्दराज[74] के अनुसार कुसूलधान्य एंव कुम्भीधान्य वे ब्राह्मण हैं जिनके पास क्रम से 12 और 6 दिन का

अन्न है। मिताक्षरा[75] भी गोविन्दराज के विचार से सहमत है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल मे जहाँ गृहस्थो का विभाजन अध्ययन, अध्यापन, दान एंव प्रतिग्रह के आधार पर होता था, वही पूर्वमध्यकाल मे आकर इसके अर्थो में परिवर्तन हो गया एंव यह विभाजन गृहस्थ के अन्न भण्डार एंव धन के आधार पर होने लगा अर्थात् अब अर्थ प्रधान हो गया था, यह परिवर्तित परिस्थितियों के कारण ही संभव हुआ होगा। यह काल सामदवाद का युग था, प्रत्येक व्यक्ति को जीविकापार्जन के लिए अर्थोपार्जन करना पड़ता था क्योकि सारे समीकरण बदल चुके थे, सामाजिक व्यवस्था अर्थ पर आधारित हो चुकी थी, आध्यात्मिकता का महत्व क्षीण हो रहा था, यद्यपि अन्य सारे आश्रमों को पालन यथावत चल रहे थे।

पूर्वमध्यकाल के साहित्य से ऐसे संकेत मिलते है कि इस काल में गोत्र, प्रवर इत्यादि के नियम कठोर होने लगे थे। मनु[76] के एक श्लोक पर टीका करते हुए मेधातिथि[77] ने नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने पर चन्द्रायण व्रत का प्रायश्चित बताया है और कन्या को छोड़ देने को कहा है। कुल्लूक[78] ने भी नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने को मना किया है। जबकि मनु ने नाना के गोत्र की कन्या से विवाह करने को मना अवश्य किया है किन्तु प्रायश्चित का विधान नहीं किया गया है, इससे स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल तक आते-आते मान्यतायें और गहरी होती हुई दृष्टिगत होती है।

एक अन्य स्थल पर मेधातिथि[79] मनु पर टीका करते हुए कहते हैं कि गोत्रों एंव प्रवरों की बाते मुख्यत: ब्राह्मणों से सबंधित हैं, क्षत्रिय एंव वैश्यों से नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि इसकाल में ब्राह्मणों ने प्रमुखता बनाई रखी थी तथा गोत्रों एंव प्रवरों की गणना केवल उन तक सीमित हो गई। इस काल में स्त्रियों की स्थिति कम शिक्षा, कम आयु में विवाह के कारण खराब होते हुए भी, उत्तराधिकार के रूप में पर्याप्त अधिकार मिलने के कारण पहले से बेहतर थी। कात्यायन[80] ने वृहस्पति[81] एंव नारद[82] के मत का समर्थन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है पुत्र के अभाव में पुत्री ही उत्तराधिकारी होती है। अलबरूनी[83] ने भी पुत्र के अभाव में पिता की सम्पत्ति में पुत्री के उत्तराधिकारिणी होने के नियम की पुष्टि की है। जीमूतवाहन ने दायभाग[84] एंव मिताक्षरा[25] ने कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की संस्तुति की है। मनुस्मृति पर टीका

करते हुए कुल्लूकभट्ट[86] भी कहते हैं कि अविवाहित कन्या एक चौथाई, आधा या अपने भाई के बराबर हिस्सा प्राप्त करती है, किन्तु इस के लिए यह आवश्यक था कि कन्या जीवनपर्यन्त अविवाहित रहे।

इसी प्रकार दायभाग के लेखक जीमूतवाहन[87] एव मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर[88] के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करती है, जबकि मनुस्मृति[89] के अनुसार पुत्र के अभाव में पुरूष के धन का भागी पिता या भाई था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इस काल में स्त्रियो के उत्तराधिकार में काफी परिवर्तन आया, पुरूष के उत्तराधिकार में स्त्रियाँ कभी पुत्री एव कभी विधवा के रूप मे स्थान प्राप्त करने लगी थीं।

किन्तु इस आर्थिक अधिकारों को प्राप्त करने के कारण स्त्रियों पर अनेक प्रकार के कठोर बंधन लगा दिये गये, इसके पीछे यह भय की भावना कार्य कर रही थी कि परिवार का धन परिवार से बाहर न चला जाये। पुत्री के रूप में पिता का उत्तराधिकार तभी प्राप्त होता था जब वह विवाह न करें।[90] इसी प्रकार विधवा को अमंगलो से सबसे बड़ा अमंगल घोषित किया गया।[91] जिससे वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी करने से वंचित न रह जाये।

इस काल के कुछ व्यवस्थाकारो ने भी सती प्रथा की प्रशंसा की है। कृत्यकल्पतरू में ब्रह्मपुराण का उद्धरण दिया गया है। जिसके अनुसार पति के मरने पर सत-स्त्रियों की दूसरी गति नहीं। भर्तृ-वियोग से उत्पन्न दाह का दूसरा कोई शमन नहीं। मेधातिथि[92] का कहना है कि यद्यपि अंगिरा ने अनुमति दी है, किन्तु यह आत्महत्या है और स्त्रियों के लिये वर्जित है। विज्ञानेश्वर[93] ने मेधातिथि का विरोध करते हुए निर्देश दिया है कि सती प्रथा सभी वर्णों में प्रचलित होनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि इस काल में समाज में सती प्रथा प्रचलित थी, किन्तु सभी व्यवस्थाकार इसे उचित नहीं ठहराते थे। संभवत: सती प्रथा को बढावा देने के पीछे उनको प्राप्त आर्थिक विचार काम कर रहे थे। दायभाग[94] में यह उल्लेख भी मिलता है कि सम्पत्ति के लालच में अन्य परिवार अब विधवा को सती होने के लिए उत्तेजित करते थे। मेधातिथि ने स्त्रियों के धन के ऊपर अन्य किसी भी प्रकार के अधिकार को नकारते हुए, केवल स्त्रीधन पर उनके अधिकार का उल्लेख किया है।

इस प्रकार सक्षेप में कहा जा सकता है पूर्वमध्यकाल के विचारकों ने स्त्रियों को पर्याप्त आर्थिक अधिकार प्रदान किये थे, जिससे समाज में उनकी स्थिति कुछ सुदृढ होती हुई प्रतीत होती है।

धार्मिक दृष्टि से भी यह युग मिले जुले परिणामो वाला रहा है।धर्म को अब परम्परागत धर्म यथा-यज्ञ, तपस्या या देवी देवताओ की उपासना से सम्बद्ध न करके व्यवहारिक आचार के रूप में समझा जाने लगा था। मनु पर टीका करते हुए एक स्थल पर मेधातिथि[46] कहते है कि स्मृतिकारों ने धर्म के पॉच स्वरूप माने है। (1) वर्ण धर्म (2) आश्रम धर्म (3) वर्णाश्रमधर्म (4) नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित) तथा (5) गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण सबधी कर्त्तव्य)। इसी काल के तन्त्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्रों का कार्य है वर्णों एंव आश्रमों के धर्मों की शिक्षा देना।

भारत प्राचीनकाल से ही विभिन्न धर्मों की भूमि रहा है, एव एक धर्म दूसरे धर्म के साथ सौहार्द्र पूर्ण ढंग से व्यवहार करते थे। इस काल में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है साहित्यिक एंव अभिलेखी साक्ष्यों से प्रकट होता है कि विभिन्न धर्मों एंव पंथों के अनुयायी बहुत ही सामंजस्य की प्रकृति प्रदर्शित करते थे। पाल राजवंश के अर्न्तगत बंगाल में बौद्ध धर्म एव ब्राह्मण धर्म साथ-साथ पनप रहे थे। कश्मीर मे यद्यपि राजा एंव रानियॉ शैव एंव वैष्णव धर्म के अनुयायी थे किन्तु बौद्ध धर्म को भी संरक्षण देते थे।[97] प्रतिहार नरेश महेन्द्र पाल (898 ई0) के दिगवादवाउली अभिलेख से पता चलता है कि एक परिवार से विभिन्न सदस्य भिन्न धर्मों एंव देवताओं की उपासना करते थे। विभिन्न धार्मिक पंथों का परस्पर सामंजस्य एंव सौहार्द्र इस काल के स्थापत्य में भी दृष्टिगत होता है। इस काल मे विभिन्न देवी-देवताओ की संयुक्त प्रतिमा का अंकन हुआ है। संयुक्त प्रतिमाओं में हरिहर[99] की प्रतिमा सर्वप्रथम आती है। फिर हरिहर हरण्य गर्भ (सूर्य, विष्णु, शिव, ब्रह्मा)[100], त्रिमूति (ब्रह्म, विष्णु, महेश), अर्द्ध नारीश्वर (शिव एव शक्ति) आते हैं। इन ब्राह्मणवादी देवताओं के अतिरिक्त और बहुत से ब्राह्मणवादी एंव बौद्ध देवता संयुक्त रूप से दिखते हैं। इस प्रकार एक हरिहर की प्रतिमा बिहार से प्राप्त है जो कि भारतीय संग्रहालय में रखी हुई है।[102] इस प्रतिमा में बीच में हरिहर की प्रतिमा है एक किनारे पर सूर्य एंव एक किनारे पर

बुद्ध की प्रतिमा अंकित है। बुद्ध को कई बार इन्द्र एव ब्रह्मा के साथ अंकित किया गया है खजुराहो के जैन मदिरो में ब्राह्मणवादी देवी देवताओं का स्वतन्त्र रूप से अंकन् हुआ है। इससे स्पष्ट होता है इस काल में विभिन्न धर्मों के लोग परस्पर मिलजुल कर रहते थे जो इस काल के साहित्य, अभिलेख एंव स्थापत्य में प्रतिबिम्ब हो रहा था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस काल में साम्प्रदायिक सौहार्द्र प्रमुख तत्व रहा है। इस समय विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय एक साथ फल फूल रहे थे। हिन्दूओ के प्रमुख पथ-वैष्णव, शैव, शाक्त इस समय बहुत प्रचलित थे। सामान्य जन मे यह विश्वास था कि स्वर्ग एव नरक व्यक्ति अपने कर्मों से प्राप्त करता है। इस काल में तन्त्र का बढता हुआ प्रभाव सभी धर्मों को प्रभावित कर रहा था। कोई भी धर्म इस के प्रभाव से बच नहीं रहा था। शैव धर्म मे कौल, कापालिक एंव त्रिक जैसी तांत्रिक शााखाओं ने जन्म ले लिया था।

जैन एंव बौद्ध धर्म बढ़ते हुए ब्राह्मणवाद का सामना करने में असमर्थ थे एंव इसके साथ ही इनका विस्तार क्षेत्र भी सीमित होता जा रहा था, जैन धर्म ने अपने को एक वर्ग विशेष से जोडकर अपने अस्तित्व की रक्षा की, जबकि बौद्ध धर्म उत्तर भारत से समाप्त होकर कुछ समय तक पूर्वीभारत में केन्द्रित हो गया था और धीरे-धीरे अपनी जन्म स्थली से यह समाप्त सा हो गया। मत्तविलासप्रहसन में बौद्धभिक्षुओ का उपहासपूर्ण विवरण प्राप्त होता है, जोकि इस धर्म के ह्रास का प्रतीक है।

पातक, प्रायश्चित, तीर्थो एव श्राद्ध का विधान थोडे बहुत परिवर्तन के साथ परम्परागत रूप से चला आ रहा था। श्राद्ध के संबध में विचारों में कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होते है। एक सामान्य नियम यह था कि उपनयन विहीन बच्चा शूद्र के समान है और वह वैदिक मंत्रों का उच्चारण नहीं कर सकता। गौतम[104], मनु[105], वसिष्ठ[106] एंव विष्णु[107] ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[108] ने विचार व्यक्त किये हैं, कि अल्पवयस्क पुत्र भी, यद्यपि अभी वह उपनयनविहीन होने के कारण वेदाध्ययन रहित है, तथापि वह अपने पिता को जल तपर्ण कर सकता था। नव श्राद्ध कर सकता था। इस समय वह वैदिक मंत्रोच्चार भी कर सकता था, यह बहुत बड़ा परिवर्तन

था कि उपनयनविहीन व्यक्ति मत्रोच्चार कर सके क्योकि बिना उपनयन के वह शूद्र सदृश समझा जाता था और उन्हे वैदिक मंत्रोच्चार की अनुमति नही थी।

पूर्वमध्यकाल के लेखको ने श्राद्ध के समय मास का भोजन देने के सम्बन्ध में भिन्न-2 विचार प्रस्तुत किये है। हेमाद्रि[102] स्पष्ट शब्दों में श्राद्ध में मांस अर्पण के पक्ष में विचार प्रस्तुत करते हैं।पुलस्त्य[103] ने मिताक्षरा एंव अपरार्क से उद्धरण लेकर यह बताया है कि ब्राह्मण द्वारा सामान्यत: श्राद्ध में यति भोजन अर्पण करना चाहिए, क्षत्रिय या वैश्य द्वारा मांस अर्पण, शूद्र द्वारा मधु का अपर्ण करना चाहिए। चाहे कर्त्ता कोई भी हो श्राद्ध में केवल ब्राह्मण आमंत्रित होते थे। इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय या वैश्य द्वारा आमंत्रित ब्राह्मण को मांस खाना पडता था। मिताक्षरा एंव कल्पतरू से ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है कि कलियुग मे कम से कम ब्राह्मणों के लिए मांस प्रयोग वर्जित है, किन्तु सभी वर्ण के लोग मांस अर्पण नही करते थे, इससे स्पष्ट होता है कि श्राद्ध में मास अर्पण को अब कम पसंद किया जाने लगा, आगे चलकर यह वर्जित हो गया। जबकि प्राचीन काल में ऐसा विचार था कि मांस अर्पण से पित्र ज्यादा सतुष्ट होते है। आज भी केवल बगाल इत्यादि प्रान्तो को छोडकर पूरे उत्तर भारत में कहीं भी श्राद्ध मे पितरों को मांस नहीं अर्पित किया जाता है।

पवित्र स्थल पर आत्महत्या करने की प्रथा संभवत: काफी प्राचीन काल से चली आ रही थी।किन्तु पूर्व मध्यकाल में इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। ह्वेनसांग[109] के कथन से इस प्रथा के प्रचलन का पता चलता है जब वह बताता है कि सामान्य धारणा थी कि जो व्यक्ति वटवृक्ष से नदी में कूद जाता था और उसी में डूब कर प्राण दे देता था उसके लिए स्वर्ग का सीधा मार्ग खुल जाता था। प्रयाग में आत्महत्या के अभिलेखीय प्रमाण भी प्राप्त होते हैं- 1000 ई0 में चन्देल वंशीय धग[110] एंव 1042 ई0 में चेदिवंशीय गांगेयदेव[111] 1068 ई0 में चालुक्य वंशीय सोमेश्वर[112] के प्रयाग मे आत्महत्या करने का उदाहरण मिलता है। लक्ष्मीधर के ग्रंथ तीर्थ विवेचन खण्ड के एक अध्याय महापथयात्रा[113] में लेखक ने हिन्दू एंव शाक्त पुराण (जैसे देविपुराण) का उद्धरण देते हुए बताया है कि इस अध्याय में धार्मिक आत्महत्या के विभिन्न मार्ग बताये गये हैं।[114] अलबरूनी[115] के अनुसार वाराणसी ऐसा स्थान था जहाँ

महापुरूष आकर निवास करते है और जीवन का अत कर लेते थे। इसके अनुसार इस शहर के अन्दर प्रवेश करने वाले मात्र से सब पाप धुल जाते थे।

इस काल मे जहा तीर्थों ने प्रमुखता प्राप्त की, वही इस काल की एक प्रमुख विशेषता थी कि इस समय न केवल तीर्थों की बल्कि तीर्थों के प्रतीकों की भी उपासना की जाती थी। तीर्थ भ्रमण एव तीर्थ तक पहुंचने के मार्ग मे कोई वर्ण भेद, अस्पृश्यता के नियम नहीं माने जाते थे। यह इस काल के बाह्य आडम्बरों का एक और उदाहरण है कि किस प्रकार तीर्थ तक पहुँचने के मार्ग में किसी से भी सहायता लेने की अनुमति प्रदान कर दी गई, किन्तु दूसरी दृष्टि से देखे तो प्रतीत होता है कि जहाँ तक अस्पृश्यता में बढती कठोरता का प्रश्न है वह तीर्थों से संबंधित मार्गों एंव स्थलों पर समाप्त हो जाती थी। शूद्रों एव अस्पृश्यो को अपने अराध्य की उपासना का स्वतन्त्र अवसर प्राप्त था।

पूर्वमध्यकालीन राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर थी, साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था, जो अपने अस्तित्व के लिए लगातार संघर्षरत रहते थे, किसी एक केन्द्रिय शक्तिशाली शासन का अभाव हो गया था। इस काल में युद्ध के सैनिको को वेतन के रूप मे एवं अन्य व्यक्तियों को उपहार स्वरूप भूमि अनुदान देने की परिपाटी चल निकली थी, इसका प्रारम्भ गुप्तकाल से हुआ था और इस समय यह अपने शिखर पर पहुँच गई थी, इससे एक नया भूमिधारी सामंतों का वर्ग उदित हो रहा था, जो अपने को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए लगातार अपने अधीनस्थों से युद्ध करते रहते थे एंव समय-समय पर अपने आश्रयदाता का विरोध करते रहते थे। इन सबको मिलाकर एक अशात एंव अस्थिर वातावरण बना हुआ था जिसे राज्य की सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक स्थिति प्रभावित हो रही थी। इस काल के टीकाकारो ने राजनीति के संबंध में यत्रतत्र परिवर्तित विचार प्रस्तुत किये हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि इस काल में कुछ परिभाषाओं के मानदण्ड बदले रहे थे। राजधर्म क्या है? इस पर मनु[116] की व्याख्या-"राजा का आचार, उसकी उत्पत्ति और जिस प्रकार उसकी इस लोक और परलोक में परम सिद्धि हो उन सब को राजधर्म कहा जाता है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[117] धर्म को कर्त्तव्य के अर्थ में लेते है और कहते हैं कि राजा के कर्त्तव्य या तो

दृष्टार्थ (अर्थात् जिनके प्रभाव सांसारिक हो और देखे जा सके) है या अदृष्टार्थ(अर्थात् जिन्हे देखा न जा सके, किन्तु उनका आध्यात्मिक महत्व है।) यथा अग्निहोत्र उन्होंने राजधर्म को स्पष्ट रूप से राजा के कर्त्तव्यो से सबंधित कर दिया।

एक अन्य स्थल पर मेधातिथि[118] राजनीतिक नियमों के निर्माण के संबंध में स्पष्ट रूप से कहते हैं; कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रथों के आधार पर नही बने है। प्रत्युत वे मुख्यत. सांसारिक अनुभवों पर आधारित हैं। इस प्रकार अब राजनीति परम्परागत नियमों के आधार पर न निर्धारित होकर व्यवहारिक रूप से सांसरिक अनुभवो पर आधारित हो गई थी।

राजा निर्वाचित होने की प्रथम योग्यता क्षत्रिय होना सभवत इस काल में आवश्यक नहीं रह गया था। जहाँ प्राचीनकाल में राजा शब्द का एक अर्थ क्षत्रिय था एंव मनुस्मृति[119] में क्षत्रिय को ही राजा होने के योग्य बताया गया है वही मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट[120] का विचार है कि राजा शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो व्यक्ति प्रजा रक्षण का कार्य करता है वह राजा है। यही तथ्य अवेष्टि नामक कृत्य के संबंध में कही गई है, जो कि राजसूय का एक प्रमुख अग है। राजा राजसूय यज्ञ करता था, अवेष्टि के सम्पादन के संबंध मे ब्राह्मणों, क्षत्रियो एंव वैश्यों की भी चर्चा हुई है, इससे प्रकट होता है कि राजसूय करने वाला राजा किसी भी जाति का हो सकता है। इस समय तक कई अन्य वर्णों यथा वैश्य वर्ण-गुप्तवंश, ब्राह्मण-शुंगवंश, कण्व वंश वाकाटकवंश ने सफलतापूर्वक शासनकार्य संभाला था, इसी से प्रेरित होकर कुल्लूकभट्ट ने किसी भी जाति के राजा के नियुक्ति की बात की है अभी तक युद्ध भूमि में वीरगति प्राप्त करने वाला राजा प्रशंसनीय था किन्तु पूर्वमध्यकाल आते-आते मेधातिथि[125] के अनुसार जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त राजा के साथ जो-जो स्नान करते हैं, सभी पापमुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी जाति वाले सैनिक युद्ध में मर जाने पर पापरहित हो जाते है।

राजा के कर्त्तव्यों में विद्यार्थियों, विद्वानों, ब्राह्मणों एंव याज्ञिकों की रक्षा करना सम्मिलित माना गया है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[122] कहते हैं कि विपत्ति एंव अकाल के समय में राजा को

अपने कोष से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजापालन करना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जैसे आधुनिककाल मे सरकार ने जनता के सेवार्थ नि:शुल्क चिकित्सा इत्यादि की सुविधाए प्रदान की थी। उसी प्रकार पूर्व मध्यकाल में यह राजा का कर्त्तव्य माना जाता था कि वह प्रजा की रक्षा करें एंव विपत्ति एंव अकाल के समय अपने कोष से भोजन इत्यादि की व्यवस्था करें।

जहॉ मनु[123] का कहना है कि राजा में सभी देवताओ की दीप्ति विद्यमान रहती है, अत: सम्यक् आचरणों एंव अनुचित आचरणों के विषय में वह जो कुछ नियम बनाता है उसका उल्लघंन नहीं करना चाहिए। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[124] साधारण राजनियमो की व्याख्या करते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध नहीं करना चाहिए, अर्थात उसे वर्णाश्रम धर्म के विरोध में नहीं जाना चाहिए, यथा अग्निहोत्र आदि का विरोध नहीं करना चाहिए। एक अन्य स्थल पर मेधातिथि[125] कहते हैं कि राजा का शासन इतना सुदृढ़ एंव कठोर होना चाहिए कि अकाल के समय राजा भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहॉ एक तरफ मेधातिथि कहते हैं कि राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध नही करना चाहिए एव विपत्ति आकाल के समय प्रजा के लिए भोजन इत्यादि का प्रबन्ध करना चाहिए वहीं नियंत्रण के संबंध में मेधातिथि विचार व्यक्त करते हैं कि राजा अकाल के समय भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है।

मनुस्मृति[126] में उल्लेख प्राप्त होता है कि रिश्वत लेने वाले से राजा सर्वस्व हरकर उन्हें देश निकाल दे दे। मेधातिथि[127] इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि उस राज्य को नाश का भय नहीं, जहां से कण्टक (दुष्ट लोग) निकाल बाहर किये जाते हैं और न्याय की दृष्टि में सब समान समझे जाते हैं। मेधातिथि[128] ने साथ ही यह भी संकेत दिया है कि अधिकतर कण्टकों को रानी, राजकुमार, राजा के प्रिय पात्रों एंव सेनापति के यहाँ आश्रय मिलता है। इससे पता चलता है कि पूर्वमध्यकाल में भी रिश्वत लेना अपराध माना जाता था, इसके साथ ही इन्हें आश्रय कहाँ मिलता था; इस पर भी विचार व्यक्त किये गये हैं संभवत: उन्हें जल्दी ही ढूंढ निकाला जाता होगा एंव उनका निवारण किया जाता रहा

होगा। कण्टकों के आश्रय स्थल पर राजा कठोर दृष्टि रखता था, अर्थात उसके निरीक्षण से अब रानी, राजकुमार, प्रिय पात्र एंव सेनापति भी नही बचे थे। सब उसके सन्देह के घेरे मे आ चुके थे। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[129] एवं कल्लूकभट्ट[130] ने राजधानी की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि राजधानी पर शत्रुओं के अधिकार से गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सारा भोज्य पदार्थ, सैन्य बल इत्यादि एकत्र रहते हैं। आगे मेधातिथि[131] कहते है कि भले ही राज्य का कुछ भाग शत्रु जीत ले किन्तु राजधानी अविजित रहनी चाहिए। राजधानी ही शासन-तन्त्र की धुरी है। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में राष्ट्र से ज्यादा राजधानी को महत्व प्राप्त हो गया था और उसकी सुरक्षा के लिए अनेक उपाय किये जाने लगे थे।

मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[132] कहते हैं कि राजा खानों से खोदी गई वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओं के 1/6, 1/8 का अधिकारी है, क्योंकि वह भूमि का स्वामी है और सुरक्षा प्रदान करता है। इससे स्पष्ट होता है कि इस समय जब भूमि पर अनेक स्तरों में अधिकार रखने वाले व्यक्तियो, यथा-भूमिधारी वर्ग, सामंतवर्ग, उपसामत वर्ग, शासक वर्ग, के बाद भी अंतिम रूप से भूमि पर राजा का स्वामित्व माना जाता था। मेधातिथि[133] ने कुछ ऐसी वस्तुओं को गिनवाया है, जिस पर राजा का एकाधिकार था, जैसे- हाथियों के अतिरिक्त इनमें कुमकुम, रेशम, ऊन, मोती रत्न इत्यादि सम्मिलित थे।

युद्ध के सम्बन्ध में जहाँ कौटिल्य[134] विजय के लिए कपटाचरण के लिए संकेत करते हैं जबकि मनु[135] ने कहा है कि कपटपूर्ण या गुप्त आयुधों के साथ नहीं लडना चाहिए और न ही विषाक्त या शूलाग्र या जलती हुई नोकों वाले आयुधो से लड़ना चाहिए, पीठ दिखाकर भागने वाले को एवं प्राणरक्षा की भिक्षा माँगने वाले को नहीं मारना चाहिए, और कहा है[136] कि राजा को चाहिए कि वह शत्रु के देश को तहस-नहस कर दे, वहीं इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[137] कहते हैं कि शत्रु के देश के लोगों को यथासंभव, विशेषत: ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में युद्धों में उदारता प्रदर्शित की

दास बनाने को मेधातिथि[138] अस्वीकार करते है और साथ ही बताते है कि इसका अर्थ पराजित स्वामी के दासो पर कब्जा कर लेना बताया है इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि इस काल मे युद्धो में तहस नहस नही होता था एंव उदारता प्रदर्शित की जाती थी।

निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कर्त्तव्यो मे से एक था। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[140] कहते हैं कि लौकिक एंव पारलौकिक (अदृष्ट) कष्टों को दूर करना ही प्रजा-रक्षण है। पूर्वमध्यकाल मे भी प्राचीनकाल मे ही न्याय व्यवस्था चली आ रही थी।

भोग या भुक्ति के संबध मे कुछ परिवर्तित विचार दिखाई पड़ते हैं। जहॉ मनु[114] ने विधान किया था कि बधक एंव प्रतिभूति (धरोहर)समय के व्यवधान से समाप्त नहीं हो जाते, बहुत लम्बों समय के उपरान्त भी उन्हें लौटाया जा सकता है वहॉ 11वीं शती में मनु पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[142] इसके लिए 20 वर्ष की समय अवधि निर्धारित करते हैं। इसके उपरान्त व्यक्ति स्वामित्वहीन हो जाता था।

साक्षी के संबंध मे मनु[143] का विचार है कि लोभरहित केवल एक पुरूष साक्ष्य के योग्य ठहराया जा सकता है, किन्तु सच्चरित्र स्त्रियॉ नहीं क्योंकि उनकी बुद्धि अस्थिर होती है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[144] कहते हैं यदि विवाद स्त्री एंव पुरूष के मध्य हो और स्त्री एव स्त्री के मध्य में हो तो स्त्री योग्य साक्षी होती है, सभवत. यह समय के साथ विचारधारा में बदलाव का संकेत था। मनुस्मृति में स्त्रियों की अविश्वासनीयता का जो चित्रण किया गया है, पूर्वमध्यकाल तक आते-आते उन्हें अब सम्मानजनक दृष्टि से देखा जाने लगा था।

एक स्थल पर मनु तीरति एंव अनुशिष्ट शब्द का प्रयोग निर्णयों के पुनरावलोकन के अर्थ में करते हैं उनके अनुसार[145]- जब कोई व्यवहार संबंधी विधि सम्पन्न हो चुकी है (तीरति) या वहॉ तक जा चुकी हो जब कि असफल पक्ष से दण्ड लिया जा सकता है,तब बुद्धिमान राजा उसे काट नहीं सकता। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[146] एंव कुल्लूकभट्ट[147] ने इसका अर्थक्रम से इस प्रकार दिया है-''शास्त्रीय नियमों के अनुसार निर्णीत तथा असफल पक्ष के दण्ड लेने के रूप में। इस प्रकार यहाँ पर यह परिवर्तन दृष्टव्य है कि जहाँ मनुतीरति का अर्थ किसी

व्यवहार विधि के सम्पन्न हो जाने से लेते है। वही मेधातिथि इसे शास्त्रीय नियम के अनुसार निर्णीत बनाते है। इससे स्पष्ट है कि इस काल मे शास्त्रीय नियमों पर विशेष जोर दिया जाने लगा था। एक स्थल पर मनु[149] एंव वसिष्ठ[149] ने लिखा है कि जो लोग पाप करने के कारण राजा से दण्ड पाते हैं, वे अच्छे कर्म करने वालो के समान पवित्र होकर स्वर्ग जाते है, इस पर टीका करते है मेधातिथि[150] कहते है कि यह श्लोक केवल शारीरिक दण्ड के लिए ही प्रयोजित है, न कि धन संबधी दण्ड के लिए। इससे इस तथ्य का संकेत मिलता है पूर्वमध्यकाल में अर्थदण्ड ज्यादा दिये जाने लगे थे। इसी कारण मेधातिथि धनदण्ड के प्रचलन को ध्यान में रखकर बताते है कि वे स्वर्ग के अधिकारी नही है।

मनुस्मृति[151] में मंत्रबल से मारने वालों, जादू एंव भूत प्रेत करने वालों पर केवल 200 पण का हल्का दण्ड लगाया गया है वहीं पूर्वमध्यकाल के टीकाकारा मेधातिथि[152] एंव कल्लूकभट्ट[153] का विचार था कि यदि जादू सफल हो जाय तो दण्ड मृत्युदण्ड तक पहुँच सकता है। संभवत: पूर्वमध्यकाल में इसका प्रचलन बढ़ गया होगा। जिससे निबटने के लिए टीकाकारों ने कठोर दण्ड का विधान दिया होगा।

दायभाग के संबंध में विज्ञानेश्वर एंव जीमूतवाहन ने सम्पत्ति में स्त्रियों को भी अधिकार प्रदान किया है। अविवाहित रहने पर एक चौथाई, पुत्रहीन विधवा होने पर पति की सम्पत्ति पर सम्पूर्ण अधिकार दिया है। मेधातिथि[156] ने इसका विरोध करते हुए स्त्रियों के स्त्रीधन के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के अधिकार से असहमति जताई है।

मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[157] कहते है कि नियोग संबंधी एंव ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट अंश से संबंधित बातें केवल प्राचीन काल में ही प्रचलित थीं। काल एवं देश के अनुसार स्मृतियों के वचन परिवर्तित होते हैं। इस प्रकार मेधातिथि के वक्तव्य से स्वत: सिद्ध है कि पूर्वमध्यकाल में इस प्रकार के विशिष्ठ दाय प्रचलन में नही थे।

स्वयं का पुत्र या कोई संतान न उत्पन्न होने पर दम्पत्ति दूसरे दम्पत्ति से संतान ग्रहण करते हैं, तब यह सन्तान दत्तक कहलाती है। जहाँ मनु[158] समानजातीय दत्तक पुत्र की बात करते हैं, वहीं पर मेधातिथि[159] इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय को भी

गोद ले सकता है जबकि 11वी शती के कुल्लूक[160] इस तथ्य से असहमति प्रकट करते हुए कहते है कि दत्तक सदैव समान जातीय होना चाहिए।

पूर्वमध्यकालीन- भारत की अस्थिर राजनैतिक स्थिति से व्यापार वाणिज्य, उद्योग धन्धे मौटे तौर पर आर्थिक स्थिति प्रभावित हुए बिना न रह सकी। जिसका साक्ष्य तत्कालीन सिक्कों की कम मात्रा में उपलब्ध होने के रूप मे माना जा सकता है। मनु पर टीका करते हुए एक स्थल पर मेधातिथि[161] बताते है कि पण्य (व्यापार) जो कि द्रव्य के माध्यम से होता है इसे कभी-कभी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य से अदल बदल कर देते हैं अर्थात इससे स्पष्ट होता है कि इस समय व्यापारिक गतिविधियों में वस्तु विनिमय प्रचलन में था। साथ ही छोटे-छोटे सामन्तों के उदय से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड रहा था। एक भूमि क्षेत्र के कई अधिकारी होने से उत्पादकों का बहुत शोषण होने लगा, इसका उल्लेख तत्कालीन साहित्य में भी प्राप्त होता है। 11वीं शती के दरपदलाना में क्षेमेन्द्र बताते हैं कि शासकों द्वारा किसानो का शोषण हो रहा था। सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध[163] में एक ऐसा संदर्भ आता है जिसमें खून चूसने वाली कर व्यवस्था का विवरण मिलता है, मन्त्री लोगों की तुलना जोंक से की गई है। क्योंकि वह विभिन्न प्रकार से शोषण करके खजाना भरना चाहते थे। अपराजितपृच्छा[164] में भी लगभग ऐसा ही विवरण है कि राजाओ ने अपना महत्व गलत तथ्य से बचाने एव शोषणकारी कर व्यवस्था एंव वित्त व्यवस्था के कारण, खो दिया है। कश्मीर के श्री हर्ष[165] के उद्वरण से ज्ञात होता है कि करों का बोझ इतना बढ गया था कि उन्हें किसानों से जबरदस्ती लिया जाता था।

इस काल में शासक एव शासित के मध्य कई नये वर्ग खड़े हो गये थे, मनसरा अभिलेख[166] में करों की सूची दी गई है, जो आम जनता को विभिन्न श्रेणियों के राजा सामत एंव प्रमुखों को देनी पडती थी, यह बताती है कि चक्रवर्ती महाराज या अधिराज, नरेन्द्र, पारसनिक एंव पट्टहार क्रमशः उपज का 1/10, 1/6, 1/5, 1/4 और 1/3 भाग राजस्व के रूप में लेते थे, इससे जहाँ एक तरफ पता चलता है कि एक सामान्य नागरिक को कितने भारी करों का वहन करना पड़ता होगा, वहीं यह प्रश्न भी जटिल हो जाता है कि भूमि पर स्वामित्व किसका है।

सभवत· यही कारण होगा जिसके कारण इस काल के टीकाकार एव लेखक इस मत पर विचार प्रस्तुत करते समय भ्रमित से प्रतीत होते हैं।

मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[167] एक स्थल पर कहते है कि पृथ्वी में गडे धन का आधा भाग राजा प्राप्त करते, क्योंकि वह पृथ्वी का स्वामी है। वहीं एक ओर अन्य स्थल पर मेधातिथि[168] मनु पर टीका करते हुए व्यक्तिगत भूस्वामित्व का समर्थन करते हुए कहते हैं कि भूमि उसकी होती है जो उसको साफ करके कृषि योग्य बनाता है। इस वक्तव्य पर आधुनिक इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये है। आर0सी0पी0 सिंह कहते हैं कि विचारों में विरोधाभास अवश्य है किन्तु यदि मेधातिथि के मस्तिष्क में सम्मिलित अधिकार की बात होती तो इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते, मुख्यत: मेधातिथि व्यवहारिक रूप से भूमि पर राजा के स्वामित्व को स्वीकार करते हैं। जबकि लल्लन जी गोपाल[169] का मत है कि मेधातिथि स्पष्ट रूप से भूमि पर व्यक्ति विशेष के अधिकार का समर्थन करते हैं यह भूमि अनुदानो में भूमि स्वामित्व के आधार दान में देने को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

किन्तु गम्भीर विचार करने से स्पष्ट होता है कि भूमि में गड़े धन मे राजा का हिस्सा राजा की सम्प्रभुता सिद्ध करता है। जो राज्य की सभी चीज़ों पर होती है। जैस भूमि, खान, खेतीयोग्य भूमि, चरागाह, इत्यादि। जबकि दूसरे स्थल पर जब मेधातिथि कहते हैं कि भूमि उसकी है जो उसे साफ करके खेती योग्य बनाता है इससे कुछ इतिहासकार भूमि पर सम्मिलित व कुछ व्यक्तिगत स्वामित्व का निष्कर्ष निकालते हैं, जबकि कई प्रकार की भूमि रही होगी, खेती योग्य भूमि पर साफ करने वाले का अधिकार आवश्य रहा होगा, किन्तु उसका उपज में राजांश देना यही सिद्ध करता है कि अंतिम रूप से भूमि पर राजा का ही अधिकार था।

मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[170] औद्योगिक एंव व्यापारिक श्रेणियॉ पृथक-पृथक बताते हैं जिन्हे क्रमश: श्रेणी और गण या संघ कहा जाता था। वह इन दोनों में अन्तर बताते हुए कहते है कि श्रेणी के सदस्य व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र होकर कार्य कर सकते थे जबकि गण के सदस्य सामूहिक रूप से ही कार्य कर सकते थे। वह आगे बताता है कि श्रेणी विभिन्न प्रकार के सामान्य कार्य करने वाले लोगों का

समूह था जैसे कारीगरी, महाजन इत्यादि एक स्थल पर वह बताते है कि विभिन्न प्रकार के व्यापारियो का सगठन सघ कहलाता था जिसमे विभिन्न धर्म एंव जाति से सम्बद्ध लोग सम्मिलित होते है जो समान धन्धा करते हैं। सघ के समान ही श्रेणी के सदस्य भी विभिन्न जाति एंव समुदाय के हो सकते थे, किन्तु इनका पेशा आनुवंशिक होता था। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल मे व्यापारिक गतिविधियो तीव्र हो गई थी। एंव व्यापारिक संगठन भली भांति संगठित हो गये थे।

मेधातिथि[171] यह भी बताते है कि वास्तुकारों, राजगीरों, बढ़इयो इत्यादि एंव जो मिलकर संघ मे कार्य करते हैं, उनकी मजदूरी को इसी प्रकार बांटा जाता था कि जिसने ज्यादा मेहनत का एंव कठिन कार्य किया है उसे ज्यादा हिस्सा मिलना चाहिए, जिसने सरल कार्य किया है उसे कम, इससे स्पष्ट होता है कि उस समय मे मेहनत के अनुसार मजदूरी प्राप्त होती थी। एंव पारिश्रमिक का उचित बंटवारा होता था।

पूर्व मध्यकाल के साहित्यिक एव अभिलेखीय प्रमाणों से समुद्री व्यापारियों पर लगाये जाने वाले करों की पुष्टि होती है।[172] मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[173] बताते हैं कि एक भारवाही जहाज के कर निर्धारण के समय कई परिस्थितियों का ध्यान रखा जाता है, समुद्री यात्रा की दूरी, यात्रा में व्यतीत समय, मौसम, पानी की गहराई एंव जहाज की यात्रा में कितने श्रमिक लगे है। मनु के एक अन्य टीकाकार कुल्लूकभट्ट बताते हैं कि बिक्री हेतु वस्तुओं पर उचित अनुपात में कर लगाने के लिए उपरोक्त परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाता था। इससे स्पष्ट है कि समुद्र यात्रा का काफी बारीकी से निरीक्षण करने के बाद कर लगाया जाता था। इससे एक तरफ यह भी संकेत मिलता है कि इस काल में समुद्र यात्रा काफी प्रचलित थी। इस तथ्य की पुष्टि एक अन्य स्थल से प्राप्त प्रमाण से भी होती है। जिसमें मनु[174] कहते है कि समुद्री यात्रा में कुशल व्यक्ति को कितना धन देना है यह सुनिश्चित होना चाहिए, जिससे कि वह निश्चित स्थान एंव समय के आधार अपने लाभ की गणना कर सकें। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[175] कहते हैं कि समुद्री यात्रा का उल्लेख केवल यात्रा के लिए किया गया है, किन्तु केवल व्यापारियों के लिए ही, (धन देने का प्रावधान है, जोकि जल एंव स्थल मार्ग जानते हैं)

दिया जाने वाला धन निश्चित कर देना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काल मे व्यापारियो मे समुद्र यात्रा का काफी प्रचलन था।

(1) अलबरूनी, सचाउ पृ0 219

(2) कुमारिल का तंत्रवार्तिक

(3) अमितगति की धर्मपरीक्षा

(4) गुर्जर प्रतिहार अभिलेख

(5) क्षेमेन्द्र, कथासरित्सागर

(6) मेधातिथि मनु पर 10, 6

(7) मनुस्मृति 10, 64

(8) मेधातिथि मनु पर 10, 64

(9) हिस्ट्री आफ राष्ट्रकूटाज पृ0 328

(10) अलबरूनी, सचाउ पृ0 149

(11) मानसोल्लास, सोमेश्वर भाग 1 पृ0 44

(12) अलबरूनी सचाउ भाग 2 पृ0 162

(13) तत्रैव, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0 152

(14) अलबरूनी सचाउ भाग 2 पृ0, राजतरंगिणी 4 पृ0 96

(15) राजतरंगिणी 4 पृ0 103-4

(16) कुल्लूकभट्ट

(17) स्मिथ, स्ट्रगल फार एम्पायार पृ0 477

(18) राजतरंगिणी 7 पृ0 1617-18

(19) राजतरंगिणी 6 पृ0 1000

(20) अलबरूनी, सचाउ II 102

(21) भारूचि मनुस्मृति पर (500-600ई0)

(22) विष्णु पुराण 6.1 36

(23) विष्णु पुराण, अनुवाद विलसन पृ0 489

(24) स्कन्द पुराण 3.2. 39, 291

(25) क्षेमेन्द्र, दशावतारचरित 1.29

(26) रामशरण शर्मा प्राब्लम्स ऑफ ट्राजिशन फ्राम एशियंट टू मेडिएवल इन इंडियन हिस्ट्री

(27) एरिक आर0बुल्फ, पीजैन्टस एण्ड पीजैण्ट सोसाइटीस, संपा0 थिआडोर शैनिन पृ0 268

(28) मनुस्मृति 3 112

(29) बौधायन धर्मसूत्र 2 4

(30) मेधातिथि मनु पर 10 95

(31) अलबरूनी सचाउ 2 पृ0 136

(32) मेधातिथि मनु पर

(33) कुल्लूकभट्ट मनु पर

(34) बी0 एन0एस0 यादव पृ0 14

(35) ह्वेनसांग, वाटर्स भाग I पृ0 168

(36) इब्न खुर्दादबा पृ0 12

(37) लक्ष्मीधर, गृहस्थखण्ड पृ0 421

(38) मेधातिथि मनु पर 10 238

(39) मेधातिथि मनु पर 3 62, 121, 156, 10 127

(40) विश्वरूप याज्ञवल्क्य पर 1 13

(41) मेधातिथि मनु पर 6 97

(42) मेधातिथि मनु पर 1 13

(43) कुल्लूकभट्ट मनु पर 1 13

(44) अपरार्क

(45) विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा 3.30)

(46) नारदस्मृति 5 38

(47) जे0डी0 एम0 डेरेट सं0 भारूचिस कमैटरी ऑनद मनुस्मृति 10 भूमिका

(48A) जे0 डी0 एम डेरेट तत्रैव 1 2 मनुस्मृति 8 414-418

(48) तत्रैव मनुस्मृति 8 66

(49) मनुस्मृति 8 66

(49A) मेधातिथि मनुस्मृति 8 416

(50) मनुस्मृति 8 414

(51) भारूचि की टीका 8 414

(52) मनुस्मृति 8 414 पर मेधातिथि

(53) मनुस्मृति 8 90

(54) मनुस्मृति 5 60 पर मेधातिथि

(55) मनुस्मृति 8 215 पर मेधातिथि

(56) मेधातिथि मनु 8 415 पर

(57) नारद स्मृति 5-27 रामशरण शर्मा यूजुअरी इन अर्ली मेडिवल इण्डिया (400-1200 ई0) कम्परेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एड हिस्ट्री 7 अंक 1 68

(58) भारूचि मनुस्मृति पर 8 175-76 176-77

(59) मेधातिथि मनु पर 8 177

(60) दासता एंव ऋणदासता में अतर के लिए आर0 डब्लू विंग्स स्लेवरी· एंड कम्परेटिव प्रासपैक्टस पृ0 51-57

(61) मनुस्मृति पर 8 46

(62) मेधातिथि मनु पर 8 4 15

(63) लेखपद्धति पृ0 47, बडौदा, 1925

(64) महाभारत 12.60-25

(65) सम एस्पेक्टस आफ द चैंजिग आर्डर इन इण्डिया डयूरिंग शक कुषाण एज कुषाण स्टडीज पृ0 75

(66) मनु 2, 141, शंखस्मृति 3/2, विष्णुधर्म सूत्र 29 2

(67) मेधातिथि मनु पर 2/112

(68) मिताक्षरा यज्ञवल्क्य पर 2/235

(69) मनु 10/16, याज्ञ0 3/42

(70) मनुस्मृति 4/7

(71) महाभारत, शांतिपर्व 243 2.4

(72) कल्लूकभट्ट मनु पर 4/7

(73) मेधातिथि मनु पर 4/7

(74) गोविन्द राज मनु पर 4/7

(75) मिताक्षरा, याज्ञ0 पर 1/128

(76) मनुस्मृति 3/5

(77) मेधातिथि मनु पर 3/5

(78) कुल्लूकभट्ट मनु पर 3/5

(79) मेधातिथि मनु पर 3/5

(80) कात्यायन, याज्ञ पर 2 135-6

(81) वृहस्पति 15.35

(82) नारद 13 50

(83) अलबरूनी सचाउ ग्यारवहीं सदी का भारत पृ0 155

(84) दायभाग 11-24

(85) मिताक्षरा 2 135

(86) कुल्लूकभट्ट 10 192

(87) दायभाग खण्ड 13

(88) मिताक्षरा 2 136

(89) मनुस्मृति 9 187

(90) कुल्लूकभट्ट 10.192

(91) स्कन्दपुराण 4.71.44

(92) मेधातिथि मनु पर 5/157

(93) विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा याज्ञ0 पर 1 86

(94) दायभाग पृ0 46-56

(95) मेधातिथि मनु पर 8 416

(96) मेधातिथि मनु पर 2.25

(97) अवदानकल्पलता, प्रस्तावना पृ0 16

(98) इण्डियन एण्टिक्वैरी 15 पृ0 105 जे0ए0एस0बी0 33 पृ0 321 भण्डारकर की तालिका नं0 40

(99) इण्डियन एण्टीवैरी 15 पृ0 16

(100) खजुराहों में स्थित चित्रगुप्त, लक्ष्मण द0 पू0 किनारे के मन्दिर

(101) इण्डियन एण्टिक्वैरी 15 पृ0 16

(102) सच्यिामाता मन्दिर, ओसिया स्थित, पी० आई० एच० सी० पृष्ठ 51-52 (1952)

(103) पटना सग्रहालय न० 9591

(104) गौतम धर्मसूत्र 2 4-5

(105) मनुस्मृति 2 172

(106) वसिष्ठ धर्मसूत्र 2 6

(107) विष्णु पुराण 28 40

(108) मेधातिथि मनु पर 2 172

(109) बील, भाग 1 पृ० 232

(110) इपि० इडि० 1 140

(111) तत्रैव 12 पृ० 211

(112) इपि० कार्न 2 पृ० 136

(113) महापथ अर्थात तीर्थों की सहायता से दूसरी दुनिया मे पहुंच सकते हैं।

(114) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ० 216

(115) अलबरूनी सचाउ 2 पृ० 146-147

(116) मनुस्मृति 7.1

(117) मेधातिथि मुन पर 7 1

(118) मेधातिथि मनु पर 7 1

(119) मनुस्मृति 7.1

(120) कुल्लूकभट्ट पर 7.1

(121) मेधातिथि मनु पर 7 89

(122) मेधातिथि मनु पर 5 94

(123) मनुस्मृति 7 13

(124) मेधातिथि मनु पर 7.13

(125) मेधातिथि मनु पर 8.399

(126) मनुस्मृति 7.124

(127) मेधातिथि मनु पर 7.124

(128) मेधातिथि मनु पर 9 294

(129) मेधातिथि मनु पर 9 295

(130) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9 295

(131) मेधातिथि मनु पर 9 295

(132) मेधातिथि मनु पर8 39

(133) मेधातिथि मनु पर 8 400

(134) कौटिल्य 10 6

(135) मनुस्मृति 7.90–93

(136) मनुस्मृति 7 32

(137) मेधातिथि मनु पर 7 32

(138) नारद स्मृति में उद्धत ध्वजाहत की परिभाषा

(139) मेधातिथि मनु पर 8 4–15

(140) मेधातिथि मनु पर 8.1

(141) मनुस्मृति 8.145

(142) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8 140–142

(143) मनुस्मृति 8 70.77

(144) मेधातिथि, मनु पर

(145) मनुस्मृति 9 233

(146) मेधातिथि मनु पर 9 233

(147) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9.233

(148) मनुस्मृति 8.318

(149) वसिष्ठ 19–45

(150) मेधातिथि मनु पर 8.318

(151) मनुस्मृति 9.290

(152) मेधातिथि मनु पर 9.290

(153) कल्लूक भट्ट मनु पर 9.290

(154) विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा

(155) जीमूतवाहन, दायभाग

(156) मेधातिथि मनु पर

(157) मेधातिथि मनु पर 9 112

(158) मनुस्मृति 9 168

(159) मेधातिथि मुन पर 9 168

(160) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9 168

(161) मेधातिथि मनु पर 5 127-129

(162) क्षेमेन्द्र दरपदलाना

(163) कुमारपाल प्रतिबोध

(164) अपराजित पृच्छा

(165) श्री हर्ष

(166) मानसरा प्रशस्ति पी0के0 आचार्य संस्करण, 284, 29-6

(167) मेधातिथि मनु पर 8.39

(168) मेधातिथि मनु पर 8.39

(169) लल्लन जी गोपाल, इकोनामिक लाइफ इन नार्दन इंडिया पृ0 8-10

(170) मेधातिथि मनु पर 3 526

(171) मेधातिथि मनु पर 8 211

(172) ओ0पी0 श्रीवास्तव, शुल्का इन. ... मेधातिथि 8 406

(173) मनुस्मृति पर मेधातिथि 8.406

(174) मनुस्मृति 8.157

(175) मेधातिथि मनु पर 8.157

सहायक ग्रंथों की संक्षिप्त सूची

मूल ग्रंथ

अंगुत्तर निकाय	·	अनुवाद फाउसबॉल, लन्दन 1962
अग्नि पुराण	.	सपादक, राजेन्द्रलाल मित्र, बिब्लियोथिका इण्डिका कलकत्ता 1873-79, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना 1900
अर्थववेद	·	संपादक एंव अनुवाद डब्ल्यू0 डी0 हिवटने, दिल्ली, 1971
अपरार्क	:	याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना, 1903-04
अमरकोष	:	अमर सिंह, क्षीरस्वामी की टीका सहित ओरिएण्टल बुक ऐजेन्सी पूना, माहेश्वरी व्याख्या भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना 1907
अमरकोषोद्घाटन,		
क्षीर स्वामी	:	अमरकोष पर टीका, संपादक टी0 गणपति शास्त्री, संस्कृत सीरीज न0 भाग 2 त्रिवेन्द्रम
आचारांगसूत्र	.	अनुवाद, जैकोबी, 22 आक्सफोर्ड, 1984
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र	.	सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, मैसूर गर्वनमेंट संस्कृत लाइब्रेरी सीरीज
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	:	हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
आश्वलायन गृह्यसूत्र	:	नारायण की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1894
आश्वलायन श्रौतसूत्र	:	बिब्लियोथिका इण्डिया 1879
आर्यसूर्य	:	जातकमाला, संपादक एच0केर्न, दिल्ली 1972
आर्यमंजूमूलकल्प	:	सं0टी0 गणपति शास्त्री, गर्वनमेंट प्रेस त्रिवेन्द्रम 1920

अब्दुल रहमान		सदेशरासक, स0एच0 भायनी, बम्बई 1945
उपनिषद		उपनिषद निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गीताप्रेस, गोरखपुर वृहदारण्यक उपनिषद, छान्दोग्य उपनिषद, ईशावास्थ उपनिषद, ऐतरेय उपनिषद, केन उपनिषद, कठ उपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद तैत्तिरीय उपनिषद्।
ऐतरेय आरण्यक	:	संपादक कीथ, आक्सफोर्ड 1909
ऐतरेय ब्राह्मण	:	षडगुरूशिष्यकृत्त सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावण-कोर विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम
ऋग्वेद	.	सायणभाष्य सहित, सम्पादक एफ0 मैक्समूलर 1890-92; 5 भाग वैदिक संशोधन मण्डल, पूना 1933-51
कमलासिला	:	तत्वसंग्रह, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, 1939
कुमारिल	.	तन्त्रवार्तिक, बनारस संसकरण
कल्हण	:	राजतरंगिणी, एम0ए0 स्टीन, दो भाग 1900 वाराणसी 1961; आर0एस0पंडित 1935
काठक गृहसूत्र	:	संपादक, डा0 कलन्द, 1925
कथाकोष	.	अनुवाद, तावने, लंदन 1895
कात्यायनस्मृति	.	संपादक नारायण चन्द्र बंद्योपध्याय, कलकत्ता, 1917
कामंदक नीतिसार	:	संपादक आर0 मित्र, बिबिलयोथिका इण्डिका, 1884
कालिदास	:	कुमारसभव; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1927 अभिज्ञानशांकुतलम्, संपादक एस के वेलवलर नई दिल्ली। 1965
कुल्लूकभट्ट	:	मनवर्थमुक्तावली, मनु की टीका, संपादक, गोपालशास्त्री नेने, वाराणसी 1970
कूर्म पुराण	:	संपादक, नीलमणि मुखोपाध्याय, बिब्यिोथिका इण्डिका कलकल्ला, 1890 कौटिल्यकृत

अर्थशास्त्र : सपादक एव अनुवाद आर0पी0 कागले, बम्बई 1962 (द्वितीय सस्करण)

कृष्णमित्र : प्रबोध चन्द्रोदय, स0के0एस0 शास्त्री, गर्वनमेट पब्लिकेशन, त्रिवेन्द्रम 1936

खादिर गृहयसूत्र . मैसूर गवर्नमेण्ट ओरिएटल लाइब्रेरी सीरीज रवर्त्तगच्छ वृहद

खत्तरगच्छ गौरवावलि: सपादक जिनविजय मुनि, बम्बई 1956

गरूड़ पुराण : खेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई 1906

गोभिल गृहयसूत्र . बिब्लियोंथिका इण्डिका सीरिज।

गौतमधर्म सूत्र : हरदत्तटीका सहित, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज 1910

गौतम स्मृति : सेक्रैड बुक आफ द ईस्ट, आक्सफोर्ड 1897

गुणभद्र : उत्तरपुराण, सपादक पी0एल0 जैन, वाराणसी 1968

चन्दबरदाई : पृथ्वी राज रासो, संपादक, श्यामसुन्दर दास, वाराणसी 1904

चन्द्रशेखर . विवादरत्नाकर; संपादक एम0के0 स्मृतितीर्थ, एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल, 1931

: गृहस्थ रत्नाकर, कलकत्ता 1928

जैन पुस्तक प्रशास्ति
संग्रह : एस0जे0 जी0 न0 18, बम्बई 1943

जयदेव : गीतगोविन्द, एन0एस0पी0 1929

जातक . संपादक, फाउल्सबोल, 1877-97; कैम्ब्रिज, अनुवाद 1895-1913 हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन

जिनसेन : आदिपुराण, दो भाग, काशी, 1965

जयदित्य एंव वामन : काशिका, पाणिनी पर भाष्य, संपादक; ए0 शर्मा, हैदराबाद, 1969

जयानक		पृथ्वीविजय, सं0जी0एच0 ओझा एंव सी0 गुलेरी वैदिक मन्त्रालय, अजमेर 1941
जिनेश्वर सूरी		कथाकोष ˉप्रकरण, बम्बई 1949
जिनहरसगानी	.	वस्तुपालचरित्र, जामनगर, भास्करोदय प्रेस
जिन-प्रभासूरि		विविध तीर्थ कल्प, शांति निकेतन, 1934
जीमूत वाहन		दायभाग, 2 वा संस्करण, सिद्धेश्वर प्रेस कलकत्ता 1893
जयसिंह सूरी	.	हम्मीरमद मर्दन, गायकवाड, ओरिएण्टल सीरीज नं0 10
तैत्तिरीय आरण्यक	:	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज 1926
तैत्तिरीय ब्राहमण	:	शाम शास्त्री, मैसूर, 1921
तैत्तिरीय संहिता	:	श्रीपाद शर्मा, औधनगर, 1945, कलकत्ता 1854
तबकात-ए- नासिर	:	भाग I, अनु0 रावर्टी, 1881
तारीख-ए-फरिश्ता	:	फरिश्ता, अंग्रेजी अनुवाद जी ब्रीस
दण्डिन	:	दशकुमारचरित, सं0 एम0 आर0 काले0, ओ0पी0सी0बी0 1917
दामोदर गुप्त	:	कुट्टनीमतम, वाराणसी, 1961 अनुवाद ई0 पावयास मैर्थर्स, लंदन 1927
देवण्णभट्ट	:	स्मृतिचन्द्रिका, संपादक, एल0 श्रीनिवासचार्य, मैसूर, 1914-21
देवलस्मृति	:	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।
देवी भागवत	:	बिब्लियोथिका इण्डिका, 1903
दीघ निकाय	:	संपादक, रीज डेविड्स और ई0 कार्पेन्टर, लदन 1890-1911; हिन्दी अनुवाद राहुल सांकृत्यायान सारनाथ वाराणसी, 1936
दीपवंश	:	संपादक, ओल्डेनवर्ग, लन्दन, 1879
देवी पुराण	:	संपादक पी0 के0 शर्मा, नई दिल्ली, 1976
धोयी	:	पवनदूत, संस्कृत साहित्य परिषद ग्रंथमाला नं0

धम्मपद सपादक, राहुल साकृत्यायन, रगून 1937

धनपाल तिलकमजरी, बम्बई 1951

भविष्यतकथा,सं0 सी0डी0 दलाल और पी0डी0 गुने बडौदा 1923

धनंजय . दशरूपक, धनिक की टीका सहित, स0 गोविन्द त्रिगुयात, साहित्य निकेतन-कानपुर, 1954

नवसहसाकचरित : सपादक, वामन शास्त्री, बम्बई, 1895

नारद स्मृति : संपादक जॉली, कलकत्ता, 1885

निदान कथा : संपादक, भागवत, एन0के0, बम्बई 1935

नैषधचरित : बम्बई 1907

नारायण : हितोपदेश, सपादक एम0आर0 काले, दिल्ली, 1976

पंतजलि : महाभाष्य, सपादक एफ0 कीलहार्न, बम्बई

पद्म पुराण : संपादक, बी0एन0 माडंलिक, 4 भाग, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, पूना, 1893-94

पराशर स्मृति . बम्बई 1911

पाणिनी : अष्टाध्यायी, निर्णय सागर, प्रेस 1929

सपादक एंव अनुवाद, एस0 सी0 बसु दिल्ली 1977

पद्मगुप्त : नवसहसांकचरित, बम्बई संस्कृत सीरीज नं0 L III 1895

पारस्कर गृह्यसूत्र : गुजराती प्रेस संस्करण, 1917

पुरातन प्रबंध संग्रह : संपादक, जिन विजय मुनि, कलकत्ता, 1926

पृथ्वीराज रासो : नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला सीरीज

प्रतापरूद्र : सरस्वती विलास, मैसूर, 1927

बाणभट्ट : हर्षचरित, अनुवाद, कावेल और टामस 1897

. कादम्बरी, संपादक, रामचन्द्र काले, 1948

बिल्हण : विक्रमांकदेव चरित, बम्बई, 1875

बृहस्पति स्मृति बड़ौदा, 1941 संपादक के0वी0 आर0 आयगर

ब्रह्म पुराण गायकवाड, औरिएण्टल सीरीज बड़ौदा, 1941

ब्रह्मसूत्र सं0 महादेवशास्त्री एन0एस0पी0

ब्राह्मण्ड पुराण कलकत्ता स0 2009

ब्रह्वैवर्त पुराण · वी0पी0 सस्करण

बौधायन धर्म सूत्र . आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज।

बृहस्पति स्मृति : गायकवाड ओरिएण्टल सीरिज, 1941

बृहन्नारदीय पुराण संपादक एच0 शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज 230

आधुनिक सहायक ग्रंथ

Inscriptions

Bhandarkar D.R		List of Inscriptions of Northern India, App. to EI XIX-XXIII
Fleet J.F.		C I.I. VOl III
Maity S.K. and		
Mukherji R.R.	:	Corpus of Bengal Insciption, Calcutta, 1967
Mirashi V.V.	:	C.I I. VOL IV Otacamund 1955
	:	C.I.I Vol V Ootacamund 1963
	:	C.I.I. Vol VI New Delhi, 1977
Peterson P	:	A collection of Prakrita and Sanskrit Inscriptions, Bhavnagar Archaeological Department Bhavanagar, 1905
Sircor D.C.	:	India Epigraphy, varanasi 1965
	:	Indian Epigraphical Glossary Delhi 1966.
	:	Selected inscriptions Bearing on India History and Civilization 2 vol calcutta 1965 and New Delhi 1983

Secondary Sources

Agrawal V.S.	:	Harshcharita ka Eka Samskritika ka Adhyayana Patna 1953 Kadambari Kha sanskritika Adhyayana Varanasi
Aiyangar K.V.R.	:	Aspects of Ancient Indian Economic thought Varanasi, 1965 (IIed)
	:	Introduction to Vyavaharakhand of Krtya Kalpataru, Baroda, 1958
	:	Aspect of the social and Political system of Manusmriti, Lucknow, 1949
		Some aspects of the Hindu view of life According to the Dharmashastra, Baroda, 1932.

Altekar A.S. · The Position of Women in Hindu Civilization, Varansı, 1956

: Education in Ancient India Varanası 1934 and 1948

The Rahtrakutas and their times Poona, 1967 (II ed)

· States and Government in Ancient India Varansi 1949 Delhi 1958

Ambedkar B.R. : Who were the Shudras ? Bombay 1946

The Untouchables, New Delhi 1948

Bagchi P.C. : Studies in the tantras, Calcutta 1934

: India and China, Calcutta, 1944

Beal, S : The life of Hiven Tsiang by Shaman Hwi-Li Delhi, 1973

Briggs : Tarikht-i-Firishat of Muhammad Qasim Firishta 4 vols London 1827, 29

Beni Prasad : States in Ancient India, Allahabad

Bhattacharya B : The India Buddhist Iconography 2nd Ed. Calcutta 1958

Bhattacharya H.D. (Ed): The Cultural Heritage of India Vol III Calcutta 1953 Vol IV 1956

Bhandarkar R.G. : Saivism. Vaisnavism and Minor Religious systems, Poona, 1929

Bandyopadyaya NC: Economic life and progress in Ancient India, Allahabad (1980)

Basham A.L. : The wonder that was India, London 1951

Cultural History of India, 1975

Barnett L.D. : Antiquities of India, London, 1913

Biertedt R : The Social Order New York 1957

Bloch, Marc : Feudal Society translated form the French by L.A. Maryon in two Vol. London 1965

Blunt, E.A.H. : Caste System of Northern India Indian Reprint S.Chand & Co, Delhi 1969

Blunt, E.A.H. : Social Service in India, 1946

Bose A.N. : Social and Rural Econom y of Nothern India 2 Vol s, Calcutta 1945

Boss N.S. : History of the Chandells of Jejakabhukti, Calcutta 1956

Brown P : Indian Architecture, Bombay

Buch M.A : Economic life in Ancient India Allahabad, 1979 (Rep.)

Buddha Prakash : Studies in India History and Civilization Agra 1962

: Aspect of Indian History and civilization Agra 1965

Buhler G : The Life of Hemchandra, S.J. G. X 1936

Butts R.F. : A cultural History of Education, New York and London 1947

Bose P : The Hindu Colony of Combodia, Adyar 1927

: The Indian Colony of Champa, Adyar 1926

Buhler : The life of Henchandra; S J.G. X 1936

Butts, R.F. : A Clutural History of Education, New York and London, 1947.

Bose P : The Hindu Colony of Champa, Adyar, 1926

Chakraborty. H. P. : Trade and Commerce of Ancient India (C. 200 B.C. A.D.) Calcutta, 1967

Chakravarti N.P. : India and Central Asia, Calcutta 1927

Chattopadhyaya B : Essay in Ancient Indian Ecnomic History N. Delhi 1987

Chaudhary G.C. : Political History of Northern India from Jain sources (650-1300 A.D.) Amritsar, 1963.

Coul born Rushton : Feudalism in History, Princeton University Press, H 56

Crooke W` : Tribes and castes of North Western Provinces and Audh VOL II Calcutta 1896.

Elliot, HM and Dowson J: History of India as Told by its Historiars, Vol I & II Allahabad, 1969

Dange S.A. : Economic Histrory of Ancient India Calcutta, 1925

Das S K. · Education System of the Ancient Hindus Calcutta 1930

Dube S C. : Indian Village, 1950

· Manava Aur Sanskrit, Delhi, 1960

Das S.C Indian Pandits in the land of snow 1893

Dubois A . Hindu Manner and Customs

Dutta R.C. . Later Hindu Civilization A.D 500-1200 4 Calcutta 1965

Dutta B.N. : Studies in Indian Social Polity Calcutta, 1925

: Hindu Law of inheritence, Calcutta 1957

Dutta, N.K. : Origin and Growth of caste in India, Calcutta 1965, II Vol.

Derrett, J.D.M. : Religion , law and state in Ancient India, London, 1968

Eliot C : Hinduism and Budhism, 3 vols, London 1921

Engels F. : The Origin of the family, Private Property and the state, Moscow 1952

Farquhar J.N. : Outline of Religious Leterature of India, Oxford University Press 1920,.

Fick R : Social Organization in North East India in Buddha's Time, Calcutta 1920

Fleet J.F. : Gupta Insciptions (or Corpus Inscriptions Indicarum)

Forbes, A.K. : Rasamala, New Delhi, 1973

Foreign Accounts : Beal, S. and S. Hwvi-Li: The life of Hiven Tsiaag Vol I London, 1911

Gango Padhyaya R ; Agriculture and Agriculturists in Ancient India, 1932

Giles, H.A : The travels of Fa-hsien or Record of Budhistic kingdom, cambridge 1923

Gibb, H.A.R. : Travels of Ibna-Batuta, London, 1921

Ganguli D.C. : Contributions to the history of the Hindu Revenue stystem, Calcutta. 1929

: History of Paramars Dyanastry Dacca 1933

Ghoshal U.N. : A History of Indian Political ideas, oxford, 1959

		Studies in India Hystory and culture, Calcutta, 1917
	:	A History of Indian Public Life, Bombay, 1966
		The Agrarian System in Ancient India, Calcutta, 1930
	.	Contribution to the History of Hindu Revenue System, Calcutta, 1972 (IIed)
	.	Beginning of Indian Historiography and other Essays Calcutta 1944
Gopal L	:	Economic Life of Northern India Varanasi 1965
	:	History of Agriculture in Ancient India , Varansi, 1980
	:	The Sukraniti, Text of Nineteenth Century, Varanasi, 1978
Ghurye, G.S.	:	Caste and class in India, New York 1950 IIed Bombay 1957
	:	Social Tension in India, Bombay 1968
	:	Vedic India, Bombay 1979
	:	Caste, Class and Occupation Bombay, 1961
Habib Irfan	:	Agrarian System of Mughal India Asia Publishing House, 1963
Habibullah A.B.M.	:	The Foundation of Muslim Rule in India, A History of the establishment and progess of Turkish sultanate of Delhi. 1206-1290 A.D., Allahabad, 1976 (III ed.)
Hazara R.C.	:	Studies in the puranic Records on Hindu Rities and customs Delhi, 1975, IIed
Hirth, F and Rockhill W.W.	:	Chau-Ju- Kua, St Petersburg, 1911
Hodival, S.H.,	:	Studies in Indo Muslim History, Bombay 1939 supplement Vol II Bombay 1957
Hopkins E.W.	:	The Religions of India, N. Delhi, 1972

Hourani G.F. : Arab Seafaring in the Indian Ocean in Ancient and Early Medieval Times Princeton Univ 1951

Hus, F.L.K. : Clan, Caste and Club Princeton New Jersey, New York 1963

Hutton : Caste in India Cambridge University Press 1946

Ishwari Prasad : History of Medieval India , Allahabad 1925

Jaishaker Mishra : Prachin Bharat ka Itihas

Jauhari Manorama : Politics and Ethics in Ancient India Varanasi, 1968

Jaiswal K.P. : Hindu Polity, Calcutta, 1928

Jain V.K. : Trade and traders in western India, New Delhi 1990

Jha D.N. : Revenue system in Post Maurya and Gupta times, Calcutta, 1967

: Feudal Social Formation in Early India, Delhi 1987

Jha, G.N. : (Tr) Laws of Manu with Bhasya of Medhatithi, Allahabad.

John S. Deyell : Living without Silver, Delhi oxford Univ Press) 1990

Jolly J : Hindu Laws and customs, calcutta , 1928

: outline of an History of Hindu law of Partition, Inheritance and adoption, Calcutta, 1885

J.Burgess and H. Cousens : The Architectural Antiquities of Northern Gujrat Varanasi 1975 of Northern Gujrat

Kangle R.P. : The Kautilya Arthshastra, Part III A study, Bombay 1965

Keith A.B. : A History of Sanskrit literature, Oxford 1953

: The Sanskrit Drama, Oxford 1954

Kapadia K,M : Marriage; and family in India Oxford, 1958

Kane, P.V. : History of Dharmastra, 5 Vols, Bhandarkar Oriental Research Institute Poona, 1930-53

Karve Irawati : Hindu Society An Interpretation poona, 1968

KetKar, S.V. History of caste in India, New York 1909, 1979.

Koshambi D D. . Introduction to the study of Indian History, Bombay

Indian Feudal Trade Charter's JESHO, VOL II PP 281-93

Legge, J.H : The travel of Fa-hien, Delhi, 1972

Maclver, R.M. and page C.H : Society, London 1962

Mehesa Prasad : Suleman Saudagara, Kashi Nagari Prachreni Sabha V.S. 1978

Mocdonell A.A. and Keith A.B. : Vedic Index (Hindi) Vol II, Varanasi, 1962

Maity S.K. : Economic Life of Northern India in the Gupta Period Varansi, 1970 (Revised ed)

Majumdar A.K. : Chaulukyas of Gujrat, Bombay 1956

Majumdar B.K. : The Military system in Ancient India calcutta 1960

Majumdar, B.P. : Socio- Economic History of Northern India, Calcutta 1960

Majumdar D.N. : Races and Cultures of India, Bombay 1958

Majumdar N.M. : A History of education in Ancient India, Calcutta 1916.

Majumdar R.C. : Corporate Life in Ancient India Calcutta, 1922; 1969 (III ed)

: (ed) The Clasic Age

: Age of Imperial Kanauj

: Struggle for the Empire

: The History and culture of the Indian People vol I to VI, Bomboy

Majumdar R.C. and Das Gupta K.K. : A Comprehensive History of India, Vol. 3 2 pts N. Delhi 1982

Mex Weber : The Religion of India

		The Theory of Social and Economic Organization, New York, 1967
HC Crindle	.	Ancient India as described by Megasthenes
		Invansion of India by Alexander the Great as described by Arrian, Westminister, 1893
Mirashi V.V	:	Inscriptions of the Kalachurichedi Era, 1955
		Kalachuri Naresa aura Unake Sans kala, Bhopal; V.S. 2002
Mookerji, R.K.	:	Ancient Indian Education, London 1951
	:	A History of Indian shipping and Meritime Activity, London 1912
	:	Hindu Civilization, Bombay, 1977
Munshi K.M.	:	The Glory that was Gurja desa, Bombay, 1951
Mudholkar, V.	:	Socio-Economic Study of the Early Jain Katha literature(A.D. 700-1000) Allahabad, 1995
Negi, J.S.	:	Some Indological studuies Vol I All 1930
Nath, Pran	:	A study in the Economic Condition of Ancient India, London, 1924
Naranga S.P.	:	Dvayasraya; A Literary and Cultural study, New Delhi, 1972
Niyogi P	:	The Economic History of Northern India Calcutta 1962
	:	A contribution to the Economic History of northern India. From the ninth to the Twelfth century A.D. Calcutta, 1962
Niyogi Roma	:	History of the Gahadvala Dyanasty Calcutta 1959
Nizami, K.A.	:	Some Aspects of Religion & Politic in India, During 13 the century Asia Pulishing House, 1961
Nizami, M	:	The Life and times of Sultan Mahomud of Ghazna, Combridge, 1931
Ojha G.H.	:	Rajputana ka Itihasa, Vol I Ajmer 1937
	:	Maddhykalin Bhartiya Sanskriti, Allhahabad 1945

Pandey A.B.	·	Purva-Madhyakalina Bharat ka Itihas , Kanpur 1954, Central Book Depot Allahabad.
Pandey G.C.		The Meaning and processs of Culture, Agra, 1972
Pannikar, K.M.		A Survey of Indian History, Bombay 1947
	:	Hindu Society at cross road, Bombay 1956
		India and the Indian occean London 1951
Parson, Telcott		The Structure of social Action , New York 1933
Patil, D.R.	:	Cultural History from the Vayu Purana Poona 1946
Pathak, V.S.	:	History of Shaiva Cults in Northern India Varanasi 1960
Prabhu P.H.	:	Hindu Social Organization Bombay 1958
Parkash Om	:	Early Indian Land Grants and state Economy, Allhahabad, 1988
	:	Conceptualization and History in Early Indian socio Economic studies, Allahabad, 1992
Parasad Beni	:	State in Ancient India, Allahabad 1923
Puri, B.N.	:	History of Gurjara-Pratiharas, Bombay, 1957
Raffles, T.S.	·	The History of Java, condon 1830
Rapson, E.J.	:	Ancient Indian, Cambridge, 1916
RadhaKishnan, S	:	Indian Philoshophy, 2 vols 1923-1960
Rai G.K.		Involuntary Labour in Ancient India, Allahabad 1981
		Forced Labour in Ancient and Early Medieval India,. IHR, VOL III, No.1 Page No 16-42
Ray H.C.	:	Dyanastic History of Northern India (in two volumes) New Delhi, 1973
Ray P.	:	History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Calcutta 1956
Ray S.C.	:	Early History and Culture of Kashmir, New Delhi, 1976
Raichaudhari H.C.	:	Political History of Ancient India 1963

		Early History of the vaisnava Sect, 2nded, calcutta 1905
Rawlinson H G	.	Intercourse between Indian and the western world, cambrıdge, 1969
Roy U.N.		Gupta Samrata aour Unka kala (Hindi) Allahabad 1976
		Prachin Bharat Men Nagar Tatha Jıvan Allahabad 1965
Renaudot E	·	Ancıent Accounts of India and Chına by two Maohammedan Travellars London, 1733
Risley H.H.	:	The People of India, London 1915
Rhys Davids	:	Buddhist India London 1903
	:	The Dialogues of Buddha
Sachau, E.C.	:	Alberuni's India (Two vol in one) New Delhi, 1964
Schoff	:	Peripuls of the Erythrean Sea New Delhi 1914
Salatore R.N.	:	Life in the Gupta Age, Bombay, 1943
Sankalia H.D.	:	Archaeology of Gujrat, Bombay 1941
Sammaddar J.N.	:	Economic Condition of Ancient India, Calcutta, 1922
Sharma R.S.	:	Indian Feudalism, Calcutta, 1965
	:	Sudras in Ancient India, Varansi 1958, second Edition 1980 Delhi
	:	Social Changes in Early Medieval India (C.A.D. 500-1200), Delhi 1969, reprint 1993.
	:	Some Economic Aspects of the caste stystem in Ancient India, Patna, 1952
	:	Bhartiya Samantavada (Hindi) Tr. By A.N. Singh, Delhi, 1973
	:	Decay of Gangetic Twons PIHC Muzaffarpur perspectives in social session 1972 P.P. Journal of Indian History , Golden Jubilee Volume, 1973 PP 135-50 and Economic History of Early India New Delhi, 1983

. Taxation and state formation in Northern Indian in pre Mauryan Times, Social Science, Probings Vol I No I New Delhi, 1987

. Urban Decay, New Delhi, 1987.

Sharma & D N. Jha : The Economic History of India Upto AD 1200; Trends and prospects, Journal of the Economic and social History of the orient XVII 1974, 48-80

Sharma R.S. And Jha V. (ed) : Indian Society Historical Probings, Delhi, 1974

Sharma, B.N. : Social and Cultural History of Northern India (1000-1900) 1932; 1970

Sharma, D : Rajasthan Through the Ages, Bikaner 1966

: Early Chauhan Dyanasties Delhi, 1975

Sharma R.N. : Brahmin Through the Ages, Delhi 1977

Sharmas Y.D. : 'Exploration of Historical Sited' Ancient India No 9 1953

Shukla D.N. : Uttar Bharata ki Rajasva Vyavashthe (1000-1200 A.D.) Allahabad 1984

Sastri K.A. Nilakanth: The Cholas, Vol II Pt I , Madras Uni Series No. 10, 1937

Singh R.B. : History of the Chahamanas Varanasi, 1961

Singh R.C.P. : Kinghip in Northern Indian, Motilal Banarasiders, 1968

Sinha G.P. : Post Gupta Polity (A.D. 500-750) Calcutta, 1973

Sircar, D.C. : Some Aspects of Earliest Social History of India, Calcutta,

: Selected Inscriptions, Calcutta, 1942

: Studies in the political and Administrative Systems in Ancient India; Delhi, 1974

Srivastava A.L. : Medieval Indian Culture, Agra, 1964

Srivastava O.P. : Slave trade in Ancient India and Early Medieval India PIHC, VOL XXXIX Page 121-136

	·	Sulka in Ancient India and Early Medieval Indian J G N Jha Vol XXXVI PP 129-160
		Rate of interest During the Early Medieval India PIHC Kurukshetra Session 1982 P.P. 115
		Village Autonomy in Northern India from Mauryan Times to the Twelfth Century A.D. Bharati (Forth coming Vol)
	:	Oppressive Features of Commercial Taxation During the Early Medieval India, Prachya Pratiha, XI Page 63-71
	:	Commericial Taxation in India (A.D. 600-1200) Allahabad, 1999.
Smith V.A.	:	Early History of India The Art of Indian and coylon oxfored 1911
Stein B	:	Peasant State and society in Medieval South India, New Delhi, 1980.
Subba Rao, N.S.	:	Economic and Political conditions in Ancient India, Mysoore 1911
Tarachand	:	Influence of Islam on Indian Culture, (2nd Ed.)Allahabad.
Thakur, Upendra	:	Some Aspects of Indian History and culture, 1974
Thaper, Romesh	:	Tribes, Castes and Religion in India 1977
Thaper Romila	:	Ancient Indian Social History, Delhi 1978
	:	The Past and prejudice, 1972
	:	The impact of Trade in India C. 100 to B.C. 300 A.D. KMISK
Thakur, V.K.	:	Historiography of Indian feudalism towards A Model of Early Medieval Indian Economy 600-1000 A.D. Patana 1989.
Thaplyal K.K.	:	Studies in Ancient Indian Seal, Lucknow, 1971
Thompson J.W.	:	An Economic and social History of Middle age New York, 1928.
Tripathi R.S.	:	History of Kanuj, Banaras, 1937

Tripathi R P.	:	Studies in Political and Soci Economic History of Early India, Allahabad, 1981
Tod, James	.	Rajasthan, Vol I Calcutta 1877
	·	Travells in western India, Asiatic society of Bengal 1839
	:	Annals and Antiquities of Rajasthan (Ed. Crooke) oxford, 1920
Upadhyaya V	:	The Socio- Religious Condition of North India (700-1200) Varanasi 1964
Udgaonkar Padma B:		The Political Institution and Administration of Northern India Durina Medieval times (From 750 to 1200) A.D. Delhi. 1969
Yadav B.N.S.	:	Society and Culture in Northern India in the twelfth century A D Allahabad 1973
	:	The Accounts of the Kali Age and the Social Trasition from Antiquity to the Middle Ages IHR Vol V PS 1-2 1978-79 PP 48-97
	:	The Problems of the Emergence of Feudal Relations in Early India, P.A. Ancient India Setion PIHC. BOMBAY 1980, PP 19-78
Yule Henry	:	The Book of Ser. Marco Polo revised by Henry Cordiar, London 1920
Yule Sir Henry	:	The book of Sir Marco Polo-Tr and by Sir Henery Yule 2 vols London 1903
	:	3 rd ed by Henry cordier 2 vol London 1920
Yusuf Ali	:	Medieval India, Social and Economical conditions, London, 1932
Vaidhy C.V.	:	History of Medieval Hindu India, Vol II Poona 1924 Vol III Poona 1926
Vidya Prakash	:	Khajuraho, Bombay 1967
Watters, T	:	On yuan Chwang's Travel in India (two vol in one); New Delhi, 1973
Wack, Joachini	:	Sociology of Religion, London 1947
Weber Max	:	The Religion of India, Tr and E.D. Hans H. Gerth and Don Martindale the Free Press Glencoe, Illino is

While, Lynn — Medieval Technology and Social Change, Oxford Univ. Press, 1964

Winternitz M — History of Indian literature 2 vol Calcutta 1927
History of Indian literature Vol III Pt I, Tra Subhadra Jha, Motilal Banarasi Das 1963

Journals, Periodicals and Reports

- Ancient India
- Annual Report of Indian Epigrapy
- Annual Report South Indian Epigraphy
- Annuals of the Bhandarkar Oriental Research Institute
- Annal Reports of the Rajasthan Museum
- Archaeological Survey of India Reports,
- Archaeological Survey of India Reports by A. Cunningham Comprative Studies in Society and History
- Epigraphia Indica
- Government Epigraphists Report 1913
- Indian Antiquary
- Indian Archeology. A Review
- Indian Historical Quarterly
- Islamic Culture, Hyderabad
- Indian Historical Review.
- Journal of the Asiatic Society of Bengal
- Journal of the Bombay Branch of Royal Asiatic Society
- Journal of the Bihar and Orissa Research society
- Journal of Ganganath Tha Kendryia Vidyapeeth
- Journal of the Royal Asiatic Society
- Journal of the Economic and social History of the Orient Leiden Germany
- Journal of the India History.
- Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland
- Journal of Numismatic society of India
- Journal of the U.P. Historical Review
- Memoirs of the Archaieological Survey of India
- Mysore Archaeological Survey Reports
- Mysore Epigraphists Report

- Prachya Pratibha
- Proceedings of Indian History, Congress
- Progress Report of the Archaeological Survey of India, Western Circle
- Rhythem of History (Journal of Rajasthan University Jaipur)
- South Indian Inscriptions
- Social Probings , New Delhi
- South Indian Teligana Incriptions.